बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य

डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य

(कृष्णवज्रपाद के विशेष सन्दर्भ में)

लेखक

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

पूर्व आचार्य, हिन्दी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

BAUDDHA KĀPĀLIKA SĀDHANĀ AURA SĀHITYA

by

Dr. Nagendra Nath Upadhyaya

ISBN : 978-81-7124-684-7

प्रथम संस्करण : 2009 ई०

मूल्य : तीन सौ रुपये (Rs. 300.00)

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-221 001

फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082

E-mail : vvp@vsnl.com • sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-221 001

प्रकाशकीय

'बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य' बौद्धकालीन तंत्र-साधना और साहित्य पर प्रामाणिक पुस्तक तो है ही, लेखक के गहन अध्ययन का मुकम्मल दस्तावेज भी है। बौद्धकालीन तांत्रिक क्रिया और साहित्य पर प्रकाश डालते हुए विद्वान लेखक ने सिद्ध किया है कि बौद्ध-सिद्ध और नाथ-सिद्ध एक ही परम्परा के कोख से अवतरित नहीं हुए हैं। ये दोनों पृथक धाराएँ थीं। अपने विचारों के तर्कपूर्ण विवेचन के लिए लेखक ने हर सम्भव उपलब्ध स्रोतों का सहारा लिया है इसलिए अध्ययनशील पाठकों के लिए बौद्ध-तंत्र साधना और साहित्य पर एक जगह ही लगभग सभी सम्बद्ध सामग्री उपलब्ध हो जाती है। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं का समन्वय-सामंजस्य इस पुस्तक में उपलब्ध कराया गया है। जगह-जगह लेखक की अपनी दृष्टि और विवेचन-विश्लेषण क्षमता भी देखने को मिलती है। लेखक का मत है कि "तांत्रिक बौद्धों के अन्तर्गत ही चर्या, आचार, साधन सामग्री, वेश-भूषा तथा विचारणा सम्बन्धी कुछ विशेषताओं से उनका वैलक्षण्य प्रतिपादित किया जा सकता है।" एक तरह से यह ग्रन्थ देशी-विदेशी विद्वानों के अनेक ग्रन्थों में दी गई आवश्यक सामग्री का समुच्चय और निचोड़ है इसलिए बौद्धकालीन साहित्य और तांत्रिक क्रियाओं के अध्येताओं के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय की इस पुस्तक का व्यापक स्वागत हुआ है। कुछ ही वर्षों में इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं। दो खण्डों और पाँच परिच्छेदों में संदर्भिक विषय का व्यापक और गहन अध्ययन-विवेचन इस ग्रन्थ की अपनी खास विशेषता है। कृष्णवज्रपाद को सन्दर्भ में रखते हुए विद्वान लेखक ने बौद्ध कापालिक की खोज की है और उसकी साधना-पद्धति से पाठकों का विस्तृत परिचय कराया है।

कुल मिलाकर यह कि यह ग्रन्थ बौद्ध काल की तांत्रिक क्रियाओं और बौद्ध साहित्य से पाठकों का सम्यक परिचय कराता है इसलिए इसका नया संस्करण प्रकाशित करने में हमें अपने प्रकाशन कर्म के प्रति संतोष और सुख दोनों का ही अनुभव हो रहा है।

— **प्रकाशक**

पुरोवाक्

तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य का अध्ययन बहुत काल तक उपेक्षित रहा है। लगभग १९१६ से इस विषय में अध्येताओं की अभिरुचि दिखाई पड़ती है। तब से अब तक स्वतन्त्र रूप से देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने तो इस विषय पर कार्य किया ही, साथ ही, विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों में भी इस विषय के विविध पक्षों पर कार्य हुआ। प्रारम्भ में मेरी रुचि नाथसंप्रदाय में थी; किन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास में बौद्धसिद्धों और नाथसिद्धों को एक ही स्रोत अथवा परम्परा का सिद्ध करने के विद्वानों के अथक प्रयासों की संगति के प्रति मैं सदैव सशंक रहा। अपने प्रथम ग्रन्थ 'तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य' में, 'नाथ और सन्त साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन' नामक शोधप्रबन्ध में तथा बाद में प्रकाशित 'गोरक्षनाथ' नामक ग्रन्थ में अपनी उपर्युक्त धारणा को प्रकाशित कर दोनों के पृथक् मूल सम्प्रदायों के अस्तित्व की अधिकाधिक सम्भावना व्यक्त की। म०म० डॉ० गोपीनाथजी कविराज के चरणों में बैठकर जो कुछ भी मूक भाव से सुनता रहा, उससे यह विश्वास दृढ़ हो गया कि तान्त्रिक संस्कृति और परम्परा, वैदिक संस्कृति और परम्परा के समान ही भारत में समकालीन रूप से अति प्राचीन है और परवर्ती साधन-सम्प्रदायों पर तत्तत् दर्शनों के अनुरूप ही इसका प्रभाव भी पड़ा। इस तथ्य को ध्यान में न रखने के कारण ही अनेक भ्रांतियों ने जन्म लिया और 'आगम' का अर्थ 'बाहर से आया हुआ' लगाना पड़ा।

सिद्ध-नाथ-सन्त साहित्य का अध्ययन करते समय आदरणीय गुरुवर डॉ० हजारीप्रसादजी द्विवेदी के 'नाथ सम्प्रदाय' का बहुत बार स्वाध्याय किया और हर बार उससे कुछ नया मिलता रहा। 'बामारग' और कान्हुपा के कापालिक सम्बन्ध के मूल के प्रति औत्सुक्य तीव्र था कि श्री स्नेलग्रोव का 'हेवज्रतन्त्र' मिल गया। फिर अनेक स्रोतों का संधान करते-करते अनेक सूत्र मिले, जिनका समन्वय-सामंजस्य इस ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत हो रहा है। बौद्धसिद्धों में कृष्णपाद की अपभ्रंश रचनाओं ने विविध रूपों में आकृष्ट किया था। फलतः 'तान्त्रिक और सिद्धाचार्य कृष्णवज्रपाद की अपभ्रंश रचनाओं का अध्ययन और संपादन' विषयक शोधप्रबन्ध पर कानपुर विश्वविद्यालय ने डी०लिट्० की उपाधि प्रदान की। उस शोधप्रबन्ध को कृष्णपाद के १३ चर्यापदों और ३२ दोहों के मूल ताड़पत्रीय हस्तलेखों के आधार पर संपादन, डॉ० बागची द्वारा प्रस्तुत संस्कृत छाया श्लोकों के संस्कार, मुनिदत्त और मेखला की संस्कृत टीकाओं के हिन्दी रूपान्तर, चर्यापदों और दोहों पर हिन्दी में भाष्य, पारिभाषिक शब्दों पर विस्तृत टिप्पणियों आदि से सम्पन्न किया गया था। इस ग्रन्थ में मूल शोधप्रबन्ध के अध्ययन खंड को नवीन सामग्री के आधार पर संशोधित-परिवर्धित कर

प्रस्तुत किया जा रहा है। तेंजुर से रचनाएँ अनूदित कर प्रस्तुत की जा रही हैं और इतर सामग्री भी बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य के स्वरूप को अधिक प्रकाशित करने के लिए समायोजित की जा रही है। सामान्यतया सुपठित समाज को भी तान्त्रिक बौद्धों की कापालिकता का परिचय नहीं है। इसीलिए सारे सुलभ सूत्रों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, फिर भी हमारा यह दावा नहीं है कि कापालिक बौद्धों का कोई अपना 'यान' रहा होगा। 'सम्प्रदाय' का सम्बन्ध गुरु-शिष्य परम्परा से है जब कि कुछ लोग इसे एक धार्मिक गठन मान लेते हैं। तान्त्रिक बौद्धों के अन्तर्गत ही चर्या, आचार, साधन सामग्री, वेश-भूषा तथा विचारणा सम्बन्धी कुछ विशेषताओं से उनका वैलक्षण्य प्रतिपादित किया जा सकता है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के समय भारतीय वाङ्मय के गम्भीर विद्वान् म०म० डॉ० गोपीनाथजी कविराज, गुरुवर आचार्य डॉ० हजारीप्रसादजी द्विवेदी, गुरुवर आचार्य पं० पद्मनारायणजी का स्मरण कर रहा हूँ जिनकी कृपा, स्नेह और निर्देशन से यह ग्रन्थ प्रस्तुत कर पा रहा है।

इस ग्रन्थ में देशी-विदेशी विद्वानों के अनेक ग्रन्थों से आवश्यक सामग्री एकत्रित की गई है। राष्ट्रीय अभिलेखालय, काठमांडू, नागरी प्रचारिणी सभा के आर्य भाषा पुस्तकालय तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गायकवाड ग्रन्थालय से भी पुस्तकीय सहायता प्राप्त हुई है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं के अध्ययन एवं सम्पादन के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की थी। सारनाथ के तिब्बती शोध संस्थान के आचार्य प्रो० रिम्पोचे, डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र तथा श्री साम तेन शास्त्री ने तेंजुर के आवश्यक अंश का अनुवाद प्रस्तुत किया है। लेखक इन सबके प्रति आभारी है जिनकी व्यवस्था एवं योग से यह ग्रन्थ इस रूप में प्रस्तुत हो पा रहा है। विद्वानों के परितोष में ग्रन्थकार का श्रम सार्थक होगा।

नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

विषय-सूची

पृष्ठ

प्रथम खण्ड

पहला परिच्छेद— **बौद्ध कापालिक : एक उपस्थापना** ३-११

(१) भूमिका ३, (२) अद्यतन कार्य ४, (३) विशेष दृष्टि ८, (४) बौद्ध कापालिक की खोज १०।

दूसरा परिच्छेद— **तांत्रिक बौद्धमत की कापालिक आचार्य-परंपरा और साहित्य** १२-३५

(१) कृष्णवज्रपाद १२, (२) जालन्धरिपाद १६, (३) समकालीनता और सिद्ध परंपरा २१, (४) साहित्य २९, (५) तिब्बती में अनूदित साहित्य ३४।

तीसरा परिच्छेद— **तांत्रिक बौद्ध मत के विकास में बौद्ध कापालिक सम्प्रदाय** ३६-७२

(१) तंत्र : शैव-शाक्त तंत्र और बौद्ध तंत्र ३६, (२) बौद्ध तंत्र का विकास ४२, (३) अनेक यान और आचारत्रय ४७, (४) बौद्ध कापालिक आम्नाय ६०।

चौथा परिच्छेद— **तांत्रिक बौद्ध दर्शन और कापालिक विचारधाराएँ** ७३-११५

(१) भूमिका : अद्वयवादी महायान दर्शन ७४, (२) तांत्रिक सिद्धाचार्यों के दार्शनिक विचार और अद्वयवाद ७८, (३) सिद्धाचार्यों का आध्यात्मिक कापालिक चिन्तन ९३, (४) कापालिक प्रमाणमीमांसा ११२।

पाँचवाँ परिच्छेद— **तांत्रिक बौद्ध साधना और बौद्ध कापालिक साधना-पद्धति** ११६-१९९

(१) साधन, समय और चर्या ११६, (२) तांत्रिक आचार और भाव ११७, (३) वज्रयान और सहजयान में भाव एवं आचार १२०, (४) प्राचीन बौद्ध साधना १२६, (५) महायान में साधना और तांत्रिकता १३०, (६) बौद्ध तांत्रिक साधना और कापालिक साधना १३८—(क) गुरुशिष्य और अधिकार-भेद १३९, (ख) अधिकार-भेदवाद १४४, (ग) देवता १४९, (घ) योग १५४, (७) बौद्ध

कापालिक साधना १५४, (८) बौद्ध कापालिक साधन के प्रमुख तत्त्व, १७२, (९) अपभ्रंश रचनाओं में साधना का स्वरूप और कापालिक तत्त्व १८१, (१०) रहस्यवाद १९३।

द्वितीय खण्ड

१. कृष्णवज्रपाद के कापालिक तत्त्वसम्पन्न चर्यापदों की व्याख्या २०३-२१६
२. बुद्धकपाल साधननाम—सरहपादरचित (तिब्बती से अनूदित) २१७-२२२
३. भगवती बुद्धकपालस्य साधनम् २२३-२२४
४. साधनमाला के देव-देवी मंडल एवं साधन में प्राप्त कापालिक तत्त्व २२५-२२७
५. हेवज्रतंत्र के कापालिक तत्त्वों से सम्बन्धित अंश २२८-२३५
६. योगरत्नमाला के महत्त्वपूर्ण अंश और उन पर टिप्पणियाँ २३६-२३९
७. आश्चर्यचर्याचय की टीका में प्राप्त कापालिक सन्दर्भ २४०-२४१
८. कापालिक लक्षणों से सम्पन्न कुछ तांत्रिक बौद्ध देवी-देवता २४२-२४७

उपसंहार २४८-२४९

संदर्भ-साहित्य २५०-२५४

अनुक्रमणिका २५५-२७९

संकेताक्षरों का विवरण

आ० मा० बु०	:	आउट लाइंस ऑव महायान बुद्धिज्म, *डी०टी० सुजुकि*।
आ० रे० क०	:	आव्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स, *डॉ० शशिभूषण दास गुप्त*।
इंट्रो०	:	इंट्रोडक्शन।
इं० तं० शा०	:	ऐन इंट्रोडक्शन टु तन्त्रशास्त्र, *सर जान उडरफ*।
इं० तां० बु०	:	ऐन इंट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, *डॉ० शशिभूषण दास गुप्त*।
इं० फि०	:	इंडियन फिलॉसॉफी, *डॉ० एस० राधाकृष्णन्*।
इं० बु० ए०	:	ऐन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, *डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य*।
इं० ब्रि०	:	इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका।
इं० रे० ए०	:	इंसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स।
इं० हि० क्वा०	:	इंडियन हिस्टॉरिक्ल क्वार्टरली।
ए० हि० इं० लि०	:	ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, *विंटरनित्स*।
ऐन इं० ता० बु०	:	ऐन इंट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, *डॉ० शशिभूषण दास गुप्त*।
ओ० डे० बैं० लैं०	:	ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑव बेंगाली लैंग्वेज, *डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी*।
गं० पु०	:	गंगा पुरातत्वांक।
गु० स० तं०	:	गुह्यसमाजतंत्र, *संपादक-डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य*।
च०	:	चर्यापद।
ज० ए० सो० बें०	:	जर्नल ऑव एशियाटिक सोसाइटी ऑव बेंगाल।
ज० डि० ले०	:	जर्नल ऑव दि डिपार्टमेंट ऑव लेटर्स।
ज० रा० ए० सो०	:	जर्नल ऑव दि रॉयल ऐशियाटिक सोसाइटी।
जे० हे०	:	जेम्स हेस्टिंग्स।
टू व० व०	:	टू वज्रयान वर्क्स, *संपादक-डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य*।
टि० हा० म्यू०	:	टिबेट हाउस म्यूजियम।
तां० बौ० सा० सा०	:	तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, *नागेन्द्रनाथ उपाध्याय*।
ता० वा० शा०	:	तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, *महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज*।
दि इं० बु० इ०	:	दि इंडियन बुद्धिस्ट इकानोग्राफी, *डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य*।

दि ग्रे० लि०	:	दि ग्रेट लिबरेशन, *आर्थर एवेलेन*।
दो०	:	दोहा।
दो० को०	:	दोहाकोष, डॉ० *बागची*।
ना० सं०	:	नाथ सम्प्रदाय, *डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी*।
ना० सं० इ० द० सा०	:	नाथसंप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधना प्रणाली, *डॉ० कल्याणी मल्लिक*।
पा०	:	पार्ट।
पु० नि०	:	पुरातत्त्व निबन्धावली, *राहुल सांकृत्यायन*।
प्र० वि० सि०	:	प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि, टू वज्रयान वर्क्स, *संपादक-डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य*।
प्रा० बां० सा० इ०	:	प्राचीन बांगला साहित्येर इतिहास, *डॉ० तमोनाशचन्द्र दासगुप्त*।
बु० ए०	:	ऐन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, *डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य*।
बौ० गा० दो०	:	बौद्ध गान ओ दोहा, *महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री*।
बौ० द० मी०	:	बौद्ध दर्शन मीमांसा, *पं० बलदेव उपाध्याय*।
बौ० ध० द०	:	बौद्ध-धर्म-दर्शन, *आचार्य नरेन्द्रदेव*।
बौ० सि० च०	:	बौद्ध सिद्धों के चर्यापद, *पं० परशुराम चतुर्वेदी*।
भा० सं० सा०	:	भारतीय संस्कृति और साधना, *महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज*।
मि० टे०	:	मिस्टिक टेल्स ऑव लामा तारानाथ, *डॉ० भूपेन्द्रनाथ* दत्त।
मै० ऑव इं० बु०	:	मैन्युअल ऑव इंडियन बुद्धिज्म, *एच० कर्न*।
वॉ०	:	वॉल्यूम।
सं०	:	संख्या।
स्ट० तं०	:	स्टडीज इन दि तंत्राज, पार्ट १, *डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची*।
स्ट० बु० क० इं०	:	स्टडीज इन दि बुद्धिस्टिक कल्चर ऑव इंडिया, *डॉ० लालमणि जोशी*।
स्ट० लं० सू०	:	स्टडीज इन दि लंकावतार सूत्र, *डी० टी० सुजुकि*।
हि० इं० फि०	:	ए हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलॉसफी, *डॉ० सु० ना० दासगुप्त*।
हि० स्ट० ही० म०	:	हिस्टॉरिकल स्टडीज ऑव दि टर्क्स हीनयान ऐंड महायान, *आर० किमुर*।

●

१. बुद्ध कपाल (युगनद्ध मुद्रा में) सरस्वती विहार, नई दिल्ली के डॉ० लोकेशचन्द्र के सौजन्य से प्राप्त। चित्रसेना से आलिंगित हेरुक (विवरण के लिए द्रष्टव्य—इं० बु० इ०, भट्टाचार्य, पृ० १५९-१६०)।

२. बुद्ध कपाल (एकांकी) बड़ौदा संग्रहालय के सौजन्य से। धातुमूर्ति, (विवरण द्रष्टव्य—इं० बु० इ०, भट्टाचार्य, पृ० १५९-१६०)।

३. सरहपाद, पुरातत्त्व निबन्धावली (राहुल सांकृत्यायन, पृ० १४४-ख, सिद्ध चित्र सं० ६ की प्रतिच्छाया) से साभार।

४. जालंधरपाद, दि एटिफाइव महासिद्धाज, टोनी स्किमिड, (थंका सं० ६, सिद्ध सं० ३६, विवरण-पृ० ७२) से साभार।

५. जालंधरपाद, पुरातत्त्व निबन्धावली (राहुल सांकृत्यायन, पृ० १४४-ठ, सिद्ध चित्र सं० ४६ की प्रतिच्छाया) से साभार।

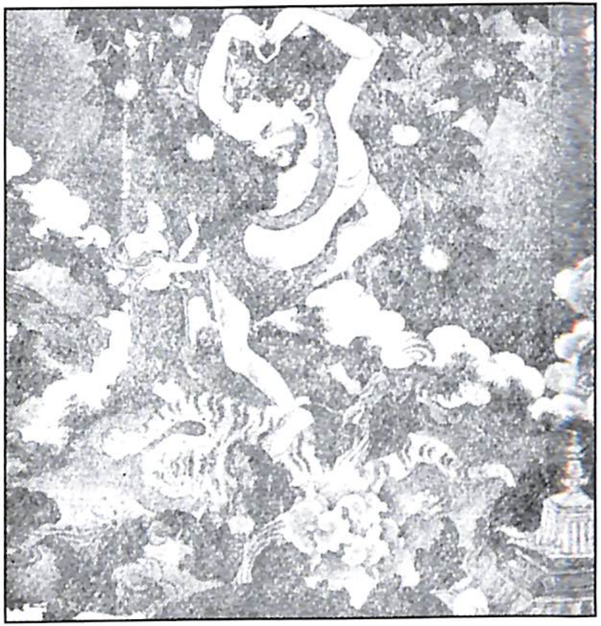

६. जालंधरपाद, टिबेट हाउस म्यूजियम, कैटलाग इनागुरल म्यूजियम, १९६५ से साभार। फलक सं० ९, थंका सं० ६, पृ० ४० से संलग्न, सिद्ध सं० ४६, विवरण-पृ० ३९ जिसके अनुसार डाकिनी द्वारा हेवज्रतन्त्र में दीक्षित हुए।

७. कृष्णपाद, दि एटिफाइव महासिद्धाज, टोनी स्किमिड, (थंका सं० ५, सिद्ध सं० २४, विवरण-पृ० ५७) से साभार।

८. कृष्णपाद, टिबेट हाउस म्यूजियम, कैटलाग इनागुरल म्यूजियम, १९६५ से साभार। (फलक सं० १३, पृ० ४० से संलग्न, सिद्ध सं० १७, थंका सं० ३, विवरण-पृ० ३१ जिसके अनुसार इन्होंने जालंधर से हेवज्र सिद्धान्त पाया। सर्वत्र डमरुक और छत्र से अलंकृत रहे)।

९. कृष्णपाद, पुरातत्त्व निबन्धावली (राहुल सांकृत्यायन, पृ० १४४-ड०, सिद्ध चित्र सं० १७ की प्रतिच्छाया) से साभार।

१०.मेखला और कनखला (कृष्णपाद सहित), टिबेट हाउस म्यूजियम, कैटलाग इनागुरल म्यूजियम, १९६५ से साभार। (फलक सं० १४, पृ० ४६ से संलग्न, सिद्ध सं० ६६, ६७, थंका सं० ९, फलक विवरण - पृ० ४७-४८ जिसके अनुसार कनखला मेखला की छोटी बहन थी और दोनों ने अपने मस्तक काटकर गुरु कृष्णपाद को अर्पित किया)।

११.मेखला, पुरातत्त्व निबन्धावली (राहुल सांकृत्यायन, पृ० १४४-थ, सिद्ध चित्र सं० ६६ की प्रतिच्छाया) से साभार।

१२.कनखला, पुरातत्त्व निबन्धावली (राहुल सांकृत्यायन, पृ० १४६-थ, सिद्ध चित्र सं० ६७ की प्रतिच्छाया) से साभार।

प्रथम खण्ड

पहला परिच्छेद

बौद्ध कापालिक : एक उपस्थापना

१. भूमिका

इस ग्रंथ में तांत्रिक बौद्ध मत के अन्तर्गत उदित कापालिक आम्नाय का विवेचन प्रस्तुत करना ही अभीष्ट है। बौद्ध कापालिक सम्प्रदाय पर ज्ञान अभी तक अत्यधिक प्रारम्भिक अवस्था में है, अतएव तांत्रिक बौद्ध साहित्य एवं सम्प्रदाय में बिखरी हुई सामग्री के संयोजन एवं संपादन की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यापक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि तांत्रिकता का अभ्युदय एवं विस्तार महायान में ही दिखाई पड़ता है। अत: तांत्रिक बौद्ध धर्म के विविध रूपों के स्वरूप तक पहुँचने के लिए महायान धर्म उसके सम्प्रदाय, सिद्धान्त, दर्शन, साधना, आचारशास्त्र आदि को ध्यान में रखना आवश्यक है, विशेषकर यह देखने के लिए कि महायान के किन-किन तत्त्वों ने आगे चलकर तांत्रिक स्वरूप प्राप्त कर लिया और उनका रूपान्तर किस प्रकार कापालिक सम्प्रदाय में हो गया।

भारतीय साहित्य एवं साधना में सिद्ध शब्द पर्याप्त व्यापक है। विभिन्न मत-मतान्तरों, सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों ने अपनी-अपनी अलग-अलग सिद्धों की सूचियाँ प्रस्तुत की हैं। हमारे सामने जो अनेक सूचियाँ प्रचलित रूप में उपलब्ध हैं, उनमें से सस्क्य विहार और वर्णरत्नाकर की सूचियाँ विशेष रूप से बहुचर्चित रही हैं। यद्यपि अनेक विद्वानों ने सस्क्य विहार की सूची को बौद्ध सिद्ध सूची कहा है और अनेक ने वर्णरत्नाकार की सूची को नाथ सिद्धों की सूची माना है, तथापि विश्लेषण और परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि इनमें से कोई भी सूची किसी विशेष सम्प्रदाय अथवा धर्म की नहीं हैं। अत: इस ग्रंथ में सिद्ध शब्द पर्याप्त व्यापक अर्थ में ग्रहण कर उसे सीमित एवं प्रयोजनबद्ध रूप देने के लिए उसके साथ बौद्ध अथवा नाथ (जैसे बौद्धसिद्ध, नाथसिद्ध, शैवसिद्ध, रसेश्वर सिद्ध, कापालिक सिद्ध आदि) जैसे विशेषणों को संयुक्त कर दिया गया है।

इस ग्रंथ में बौद्ध सिद्धों की संस्कृत और अपभ्रंश रचनाओं को आधार बनाया गया है। अपभ्रंश रचनाओं को साधनफलों एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को रचनाओं के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। बिना शास्त्र एवं साधन ग्रंथों के प्रकाश को आयत्त किए अपभ्रंश रचनाओं के मर्म तक नहीं पहुँचा जा सकता।, अत: संस्कृत में लिखित शास्त्र एवं साधन ग्रंथों के विवेचन को किसी भी प्रकार परित्यक्त नहीं किया जा सकता। समस्त तांत्रिक बौद्ध सिद्ध परम्परा का संधान करने पर सरहपाद, उनके प्रवर्तित ग्रंथ हेवज्रतंत्र, जालंधरपाद और कृष्णपाद के योगरत्नमाला, वसन्ततिलक, वज्रावली जैसे संस्कृत-ग्रंथों के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अत: इन स्रोतों का विशेष उपयोग इस ग्रंथ में किया जाएगा। हेवज्रतंत्रादि का विशेष महत्त्व इसलिए है कि

बौद्ध सिद्धों में कृष्णवज्रपाद के कापालिकत्व के बहुत से प्राचीन संकेत हमें इस ग्रंथ में मिल जाते हैं। कृष्णपाद का कापालिकत्व बहुत प्रकाशित है इसलिए उनकी संस्कृत और अपभ्रंश रचनाओं पर इस ग्रंथ में विशेष ध्यान दिया गया है। इस प्रकार के कार्य का आरंभ बौद्ध सिद्धों के अपभ्रंश साहित्य से ही हुआ है।

२. अद्यतन कार्य

बौद्धसिद्ध साहित्य पर भारतीय आर्यभाषाओं में अभी तक बहुत कम काम हुआ है। अभी तक चर्यापदों और दोहा कोषों की उपयोगिता प्रमाणित करने के लिए ही मुख्य रूप से कार्य हुआ है। इस कार्य का सूत्रपात आधुनिक आर्यभाषाओं की भाषागत और साहित्यगत पृष्ठभूमि की व्याख्या के लिए ही किया गया। केवल इसी कार्य के लिए इनकी उपयोगिता भी समझी गई। विभिन्न आर्यभाषाओं के विवेचकों और इतिहासकारों ने अपनी-अपनी भाषा का आदि रूप प्राचीनतम सिद्ध करने के लिए इन रचनाओं को आधार बनाया। इनकी काव्यरूपात्मक, साधनात्मक, साहित्यिक, दार्शनिक, भाषात्मक प्रवृत्तियों को अपनी-अपनी भाषाओं एवं साहित्यों की प्रवृत्तियों का मूल समझा गया। मुख्य रूप से इसी दृष्टिकोण से अभी तक कार्य हुआ है जिसमें बौद्ध सिद्धों की रचनाओं का मूल्य एक पृथक् एवं तंत्र साहित्य के रूप में न आँककर परवर्ती साहित्य की व्याख्या की दृष्टि से ही उनकी उपयोगिता स्वीकार की गई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वानों ने तो इन्हें साहित्यिक इतिहास के अन्तर्गत स्वतंत्र साहित्यिक मूल्य प्रदान करना अस्वीकार कर दिया। न्यूनाधिक मात्रा में यह प्रवृत्ति सभी विवेचनों में विद्यमान रही। इसीलिए पृथक् रूप में, हिन्दी में, इन रचनाओं पर टीका, भाष्य, व्याख्या आदि लिखने की प्रवृत्ति का अभाव रहा। समाज के एक विशेष तत्कालीन अंग के साहित्य के रूप में इसके मर्मों का उद्‌घाटन आवश्यक था। इसी प्रकार कृष्णपाद का पृथक् रूप से भी अध्ययन नहीं हुआ है यद्यपि महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सरहपाद के दोहा-कोषों का प्रमुख रूप से संपादन कर उनके ऊपर यत्किंचित् प्रकाश डालने का प्रयत्न किया था। सरहपाद पर और भी कार्य हुए किन्तु उनकी रचनाओं पर भाष्य अथवा टीका लिखने का प्रयत्न नहीं किया गया।

अध्ययन और संपादन का सर्वप्रथम कार्य म.म. हरप्रसाद शास्त्री ने बंगला भाषा और बंगाक्षरों में १९१६ ई. में 'बौद्ध गान ओ दोहा' नामक ग्रंथ के माध्यम से किया। उन्होंने ८४ सिद्धों में से कुछ की रचनाओं का उद्धार १९०७ ई. में नेपाल से किया और उसके साथ अन्य तांत्रिक बौद्ध रचनाओं को सम्मिलित कर 'बौद्ध गान ओ दोहा' के नाम से १९१६ में संपादित कर प्रकाशित किया। इस ग्रंथ समूह में सबसे पहला ग्रंथ 'चर्याचर्यविनिश्चय' है। इसे शास्त्री महोदय ने बौद्ध सहजिया मत के अत्यन्त प्राचीन बंगला गान (बौद्ध सहजिया मतेर अतिपुराण बांगाला गान) माना है। प्रत्येक चर्यापद के साथ उनकी मुनिदत्त लिखित संस्कृत टीका भी दी गई है। इसमें कुल ४७ चर्यापद संगृहीत हैं (तीन चर्यापद, पोथी के तीन पत्रों के खो जाने के कारण अलभ्य रहे)। इनमें कान्हुपाद या कृष्णपाद के १२ चर्यापद भी सम्मिलित हैं। अलभ्य चर्यापदों की संख्याएँ २४, २५ और ४८ हैं। शास्त्री महोदय ने इस चर्यासंग्रह का नामकरण चर्याचर्यविनिश्चय किया था।

इस नाम का कुछ भिन्न रूप में प्रयोग इसके लुयीपा रचित प्रथम चर्यापद की मुनिदत्त रचित टीका के आरंभिक श्लोक में 'आश्चर्य्यचर्य्याचय' के रूप में मिलता है।[१] इसके तिब्बती अनुवाद का अर्थ है—'अति आश्चर्यजनक चर्यागीति।' इस प्रकार शास्त्रीजी ने 'चर्याश्चर्यविनिश्चय' नामकरण भ्रमपूर्ण पाठ के आधार पर किया है जिसे संस्कृत टीका में उद्धृत नहीं, संकेतिक किया गया है। तिब्बती में सुरक्षित 'चर्यागीतिकोषवृत्ति' नाम भी इसी टीका की ओर संकेत करता है। इससे यह प्रकट होता है कि यह चर्यागीतों का संग्रह ग्रंथ पहले 'चर्यागीतिकोष' नाम से भी जाना जाता था।[२] शास्त्रीजी ने जो दूसरा ग्रंथ इसमें दिया, वह था 'सरोजवज्र का बंगला दोहा-कोष' (सरोजवज्रेर बांगाला दोहा-कोष)। उसके साथ अद्वयवज्र की संस्कृत टीका भी संपादित है जिसमें सरोजवज्र के दोहे पूर्ण और खंडित दोनों रूपों में उद्धृत हैं। यह वस्तुतः टीका का ही उद्धार है, दोहा-कोष का नहीं। इसकी पुष्टि उसकी पुष्पिका में होती है—'समाप्तेयं दोहा-कोषस्य पञ्जिका। ग्रंथप्रमाणमष्टशतस्य। कृतिरियं श्री अद्वयवज्रपादानामिति।' वस्तुतः इस दोहा-कोष का नाम 'सहजाम्नायपञ्जिका' है। शास्त्रीजी के इस 'बौद्ध गान ओ दोहा' में तीसरी रचना कृष्णाचार्यपाद का दोहा-कोष है जिसके साथ संस्कृत में लिखी मेखला टीका भी प्रकाशित है। इसमें ३२ दोहे हैं। अंतिम और चौथी रचना 'डाकार्णव' है जो मुख्यतः संस्कृत रचना है और बीच-बीच में बंगला (अपभ्रंश) में भी बहुत से छंद हैं। सर्वांत में शास्त्रीजी ने इन रचनाओं में आए शब्दों की सूची दी है और उनकी व्युत्पत्तियाँ भी दी हैं। इस ग्रंथ के मुखबंध में व्यक्त शास्त्रीजी के विचार बड़े ही दूरगामी प्रभाववाले सिद्ध हुए।

म.म. हरप्रसाद शास्त्री के पूर्व ही बेंडेल ने बौद्ध सिद्धों की रचनाओं के प्रकाशन और उन पर विचार का सूत्रपात कर दिया था। सुभाषित संग्रह (संपादित) में सरहपाद के चार दोहे, चार समचतुष्पदियाँ और दो-दो पदों के दो मुक्तक मिलते हैं। दूसरे मत से उसके परिशिष्ट में टीका-टिप्पणी सहित ६८ दोहे प्रकाशित किए गए थे। उस समय ही उन्होंने इन दोहों की भाषा को एक प्राचीन भाषा अपभ्रंश कहा था किन्तु उन्होंने अन्य स्थलों पर उसे बौद्ध अपभ्रंश और शुद्ध प्राकृत भी कहा है। इसे जानते हुए भी शास्त्री महोदय ने इस भाषा को बंगला ही स्थिर किया था।[३]

डॉ. मुहम्मद शहीदुल्ला ने (१९२८ में) ले शां मिस्तीक्स नामक फ्रेंच ग्रंथ में म.म. शास्त्री द्वारा बौद्ध गान ओ दोहा में प्रकाशित कृष्णपाद और सरहपाद की रचनाओं के पाठ को तेंजुर में सुरक्षित तिब्बती रूपान्तर के आधार पर सबसे पहली बार संशोधित करने का प्रयास किया और पाठ संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन प्रस्तुत किए। इतना ही नहीं, उन्होंने संभवतः पहली बार दोहों का विस्तृत ध्वनिवैज्ञानिक, व्याकरणिक,

---

१. चर्याचर्यविनिश्चय के संग्रहकर्ता कानुभट्ट थे और वे सहजिया मतानुयायी थे और उनका समय दशम शताब्दी था—इस प्रकार की भी सूचना मिलती है। द्र. *प्राचीन बांगाला साहित्येतर इतिहास,* डॉ. तमोनाशचन्द्र दासगुप्त, पृ. ३९, ४६।

२. *स्ट. तं.* : पार्ट-१, प्रबोधचन्द्र बागची, पृ. ७५।

३. *बौ. गा. दो., मुखबन्ध,* पृ. ६।

धार्मिक, वाक्यवैज्ञानिक और पिंगलशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने तांत्रिक बौद्ध साहित्य पर पर्याप्त विस्तृत अध्ययन और संपादन का कार्य किया है। उन्होंने १९२५ और १९२८ में साधनमाला के दोनों खंडों का प्रकाशन कर उनकी भूमिका में विस्तार से वज्रयान, उसकी साधना-पद्धति, देवी-देवता, साधन लेखकों पर विचार किया। १९२९ में 'टू वज्रयान वर्क्स' में प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि और ज्ञानसिद्धि नामक दो ग्रंथों का एक साथ संपादन कर तांत्रिक बौद्ध धर्म के साधन पर पुनः प्रकाश डाला। इसी प्रकार उन्होंने १९३१ में गुह्यसमाजतंत्र का संपादन कर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया कि तांत्रिक बौद्ध धर्म के समारंभकर्ता आर्य असंग थे और वे ही गुह्यसमातंत्र अथवा तथागतगुह्यक के रचयिता थे। १९२५ में ही उन्होंने बौद्ध मूर्तिविज्ञान पर ग्रंथ लिखते समय तांत्रिक बौद्ध मूर्तिकला के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला था। इन विविध पक्षों को ही उन्होंने बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म में १९३२ में व्यवस्थित रूप से प्रकाशित किया।

इन सामग्रियों के प्रकाशित हो जाने के अनन्तर डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने १९३५ तथा १९३८ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के दोहाकोषों और चर्यापदों का संपादन करते हुए तत्कालीन संपादन की स्थिति का विकास किया। उन्होंने सरहपाद, तिल्लोपाद और कृष्णपाद के दोहाकोषों का जो संपादित रूप ज.डि.ले. में प्रकाशित किया था उसका उन्होंने पुनः प्रकाशन १९३८ में कलकत्ता संस्कृत सीरीज में किया। कृष्णपाद के दोहाकोष में उन्होंने शास्त्री और शहीदुल्ला के पाठों का उपयोग किया ही, साथ ही बिब्लियाथीक नेशनल, पेरिस में सुरक्षित श्री गुह्येन्द्र तिलक तंत्र में प्राप्त पाठान्तरों का भी उल्लेख किया और अनेक पाठ संशोधन भी प्रस्तावित किए। उन्होंने सबसे पहली बार तिल्लोपाद के दोहाकोष को भी इस 'दोहाकोष' में प्रकाशित किया और तेंजुर के नार्थंग संस्करण खण्ड ४६ के तिब्बती रूपान्तर की सहायता से संशोधित पाठ के साथ संस्कृत टीका भी संपादित की है। इसकी पांडुलिपि उन्हें नेपाल के राजगुरु हेमराज शर्मा से प्राप्त सरहपाद के दोहाकोष के साथ मिली थी। 'जर्नल' में तिब्बती रूपान्तर के साथ टीका के आधार पर दोहों का मर्मार्थ भी दिया है और उन्होंने अद्वयवज्र की टीका के साथ प्राप्त सरहपाद के दोहाकोष का भी संपादन किया है। इसकी तीन प्रतियों का उपयोग उन्होंने किया है। इसी प्रकार उन्होंने सरहपाद के खंडित दोहाकोषों का भी संपादन किया जिनमें क्रमशः २० और १२ दोहे हैं। कुछ स्फुट स्रोतों से भी उन्होंने सरहपाद के दोहों, समचतुष्पदियों और मुक्तकों को उद्धृत कर उनके पाठ संशोधन का कार्य सम्पन्न किया। क्रियासमुच्चय, चर्यागीतिटीका, सुभाषितसंग्रह, तिब्बती रूपान्तर, साधनमाला, हेवज्रतंत्र आदि उनके स्रोत हैं। १९३९ में उन्होंने 'स्टडीज़ इन दि तंत्राज' में तांत्रिक बौद्ध साधना और शैली से संबंधित अनेक विवादास्पद बिन्दुओं पर पर्याप्त विचार-विमर्श कर विविध प्रमाणों के आधार पर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किए, जिनमें से सिद्धों की रहस्यवादी शैली, परावृत्ति, संधाभाषा, साधनमाला तथा डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य के विविध विषयों के विवादास्पद बिन्दुओं पर उनके विचार अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। १९३४ में प्रकाशित कौलज्ञाननिर्णय में उन्होंने मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, जालंधर और

कृष्णपाद से संबंधित जीवनवृत्त संबंधी विविध सामग्रियों पर विस्तार से विचार कर लुयीपा और मत्स्येन्द्र को एक सिद्ध करने का महनीय प्रयास किया। उनके अन्य विचारों में कुछ विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। वे यह मानते थे कि सहजतत्त्व प्राचीन चीनी धर्म ताओ का प्रभाव है और सहज ताओ का संस्कृत अनुवाद मात्र है। संध्याभाषा शब्द को ठीक न मानकर वे उसे संधाभाषा मानते हैं जिसका अभिप्राय है अभिसंधियुक्त शैली। तिब्बती लामा शब्द की व्युत्पत्ति वे तिब्बती ल्हामो शब्द से सिद्ध करते हैं जिसका स्वरूप भयंकर और शोणिताहारी है। १९५६ में श्री शांतिभिक्षु शास्त्री ने डॉ. बागची के सहयोग में उनकी सामग्री के आधार पर चर्यागीतिकोष का संपादन किया।

तांत्रिक बौद्ध साहित्य पर शोधकार्य को अग्रसर करने में महापंडित राहुल सांकृत्यायन और डॉ. शशिभूषण दासगुप्त का भी अतिमहत्त्वपूर्ण योगदान है। राहुलजी ने पहले गंगा पुरातत्त्वांक में बौद्ध सिद्धों की कविताओं, उनके जीवनवृत्त और उनकी चित्रावली के साथ ही सस्क्य विहार की महत्त्वपूर्ण सूची भी प्रकाशित की थी। उसी को व्यवस्थित रूप में १९३७ में उन्होंने पुरातत्त्व निबंधावली में अन्य अनेक लेखों के साथ प्रकाशित किया। १९४५ में प्रकाशित हिन्दी काव्यधारा में उन्होंने अपभ्रंश की सभी रचनाओं को अपना पूर्ण समर्थन देते हुए बौद्ध सिद्धों तथा नाथों की रचनाओं को हिन्दी में महत्त्वपूर्ण स्थान देने का दृढ़ प्रतिपादन किया, साथ ही बौद्ध सिद्धों की रचनाओं को पुरानी मगही कहकर उन्हें हिन्दी के अन्तर्गत स्थान देने के पक्ष में अनेक तर्क दिए। इसीलिए उन्होंने इन अपभ्रंश रचनाओं की हिन्दी छाया देकर उन्हें मावली, मारवाड़ी आदि से अधिक हिन्दी की रचना घोषित किया। १९५७ में उन्होंने सिद्ध सरहपादकृत दोहाकोष प्रकाशित कराया और सरहपाद के जीवन, काव्यत्व, सिद्धान्त आदि पर विस्तार से विचार किया। उन्होंने सरहपाद की रचनाओं के संपादन और पाठ संशोधन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस ग्रंथ में उन्होंने दो दोहा कोषगीति मूल में प्रकाशित किया है। परिशिष्ट में उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण कार्य किए—(१) विनयश्री की गीतियाँ (मूल) का सर्वप्रथम प्रकाशन (२) पंडित अद्वयवज्र का विस्तृत जीवनवृत्त। सब मिलाकर राहुलजी के ये कार्य बौद्ध सिद्ध साहित्य के शोध और अध्ययन की दृष्टि से हिन्दी के गौरव को ऊपर उठाने वाले हैं।

वैसे तांत्रिक बौद्ध साधना दर्शन और साहित्य पर कार्य करने वाले देशी-विदेशी विद्वानों की संख्या बहुत अधिक है और दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है किन्तु उनमें से कुछ प्रमुख लोगों में डॉ. शशिभूषणदास गुप्त, डॉ. ग्विसेप तुसी, डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और डॉ. सुकुमार सेन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

डॉ. ग्विसेप तुसी ने मुख्य रूप से नेपाली और तिब्बती स्रोतों से एकत्रित सामग्री के आधार पर वज्रयान के सिद्धान्त और साधना के अनेक पक्षों को प्रकाशित करते हुए वज्रयान के इतिहास और साथ ही बौद्ध सिद्धों की परंपरा, जीवनकाल पर भी विचार किया है। इतना ही नहीं, महायान के मैत्रेयनाथ और असंग जैसे आचार्यों की रचनाओं की इस रूप में मीमांसा की है कि उससे वज्रयान के सिद्धान्तों की पूर्वपीठिका को उद्घाटित करने के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। उन्होंने तिब्बती स्रोतों का भी

विधिवत मंथन किया है और अपने विपुल शोध साहित्य द्वारा तांत्रिक बौद्ध शोध को अग्रसर किया है। उन्होंने एक ओर तांत्रिक बौद्ध तिब्बती चित्रकला की मीमांसा की और उससे साथ ही वज्रयान के ऐतिहासिक विकासक्रम पर प्रकाश डाला और दूसरी ओर तांत्रिक बौद्ध साधना के मंडल जैसे अंगों का विविध रूपात्मक एवं विविध पक्षीय विश्लेषण-विवेचन किया। डॉ. शशिभूषण दासगुप्त के दो ग्रंथ (ऑब्सक्योर रेलिजस कल्ट्स और 'ऐन इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म') इस अध्ययन को संपुष्ट करने वाले हैं। उनका यह विचार कि तांत्रिक सैद्धांतिक और साधनात्मक धारा बहुत प्राचीन है और बौद्ध, शैव, शाक्त, जैन, वैष्णव आदि सभी धर्म सम्प्रदायों को व्यापक रूप से उसने प्रभावित किया है, बहुत महत्त्वपूर्ण है और उनकी व्यापकचिंतना की ओर संकेत करता है। डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और डॉ. सुकुमार सेन के कार्य मुख्य रूप से भाषा वैज्ञानिक और पाठशोध संबंधी हैं किन्तु प्रसंगतः इन लोगों ने तांत्रिक बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं के अन्य पक्षों पर भी विचार किया है। डॉ. चाटुर्ज्या ने चर्यापदों के धार्मिक एवं भाषात्मक पक्षों को ही विवेच्य समझा। वे उनमें साहित्यिक पक्ष का प्रायः अभाव मानते हैं। उन्होंने दोहाकोशों और चर्यापदों की भाषा में भेद कर उनमें क्रमशः पश्चिमी एवं पूर्वी भाषात्मक तत्त्वों की अधिकता देखी है यद्यपि चर्यापदों की भाषा पर भी वे शौरसेनी के प्रभाव मानते हैं। डॉ. सुकुमार सेन ने भाषा पर ही विचार करते हुए ओल्ड बेंचाली टेक्सट्स नामक लेख में अनेक पाठ संशोधन प्रस्तुत किए। चर्यागीति, वज्रगीति तथा प्रहेलिकाओं का अंग्रेजी छायानुवाद देकर उनके मर्म को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। कण्हपा की शिष्य-परंपरा पर भी उन्होंने प्रसंगतः विचार किया है। ये साधनमाला और हेवज्रतंत्र की वज्रगीतियों की भाषा को शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित मानते हैं और चर्यापदों की भाषा को इससे भिन्न मानते हैं। इसके साथ ही डॉ. चाटुर्ज्या के समान ही उन्होंने भी बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं की छंद योजना पर भी विचार किया है। इसके अतिरिक्त डॉ. हर्बर्ट ग्वेंथर, डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. टोनी स्किमिड आदि अनेक विद्वानों ने भी तांत्रिक बौद्ध साहित्य, साधना, इतिहास और सिद्धान्त के विविध पक्षों पर कार्य किया है।

इस प्रसंग में म.म. डॉ. गोपीनाथ कविराज का योगदान अविस्मरणीय है। उन्होंने तांत्रिक बौद्ध साधना और दर्शन के विविध सूक्ष्म एवं गंभीर पक्षों को बड़े ही पांडित्य के साथ अपने लेखों में उद्घाटित किया है जिनके संकेतों से इस विषय की अनेक गुत्थियों के समाधान की दिशाएँ उद्घाटित हो जाती हैं। यद्यपि उन्होंने इस पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा तथापि उनके लेख किसी महाग्रंथ से कम नहीं हैं। संपादन और टीका की दृष्टि से ही ताराप्रसन्न भट्टाचार्य, डॉ. बागची, डॉ. शहीदुल्ला, डॉ. मणीन्द्रमोहन बसु, म.म. हरप्रसाद शास्त्री, डॉ. अतीन्द्र मजुमदार, राहुल सांकृत्यायन आदि के नाम बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

३. विशेष दृष्टि

इस ग्रंथ में जिस दृष्टि-विशेष से विवेचन किया गया है, इसकी ओर भी संकेत कर देना आवश्यक है। इस दृष्टि-विशेष का संबंध भारतीय धर्म-साधना और

तद्विषयक वाङ्मय से है। यह वाङ्मय विविध दृष्टियों से देखा गया है, अतएव उसके विषय में विचारवैषम्य बहुत अधिक है, किन्तु भारतीय धर्म-साधना और साहित्य का विवेचन करने वाले अधुनातन विद्वानों का निष्कर्ष है कि वैदिक और तांत्रिक दोनों मतों का समान रूप से योगदान भारतीय विचारधारा एवं साधना में दृष्टिगत होता है। ऐसे कुछ विद्वानों की दृष्टि में मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट का यह उद्धृत मत बहुत महत्त्वपूर्ण है—'वैदिकी तांत्रिकी चैव द्विविधा श्रुति कीर्तिता।' स्पष्ट ही टीकाकार तांत्रिकी और वैदिकी नाम की दो प्रकार की श्रुतियाँ मानता है। श्रुतियाँ अपौरुषेय होने के कारण स्वतः प्रमाण हैं। निगमागम की स्वतःप्रमाणता दोनों के मत-मतान्तरों में स्वीकृत है। निगम जहाँ ऋषिस्फूर्त हैं वहीं आगम शिवप्रोक्त हैं। भारतीय दार्शनिक मतों में आस्तिक-नास्तिक विभाजन को यदि वेदप्रामाण्य के आधार पर स्वीकृत करें तो भी एक सर्वमान्य विभाजन संभव नहीं। विशेषकर तथाकथित नास्तिकों में जैन और बौद्ध दर्शनों की इस प्रकार की नास्तिकता के विषय में संदेह किया जा सकता है। यद्यपि ये वेद और उपनिषद् के विविध महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का खंडन करते हैं तथापि ये दोनों ही प्रमुख नास्तिक मत उपनिषद्काल में ही उदित हुए थे।

सभी दार्शनिक मतों एवं साधन सम्प्रदायों के विकास के इतिहास को ध्यान से देखने से निगमों का प्रभाव उन पर पहले तथा आगमों अथवा तंत्रों का प्रभाव बाद में दिखाई पड़ता है। यदि इन प्रभावों का तात्विक विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न साधन सम्प्रदायों ने ही नहीं, अपितु दार्शनिक मतों ने भी अपने कतिपय मूल सिद्धान्तों के अनुरूप ही तांत्रिक तत्त्वों एवं प्रभावों को ग्रहण किया। ठीक इसी प्रकार की बात बौद्धमत के लिए भी कही जा सकती है। बहुत से लोग यह सिद्धान्त मानते हैं कि तांत्रिकता का जहाँ तक सवाल है, तांत्रिक बौद्धमत सर्वाधिक प्राचीन है जिसका प्रभाव दूसरे हिन्दू जैसे धर्म सम्प्रदायों ने ग्रहण किया। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य का यही मत है। दूसरी ओर महापंडित राहुल सांकृत्यायन 'आगम' को बाहर से आया हुआ मानकर असंग को भी विदेशी मानते हैं तथा डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य उन्हें ही बौद्ध तंत्र का पुरस्कर्ता भी मानते हैं। तीसरा मत तंत्र और तांत्रिक सिद्धान्तों एवं क्रियाओं को वेद के समान ही प्राचीन मानता है और सिद्धान्ततः यह स्वीकार करता है कि श्रुतियाँ दो प्रकार की थीं—वैदिकी और तांत्रिकी। भारतवर्ष के राष्ट्रीयतावादी विचारधारा के विद्वान् तो इसे स्वीकार करते ही हैं साथ ही सर जान उडरफ जैसे विदेशी विद्वान् भी इसे स्वीकार करते हैं। कुछ लोग वेदकालीन समाज के अनार्यों के संस्कारों से आगम एवं तंत्र को संबद्ध करते हैं और अथर्ववेद को वेदत्रयी से पृथक् मानकर उसी को विशेषकर उसके सौभाग्य खंड को तांत्रिक एवं आगमादिक क्रियाओं का स्रोत मानते हैं।

प्रस्तुत लेख दोनों प्रकार की श्रुतियों को प्रामाणिक मानकर दोनों को युगपत-भावेन समकालीन मानता है और यह भी मानता है कि आगे चलकर कालक्रम से इन दोनों श्रुतियों का विमिश्रण हो गया तथा तथाकथित नास्तिक एवं आस्तिक सम्प्रदायों एवं धर्मों ने अपने सिद्धान्तों के अनुसार तांत्रिक श्रुति के तत्त्वों को ग्रहण किया। इसीलिए तंत्रप्रभावापन्न विविध नास्तिक-आस्तिक सम्प्रदायों में आश्चर्यजनक समानताएँ

दिखाई पड़ती हैं। इस प्रकार के साम्य के कारण ही इन सम्प्रदायों में परस्पर आदान-प्रदान होता रहा तथा प्राय: समान प्रकार के समानान्तर सम्प्रदाय उनमें समकालिक रूप में प्रचलित रहे यद्यपि उनके मूल में उनकी अपनी पृथक् दार्शनिक विचारधाराएँ जीवित रहीं और उनकी पृथक् सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रहीं। इसी आधार पर यह कल्पना करने के लिए पर्याप्त अवसर है कि बौद्धों में भी कालान्तर में पशुभाव, वीरभाव, दिव्यभाव के साथ ही सप्ताचार भी प्रकारान्तर से विकसित हो गए और उनमें भी उसी प्रकार की समाधिभाषा की तरह एक विशेष प्रकार की शैली का विकास हो गया। इसी पद्धति का अनुसरण करने से बौद्ध रचनाओं में कापालिक तत्त्वों को देखकर बौद्धों में भी कापालिक उपयान की कल्पना के लिए पर्याप्त संकेत मिल जाते हैं।

अत: इस ग्रंथ में भारतीय तांत्रिक धारा को विशेष रूप से ध्यान में रखकर विवेचन किया गया है। भारतीय तांत्रिक सम्प्रदायों की पारस्परिक समताओं को देखकर प्राय: उनके पूर्वापरत्व का भी निर्णय विद्वान् लोग करते दिखाई पड़ते हैं। इन सम्प्रदायों में तांत्रिक बौद्ध सम्प्रदाय और तांत्रिक शैव सम्प्रदाय विशेष रूप से चर्चा के विषय रहे हैं और प्राय: पहले के विद्वान् यह निर्णय करते दिखाई पड़ते रहे हैं कि तांत्रिक बौद्धमत पूर्ववर्ती है और नाथमत परवर्ती तथा साथ ही बौद्धमत वज्रयान से ही शैवनाथ मत का विकास हुआ। तिब्बती अनुश्रुतियों के आधार पर जालंधरपाद के साथ मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ और कान्हपा को, विशेषकर मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ को पूर्वत: बौद्ध ही सिद्ध करने का प्रयास किया जाता रहा। चौरासी सिद्धों और नवनाथों की विविध सूचियों में से कुछ को कुछ विद्वान् नाथसिद्धों की सूची मानते हैं और कुछ को बौद्ध सूची।

४. बौद्ध कापालिक की खोज

इन सिद्धों से संबंधित अनेक जनश्रुतियों की भी विद्वानों ने परीक्षा की जिनमें से अनेक से कान्हुपा का नाथपंथी होना भी सूचित होता है। बौद्ध स्रोत से प्राप्त सूची से उन्हें बौद्ध कहा जा सकता है। बौद्ध चर्यापदों की रचना से भी उनके बौद्धत्व का संकेत मिलता है जबकि उनकी नाथपंथी रचनाएँ नहीं मिलतीं। गोरक्षनाथ द्वारा संगठित १२ सम्प्रदायों में से 'बामारग' नाम का सम्प्रदाय आधे सम्प्रदाय के रूप में स्वीकृत है। इस प्रकार कान्हुपा अथवा कृष्णपाद बौद्ध और शैव दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं। अपने चर्यापदों में उन्होंने अपने को कापालिक घोषित किया है। प्रश्न यह है कि क्या जालंधरपाद का, जो कृष्णपाद के गुरु थे तथा मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु भाई थे, कोई कापालिक सम्प्रदाय था जो बौद्ध धर्म में भी मान्य रहा हो और शैव नाथों में भी। कापालिक मार्ग शैवों में वाममार्ग है अत: उसे संशुद्ध कर आधे सम्प्रदाय के रूप में गोरक्षनाथ ने अन्तर्भुक्त होने की स्वीकृति प्रदान कर दी। प्राचीन शैव कापालिक सम्प्रदाय की तरह ही बौद्धों में भी कापालिक मार्ग की कल्पना की जा सकती है जो आधा बौद्ध रहा हो क्योंकि उसने बौद्ध देवता हेरुक के विशेष रूप बुद्धकपाल को उपास्य मान लिया था यद्यपि उसने साधना-पद्धति और वेशभूषा शैव कापालिकों के समान ही स्वीकार कर ली थी। तांत्रिक तत्त्वों की समानता, वेशभूषा की समानता, बौद्ध देवता, बुद्धकपाल को लेकर समानान्तर बौद्ध कापालिक उपयान का समारंभ, शैव नाथ सिद्धों के साथ सम्पर्क

और जीवनयापन—ये सारी बातें जालंधरपाद और कृष्णपाद के आधे शैवत्व और आधे बौद्धत्व की ओर ही संकेत करती हैं; किन्तु शैव रचनाओं के अभाव में इन दोनों सिद्धों का बौद्ध सिद्धत्व अधिक प्रबल हो जाता है और पुष्ट प्रमाणों के अभाव में नाथ सिद्धत्व दुर्बल होता दिखाई देता है। जालंधरपाद की बौद्ध अपभ्रंश रचनाओं की न्यूनता है और नाथपंथी रचनाओं में अप्रामाणिकता है। अतः कृष्णपाद का कापालिकत्व एक ऐसा संधिस्थल है जहाँ बौद्ध और शैव कापालिक साधना धाराएँ मिलती हैं। अतः विविध कापालिक स्रोतों और सूत्रों के आधार पर कापालिक तत्त्वों का संग्रह कर बौद्ध स्रोतों के कापालिक तत्त्वों के साथ उनका तुलनात्मक समीक्षण आवश्यक है।

इसी सरणि का अनुसरण कर बौद्ध कापालिक तत्त्वों का विशेष व्याख्यान करने वाले हेवज्रतंत्र को महत्त्व दिया गया है। यह स्थापना उस समय और भी पुष्ट होती दिखाई देती है जब इसी हेवज्रतंत्र की कृष्णपाद रचित टीका योगरत्नमाला भी इन्हीं कापालिक तत्त्वों का विस्तृत व्याख्यान करती है। इस स्थापना को कृष्णपाद के चर्यापदों के कापालिक उल्लेखों से और भी बल प्राप्त होता है। इस प्रकार इस ग्रंथ में बौद्ध कापालिक सम्प्रदाय, बौद्ध कापालिक साधना, बौद्ध कापालिक दर्शन और कापालिक आचार का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है जिसके प्रथम आचार्य के रूप में सरह और कम्बलाम्बर पाद थे और महनीय प्रचारक एवं प्रतिपादक के रूप में कृष्णपाद को प्रतिष्ठा मिली थी। दर्शन और साधन की दृष्टि से सामान्य वज्रयान और सहजयान से इस कापालिक मत का बहुत भेद नहीं है किन्तु कापालिक स्पर्श उसे वैशिष्ट्य प्रदान करता है।

तांत्रिक बौद्ध सिद्धों में कृष्णपाद सिद्धाचार्य के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं अर्थात् वे सिद्ध और आचार्य दोनों थे। साधना में विशेष स्थिति के कारण उनका सिद्धत्व स्वीकार किया जाता है तथा साधना संबंधी विविध विधानों का उपस्थापन, निरूपण और शास्त्रीय विवेचन करने के कारण उनका आचार्यत्व स्वीकार किया जाता है। कृष्णपाद की अपभ्रंश रचनाओं के साथ ही उनकी अनेक संस्कृत रचनाएँ भी मूल रूप में प्राप्य बताई जाती हैं जिनके आधार पर भी उनका आचार्यत्व सिद्ध किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त कृष्णपाद के व्यक्तित्व का एक पक्ष और है। चर्यापदों और दोहाकोश में उनका कवि रूप भी प्रकाशित हुआ है। सभी बौद्ध सिद्धाचार्यों में अथवा उन बौद्ध सिद्धों में जिनकी अपभ्रंश रचनाएँ उपलब्ध हैं, कृष्णपाद सर्वाधिक काव्यप्रतिभासम्पन्न सिद्ध प्रतीत होते हैं। कवित्व, पांडित्य और सिद्धाचार्यत्व का इतना सुन्दर सामंजस्य अन्य सिद्ध कवियों में नहीं दिखाई पड़ता। अतएव उनके इन रूपों का विधिवत् उद्घाटन बौद्ध सिद्ध साहित्य के लिए ही नहीं, अपितु आदिकालीन हिन्दी साहित्य के लिए भी बहुत उपादेय है। कृष्णपाद जैसे अनेक सिद्धाचार्यों की रचनाएँ इस अध्ययन में विशेष उपयोगी हैं, अतएव ऐसी रचनाओं को इस ग्रंथ में विशेष टिप्पणियों के साथ प्रस्तुत किया गया है; क्योंकि सिद्धों की रचनाएँ चाहे संस्कृत में हों या अपभ्रंश में, सहज हो सकती हैं किन्तु सरल नहीं।

दूसरा परिच्छेद

तांत्रिक बौद्धमत की कापालिक आचार्य-परंपरा और साहित्य

१. कृष्णवज्रपाद

इस सम्प्रदाय का आरम्भ कृष्णपाद से नहीं होता इसमें कोई संदेह नहीं कि कापालिक सिद्धाचार्यों में ये सर्वाधिक प्रतिष्ठित थे। इनके नाम के अनेक ध्वन्यन्तर मिलते हैं जैसे—कृष्णाचार्य, काण्हपा, कृष्णवज्र आदि। महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री ने कृष्णाचार्य नाम से इनका परिचय दिया है।[१] डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी ने कृष्णाचार्य के अनेक नामान्तरों पर विचार करते हुए अनेक काण्हपादों की संभावना व्यक्त की है। इनके १२ चर्यापदों में उनके नाम के अनेक ध्वन्यन्तर मिल जाते हैं।[२] नाम के इन्हीं विभिन्न रूपों तथा विभिन्न उल्लेखों के आधार पर डॉ. चटर्जी का कथन है कि यह पर्याप्त संभव है कि एक नहीं अनेक काहृण हुए हों। तिब्बती तेंजुर में अनेक कृष्णों का नाम तांत्रिक ग्रंथों के लेखकों के रूप में आया है। कैंब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में एक 'हेवज्रपंजिका योगरत्नमाला' नाम की हस्तलिखित पोथी है जिसके लेखक हैं, पंडिताचार्य श्री कहृण (=काह्न, कान्ह)-पाद। यह पोथी मगध में राजा गोविंदपाल के ३९वें वर्ष में लिखी गई थी। मगध के इस अंतिम राजा का समय लगभग ११९९ ई. है। यदि कान्ह अनेक थे तो उन काण्हों में से एक तंत्रग्रंथ के रचयिता काण्ह को भी उनमें से एक होना चाहिए। इस काण्ह का समय १२वीं शताब्दी का अंतिम दशक होना चाहिए।[३] कृष्णपाद ने चर्यापद सं. ३६ में अपने को 'पंडिआचाए' (पंडिताचार्य) कह कर जालंधरिपाद की साक्षी उपस्थित की है। उसी चर्यापद में उन्होंने अपने को 'कान्हिल लांगा' (नग्न काण्ह) भी कहा है। इसी चर्यापद की टीका में इन्हें कृष्णाचार्य कहा गया है। इन आधारों पर डॉ. चटर्जी ने अनुमान किया है कि चर्यापद सं. ३६ के कृष्णाचार्यपाद, कथा के अनुसार, नाथयोगी जालंधरिपाद के शिष्य थे। 'हेवज्रपंजिका योग-रत्नमाला' नामक तांत्रिक ग्रंथ के लेखक को पंडिताचार्य कहा गया है। अतः ये पंडिताचार्य कृष्णाचार्यपाद नाथयोगी जालंधरि की साक्षी देने वाले चर्यापद सं. ३६ के रचयिता कृष्णाचार्यपाद से अभिन्न हैं जिनका समय लगभग ११९९

---

१. *बो. गा. दो., पदकर्तादेर परिचय,* पृ. २४-२५।

२. *चर्यागीतिकोश* : सं. प्रबोधचन्द्र बागची तथा शांतिभिक्षु शास्त्री का संस्करण द्रष्टव्य।

३. *ओ. डे. बें. लें.,* वॉ. १, पृ. ११९-१२०।

ई. मानना चाहिए।[१] तात्पर्य यह कि हेवज्रपंजिका योग-रत्नमाला और चर्यापद ३६ के रचयिता कृष्णपाद एक हैं फिर भी अनेक कृष्णों की संभावना को टाला नहीं जा सकता, जैसा तेंजुर की सूची से ज्ञात होता है।

कृष्णपाद के अनेक होने की संभावना पर विचार करते समय उनके निवास-स्थान अथवा मूलदेश से संबंधित विवाद भी सामने आता है। डॉ. हरप्रसाद शास्त्री ने बताया है कि वे किस देश के थे। इस संबंध में तेंजुर में पंद्रह स्थानों पर उन्हें भारतवासी कहा गया है। केवल एक स्थान पर लिखा गया है कि वे ब्राह्मण थे और उड़ीसा से आए थे। वे भी हमारे अनुवादक महापंडित कृष्ण थे। वे ग्रंथकार नहीं थे। उन्हें किसी स्थान पर महाचार्य, कहीं महासिद्धाचार्य, कहीं उपाध्याय और कहीं मंडलाचार्य कहा गया है। एक स्थान पर उन्हें छोटा कृष्ण भी कहा गया है।[२] डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने भी इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए तेंजुर के आधार पर बताया है कि उसमें अनेक कृष्णाचार्यों के उल्लेख मिलते हैं और उनमें भेद करना तब तक सचमुच बड़ा कठिन है, जब तक अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक्‍ सामग्री उपलब्ध नहीं हो जाती।[३] राहुलजी ने तेंजूर में उल्लिखित ६ दर्शन ग्रंथों और ७५ तंत्र ग्रंथों के लेखकों में दो कृष्णाचार्यों की संभावना बताई है।[४] तारानाथ ने अपने इतिहास में एक कर्णरीपा नाम के सिद्ध का उल्लेख किया है जो मेवाड़ के राजा थे। यह भी बताया है कि अंतरपा नाम के एक सिद्ध के एक शिष्य का नाम नव कृष्णाचार्य था। कृष्णपाद का एक तिब्बती नाम चोंपापा भी मिलता है। राहुलजी ने इनका एक नाम चर्यापाद भी बताया है।[५] ये सभी सूचनाएँ यह संकेत करती हैं कि कृष्णपाद अनेक थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनुवादक और आचार्य ग्रंथकार कृष्ण भिन्न थे। हमारा तात्पर्य सिद्धाचार्य, पदकर्ता, दोहाकोशकार कृष्णाचार्य पाद से है जिन्होंने डॉ. चटर्जी के अनुसार हेवज्रपंजिका योगरत्नमाला नामक तांत्रिक ग्रंथ की रचना की थी। इनका कालविचार हम आगे करेंगे।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बती स्रोतों के आधार पर बताया है कि कृष्णपाद कर्णाटक देश में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने सस्क्य-व्कम्-बुम् को प्रमाण माना और यह संकेत किया कि कर्णाटक देश के उत्पन्न होने के कारण ही इन्हें कर्णपा कहते हैं। कृष्णपा नाम होने के संबंध में उन्होंने इनका शरीर काला होना कारण बताया है। उन्होंने सस्क्य विहार के पाँच प्रधान गुरुओं की ग्रंथावली स-स्क्य-व्कम्-बुम् के सहारे सिद्धों का जो वंशवृक्ष दिया उसमें कृष्णपाद १७वें सिद्ध हैं और उसमें इन्हें सोमपुरी का कायस्थ बतलाया है।[६] पैग-साम-जान-जैन के प्रमाण पर डॉ. विनयतोष

१. *चर्यागीतिकोष,* चर्यापद सं. ३६, 'सहज निदालू काह्लिला लाङ्गा'
शाखि करिब जालन्धरि पाए। पाखि न चाहइ मोरि पाण्डिआचाए।

२. *बौ. गा. दो., पदकर्तादेर परिचय,* पृ. २४।

३. *इं. बु. ए.,* पृ. ७५।

४. *पु. नि.,* पृ. १८८।

५. *मि. टे.,* पृ. ५८-५९, ३३; *गंगा पुरा.,* पृ. २४३; *हिन्दी काव्यधारा,* पृ. १४६।

६. *पु. नि.,* पृ. १८७, १४९।

भट्टाचार्य इन्हें उड़ीसा में एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न बताते हैं।[१] तारानाथ ने अपने इतिहास में कृष्णपाद अथवा कृष्णाचार्य के देश और कुल के संबंध में कई परम्पराओं का उल्लेख किया है। उनके अनुसार कृष्णाचार्य कदलीक्षेत्र गए थे वहाँ इनके बहुत से योगी अनुयायी थे। उन लोगों ने वहाँ के सभी लोगों का आवाहन किया कि वे जागृत होकर कृष्णाचार्य के शिष्य बनें। वहाँ अनेक लोगों ने शिष्यत्व ग्रहण कर सिद्धि प्राप्त की। तारानाथ ने पुराने तिब्बतियों की परंपरा के अनुसार बताया है कि कृष्णाचार्य का जन्म कर्ण देश में हुआ था। तत्कालीन भारतीय योगियों के अनुसार इनका जन्म पाद्यनगर में हुआ था जिसे विद्यानगर (विजयनगर) भी कहा जाता है। भारतीय परंपरा के अनुसार वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे और प्राचीन तिब्बतियों के अनुसार ये आर्य परिवार में उत्पन्न हुए थे। तारानाथ के समय में बुद्ध की एक भविष्यवाणी बंगाल को स्पर्श करने वाले उड़ीसा के संबंध में प्रचलित थी।[२] कृष्णाचार्य उस समय भी उपस्थित थे जब हाड़ी सिद्ध अथवा जालन्धरिपा गोपीचन्द्र पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए थे और उन्होंने अपने दृष्टिक्षेप मात्र से गोपीचन्द्र की अष्टधातु की मूर्ति को भस्म कर दिया था।[३]

राहुलजी ने उन्हें देवपालकालीन माना है और बताया है कि ये कितने ही दिनों तक सोमपुरी (पहाड़पुर, जि. राजशाही, बंगाल) में पंडित भिक्षु के रूप में रहे। बाद में उन्होंने सिद्ध जालंधरिपा से दीक्षा ग्रहण की।[४] पं. परशुराम चतुर्वेदी ने तारानाथ के प्रमाण पर यह बताया है कि कृष्णपाद के कान लम्बे थे, इसलिए भी उनका नाम ऐसा पड़ गया; किन्तु चतुर्वेदीजी ने इसका खंडन करते हुए यह प्रमाण भी दिया कि सिद्ध कण्हपा के जो चित्र टिबेट हाउस म्यूजियम के १३वें फलक तथा चित्रावली में (जिसे राहुलजी ने प्रकाशित कराया था) उपलब्ध हैं, उनमें से किसी में भी इनके कान लंबे नहीं दिखाए गए हैं। म्यूजियम के चित्र के विवरण से भी यही प्रमाणित होता है।[५] कान के लंबे होने के विषय में कई विद्वानों ने योगिसंप्रदायाविष्कृति को उद्धृत कर कृष्णाचार्य के जन्म पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इस ग्रंथ के अनुसार कृष्णाचार्य का जन्म ब्रह्मा के वीर्य के हाथी के कान में गिरने पर हुआ और संभवत: इसी प्रभाव से उनके कान भी लंबे हो गए।[६]

कृष्णपाद के देश, जाति और भ्रमण के संबंध में इधर जो नई सामग्री प्रकाश में आई है उससे इनके संबंध में कुछ नई सूचनाएँ मिलती हैं। तेंजुर के चतुराशीतिसिद्ध-प्रवृत्ति रचना के आधार पर कान्हुपा की जीवनी विस्तार से प्रस्तुत की जा सकती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजा देवपाल ने सोमपुरी विहार का निर्माण करवाया था। वहीं पर गुरु जालंधर ने आचार्य काह्नपा का अभिषेक किया। नाना प्रकार

१. *बु. ए.*, पृ. ७५ तथा *साधनमाला*, भाग २, भूमिका, पृ. ५३।
२. *मि. टे.*, पृ. ३२, ३८-३९।
३. *वही*, पृ. ३३।
४. *पु. नि.*, पृ. १८७।
५. *बौद्ध सिद्धों के चर्यापद*, चतुर्वेदी, पृ. ३८-३९।
६. *योगिसंप्रदायाविष्कृति*, १४वाँ अध्याय।

के अलौकिक चमत्कार दिखाने के बाद कृष्णपाद लंकापुरी जा रहे थे, परन्तु रास्ते में गर्व हो जाने के कारण समुद्र पार करते समय डूबने लगे। जालंधर ने आकर उन्हें बचाया और पुन: उपदेश दिया कि 'मेरे देश में (सालपुत्र) धर्मराज, धर्मफल (धर्मपाल) रहता है। वहाँ मेरा शिष्य तांतिपा है। वहाँ जाकर उसके कहने के अनुसार काम करो।' तांतिपा से मिलने पर कान्हपा को अनेक घृणित साधनाएँ करनी पड़ीं। इस प्रकार की साधना के लिए इच्छुक न होने पर काह्नपा मद्घो-कोरा (?) नामक देश चले गए। वहाँ पर आम रखाने वाली एक लड़की पर अपना मंत्र चलाया जिसका बड़ा बुरा परिणाम हुआ। लोगों के धिक्कारने पर लड़की को ठीक किया और स्वयं मंत्रों से घायल हो गए। उन्हें ठीक करने के लिए वाराही देवी श्रीपर्वत से औषधि (जड़ी) लेने गईं।[१]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि कृष्णपाद ब्राह्मण थे। उनके देश के संबंध में तीन मत मिलते हैं। प्रथम मत यह मानता है कि ये उड़ीसा-निवासी थे। दूसरे मत के अनुसार वे विजयानगर अथवा विजयनगर निवासी थे और तीसरे मत के अनुसार ये कर्णाटकदेशीय थे। इनमें से अधिक प्रमाण इनके पूर्वदेशीय होने के पक्ष में है। इनके अनुसार कृष्णपाद का अधिकांश समय बंगाल में बीता था। ये मूलत: उड़ीसा के निवासी हो सकते हैं किन्तु इनके साधनात्मक जीवन का वास्तविक आरंभ सोमपुरी विहार से होता है जिसका निर्माण राजा देवपाल ने करवाया था। वहीं इन्होंने जालंधरपाद से दीक्षा ली थी और वहीं इन्हें पर्याप्त सम्मान भी मिला था। सोमपुरी में इन्होंने अपने जीवन का पर्याप्त समय व्यतीत किया था।[२] यह संभव है कि विभिन्न तांत्रिक क्रियाओं में ये पहले भी निपुण रहे हों। राजकीय प्रश्रय मिलने और जालंधरपाद जैसे गुरु से दीक्षित होने पर इन्होंने अपने सिद्धियों और तांत्रिक क्रियाओं से जो चमत्कार दिखाए, उससे इनका सम्मान ही बढ़ा। परिणामत: इन्हें गर्व होना स्वाभाविक था। इन्होंने लंकापुरी की यात्रा की जो उस समय भी एक सिद्धपीठ के रूप में विख्यात रहा होगा। इन्होंने अपनी सिद्धियों पर अति विश्वास के कारण अहंकारग्रस्त होकर समुद्र को पार करना चाहा। अत: डूबने लगे। गुरुकृपा ने इनका उद्धार किया। इन्होंने अपनी असामर्थ्य और थोथेपन को समझा। प्राप्त सामग्री से ऐसा अनुमान होता है कि अपने शिष्य कानिफा को समर्थ बनाने के लिए जालंधरपाद ने कुछ विशेष तांत्रिक साधना में प्रतिष्ठित करना चाहा और इसके लिए उन्होंने इन्हें अपने शिष्य तांतिपा के पास भेजा। किन्तु वहाँ जाकर भी उसमें दत्त-चित्त न हो सके। इनका चित्त अभी भी स्थिर न था। वहाँ से चलकर मद्धो-कोरा (?) देश की यात्रा करते समय एक आम रखाने वाली लड़की पर मंत्र-प्रयोग किया जिसमें अंतत: इन्हें ही घायल होना पड़ा।

---

१. *विश्वभारती पत्रिका,* खंड ७, चैत्र २०२३ से फाल्गुन २०२३, पृ. २९० श्री द्विजराम यादव का 'वज्रयानी' 'सिद्ध कण्हपा की रचनाओं की सूची' शीर्षक लेख।

२. म.म. हरप्रसाद शास्त्री ने तेंजुर आदि के विभिन्न उल्लेखों के आधार पर भी कृष्णपाद के देश का निर्णय न हो पाने पर उनकी अपभ्रंश रचनाओं की भाषा की परीक्षा की और निष्कर्ष निकाला कि कान्हूपाद की भाषा को बंगला कहने में कुंठित होने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। (*बौ.गा.दो., पदकर्तादेर परिचय,* पृ. २४)।

वाराही देवी की कृपा से इनकी प्राण-रक्षा हुई। इन्होंने संभवतः कर्णाटक प्रदेश की भी यात्रा की हो। कदलीदेश की यात्रा में इन्होंने संभव है, विशेष वामाचारी साधना की हो। सिद्धि मिलने पर इनके बहुत से अनुयायी योगियों के योग से इनके अनुगामियों की संख्या बहुत बढ़ गई। इनके कान के लंबे होने के संबंध में किंवदन्ती मिलती है और दो-एक उल्लेख भी मिलते हैं। ये जन्मना ब्राह्मण तो थे किन्तु शरीर से काला होना इनका वैशिष्ट्य था। ये ब्राह्मण थे और पंडित थे। बाद में भिक्षु भी बन गए थे। संभव है इन तीनों बातों तथा तांत्रिक क्रियाओं में निपुण होने के कारण ही इनका अभिमान बढ़ गया हो। पंडित भिक्षु के रूप में इनकी सोमपुरी विहार में प्रतिष्ठा थी ही। बाद में सिद्धत्व प्राप्त कर लेने पर इनकी प्रसिद्धि बहुत बढ़ गई। यहाँ तक कि ये तिब्बत तक विश्रुत हो गए। तिब्बत में जिन महासिद्धों की विशेष मान्यता है उनमें शबरी, सरह, लुयीपा के साथ कृष्णपाद की भी गणना की जाती है।[१] अतिश दीपंकर श्रीज्ञान के काल में इनकी प्रसिद्धि तिब्बत में हो चली थी। उस समय भारतीय बौद्ध धर्म के परवर्ती रूप के जिन १४ प्रतिनिधियों के नाम वहाँ प्रसिद्ध थे उनमें कुशलि, जेतारि, डोम्बिपा, नारो आदि के साथ कृष्णपाद का भी नाम लिया जाता है।[२] पूर्वोक्त सारी सामग्रियों और सूचनाओं के इस समायोजन में, घटनाओं के क्रम के संबंध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता किन्तु प्राप्त सामग्री के आधार पर अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि कृष्णपाद के जीवन में इस प्रकार की घटनाएँ घटित हुई होंगी। इतर प्रामाणिक सामग्री के उपलब्ध होने पर इसमें संशोधन-परिवर्द्धन होना स्वाभाविक है।

२. जालन्धरिपाद

उपर्युक्त सामग्री से यह भी सूचना मिलती है कि कृष्णपाद के गुरु जालंधरपाद थे। लामा तारानाथ की सूचना से यह ज्ञात होता है कि कृष्णाचार्य इन्द्रभूति के शिष्य थे।[३] जालंधरपाद के संबंध में जो सूचनाएँ मिलती हैं, उनके दो स्रोत हैं—(१) बंगाली स्रोत, (२) तिब्बती स्रोत। बंगाली स्रोत लोक काव्यों से संबद्ध है और तिब्बती स्रोत में मुख्याधार किंवदन्तियाँ और धार्मिक प्रसिद्धियाँ हैं। दोनों को पूर्ण ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्य प्रामाणिक सूचनाओं और स्रोतों के अभाव में इन्हें ही स्वीकार करना पड़ता है और उनकी संगति बिठाकर उनकी परीक्षा करनी पड़ती है। कृष्णपाद के संबंध में भी ऐसी ही स्थिति है। लामा तारानाथ के द्वारा दी गई सूचनाओं में अनेक स्थलों में परस्पर विरोध है। उन्होंने बतलाया है कि आचार्य इन्द्रभूति और आचार्य कम्बल दोनों ने सिद्ध जालंधरी से दिव्य ज्ञान अथवा प्रकाश के लिए प्रार्थना की थी। सिद्ध जालंधरी पश्चिम के सिन्ध देश में ठाठा नामक नगर में एक निम्न जाति में उत्पन्न हुए थे। भौतिक सुखों के साधनों से सम्पन्न होकर भी ये बाद में एक विहार के भिक्षु बने। आचार्य कम्बल से प्राप्त उपदेशों में जब ये एक बार तल्लीन

---

१. *बुद्धिज्म ऑव टिबेट आर लामाइज्म,* वेंडेल, पृ. ३७८।

२. *अतिश एण्ड टिवेट,* अलक मुखोपाध्याय, पृ. ६८।

३. *मि.टे.,* पृ. १९।

थे तभी आकाशवाणी के निर्देशानुसार उदयमान (उड्डीयान) जाकर इन्होंने आचार्य इन्द्रभूति, भगवती लक्ष्मींकरा और आचार्य कचपाद से सभी तंत्रों की शिक्षा ली। दस दिनों के ध्यान के लिए श्मशान में जाकर श्री हेरुक के मंडल में मुक्त प्रवेश प्राप्त किया और चार डाकिनियों से अभिषेक प्राप्त कर महामुद्रासिद्धि प्राप्त की। इसके बाद इन्होंने उड्डीयान से ज्वालामुखी (कांगड़ा घाटी) में बहुत दिनों तक रहकर उसी स्थान के नाम पर सिद्ध जालंधरी नाम प्राप्त किया। वहाँ से इन्होंने नेपाल, चम्पारन, मालवा आदि देशों की यात्रा की और करुणा की वर्षा करते हुए अनेक चमत्कार किए और सद्धर्म का प्रचार किया। मालवा में ही इन्होंने भर्तृहरि को शिष्य बनाया। पूर्वकाल में इन्होंने शिशुत्व धारण किया था, अतएव इनका नाम बालपाद पड़ गया था। धर्मान्तरण के लिए ही इन्होंने हाड़ी का रूप धारण किया था, इसलिए हाड़ीपा नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी समय इन्होंने गोपीचन्द्र को भी शिष्य बनाया था। तारानाथ ने बड़े विस्तार से इनकी चमत्कारपूर्ण कथा लिखी है। इस कथा में जमीन के नीचे से अपने गुरु जालंधरपाद का उद्धार करने में कृष्णपाद (कान्हुपा) का भी चमत्कारपूर्ण योगदान वर्णित है। तारानाथ ने यह भी संकेत कर दिया है कि भरतहारी (भर्तृहरि-भरथरी) गोपीचन्द्र के चाचा थे।[१] इन्होंने दक्षिण में रामेश्वर के निकट एक जंगल में पिशाचों और डाकिनियों के उपद्रव को शांत किया था। मारुदेश की यात्रा कर ज्ञानगुप्त नाम के आचार्य को उपदेश दिया। पूर्वदेश में छह योगियों के आवाहन पर उन्हें जाकर उपदेश दिया जिनमें विभूतिचन्द्र ज्येष्ठतम था। लामा तारानाथ ने सिद्धाचार्य जालंधरि के चार बार संसार में प्रकट होने की बात कही है। उन्हीं के अनुसार उनके शिष्यों में सबसे पहला स्थान कृष्णाचारी का है। इसके बाद बुद्धज्ञानपाद, तांतिपा, छोटे विरुप, भर्तृहरि, गोपीचन्द्र आदि का है।[२]

तारानाथ द्वारा दिए गए इस विवरण से अनेक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं (१) आचार्य कंबलांबरपाद और आचार्य इन्द्रभूति दोनों ही समकालीन थे। (२) इनका जन्म सिन्ध में हुआ था। (३) इन्होंने आचार्य कम्बल से उपदेश ग्रहण किए थे। (४) इन्द्रभूति, लक्ष्मीकरा और कचपाद से भी इन्होंने तांत्रिक शिक्षा ग्रहण की थी। (५) इन्होंने श्री हेरुक की उपासना कर डाकिनियों की सहायता से महामुद्रा सिद्धि प्राप्त की थी। (६) ये कांगड़ा घाटी के ज्वालामुखी स्थान पर (जहाँ पर पहाड़ और जल के बीच से अग्नि प्रज्वलित होती थी) बहुत दिन रहे और जालंधर नाम से प्रख्यात हुए। (७) इन्होंने नेपाल, चम्पारन, मालवा, बंगाल, रामेश्वर, मारुदेश आदि की यात्रा की थी। (८) इन्होंने बुद्धज्ञानपाद, कृष्णाचार्य, तांतिपा, छोटे विरुप, भर्तृहरि, गोपीचन्द्र आदि को शिष्य बनाया जिनमें कृष्णपाद प्रमुख थे। जिन सिद्धों का नाम यहाँ लिया गया है, वे सभी निश्चय ही जालंधरपाद के ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ समकालीन रहे होंगे।

दूसरे विद्वानों ने अन्य सूत्रों से जो सामग्री एकत्रित की है, उससे इस विवरण की भिन्नता दिखाई पड़ती है। इनके देश, जन्म और कुल के संबंध में डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य

---

१. *मि. टे.*, पृ. २६-३५।

२. *वही*, पृ. ३५-३८।

ने तारानाथ के ही प्रमाण पर बताया है कि जालंधरपाद या हाड़िपा भर्तृहरि, विमलचन्द्र, कृष्णाचार्य, तांतिपा और धर्मकीर्ति के समकालीन थे। पैग-साम-जान-जैन के आधार पर उन्होंने गोपीचन्द्र-हाडीपा कथा का वर्णन किया और यह भी बताया कि गोपीचन्द्र चटगाँव के राजा थे। सब सामग्रियों को देखने के बाद निष्कर्ष रूप में वे केवल इतना ही कह सके हैं कि जालंधरिपा बहुत प्राचीन सिद्धाचार्य माने जाते थे तथा ये धर्मकीर्ति के समकालीन थे। ये सरोरुहवज्र से एक पीढ़ी बाद हुए थे। धर्मकीर्ति का समय उन्होंने निश्चित रूप से ७वीं सदी का प्रथमार्द्ध माना है। लगभग यही समय (७०५ ई.) जालंधरपाद का भी होना चाहिए। पुरानी बंगला की पुस्तकों में जालंधरपाद के संबंध में लगभग एक ही कथा न्यूनाधिक परिवर्तित रूप में मिलती है। वे पुस्तकें हैं—धर्ममंगल, शून्यपुराण, माणिकचांदेर गान, मयनामतिर गान, गोपीचांदेर गीत, गोपीचांदेर संन्यास आदि।[१]

जालंधरपाद के देश और कुल के संबंध में भिन्न सूचनाएँ राहुल सांकृत्यायन ने दी हैं। तिब्बती स्रोत के आधार पर ही उन्होंने भी यह बताया है कि जालंधरपाद का जन्म नगरभोग (?) देश में ब्राह्मण कुल में हुआ था। बाद में ये पंडित भिक्षु बने। सिद्ध घंटापाद के शिष्य सिद्ध कूर्मपाद थे। कूर्मपाद के संपर्क में आने पर ये उनके शिष्य बन गए। मत्स्येन्द्रनाथ, कण्हपा और तांतिपा इनके शिष्य थे। भोटिया ग्रंथों के प्रमाण पर राहुलजी ने इन्हें आदिनाथ बताया है जो नाथमत के पुरस्कर्ता माने जाते हैं। अर्थात् नाथ सम्प्रदाय का इन्हीं जालंधरनाथ से आरंभ हुआ।[२] नाथ सम्प्रदाय के स्रोतों से इनसे भी कुछ और भिन्न सूचनाएँ मिलती हैं। योगिसंप्रदायाविष्कृति के आधार पर जालंधरपाद की उत्पत्ति अलौकिक रूप में हुई थी। हस्तिनापुर के राजा को पुत्र नहीं था। इसलिए उन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञ किया। अग्निदेव के प्रसाद से एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। मत्स्येन्द्र ने इस पुत्र के मुख में विभूति डालकर इसे चिर आरोग्य प्रदान किया और समस्त भारत में उसकी कीर्ति के चिरस्थायी होने का आशीर्वाद दिया। यह बालक अंतरिक्षनारायण का अवतार था। कुमार जब सोलह वर्ष का हुआ तो विवाह की चर्चा होने पर तथा मित्रों से यह जानकर कि विवाह तो भवबंधन है, उसने देश-त्याग दिया। वन में अकस्मात् अग्नि प्रज्वलित होते देख भयभीत हो गया और अग्निदेव द्वारा आश्वस्त किया गया। उन्हीं की कृपा से महादेव ने कुण्डलादि देकर दीक्षा दी और मत्स्येन्द्र के साधनस्थल मार्तण्डपर्वत के नागवृक्ष के नीचे तपस्या करने को कहा। घोर तपस्या के उपरांत अकस्मात् मत्स्येन्द्र प्रकट हुए और जालंधरनाथ को तपस्या के आसन से मुक्त किया।[३] डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार जालंधरनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु भाई थे किन्तु तिब्बती परंपरा में मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु माने जाते थे। उन्होंने इस प्रसिद्धि की ओर संकेत किया है कि ये पंजाब में अधिष्ठित जालंधरपीठ नामक तांत्रिक स्थान में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने योगिसंप्रदायाविष्कृति की कथा का उल्लेख कर हस्तिनापुर के राजा को

---

१. *इं. बु. ए.*, पृ. ७१-७३।

२. *पुरातत्व निबंधावली*, पृ. १८३-१८४।

३. *ना. सं. इ. द. सा.*, पृ. ७७-८२।

पुरुवंशी राजा वृहद्रथ बताया है। यज्ञाग्नि से उत्पन्न होने के कारण ही इनका नाम ज्वालेन्द्रनाथ पड़ गया था।[१]

ऊपर जो विभिन्न विवरण दिए गए हैं, उनसे जालंधरपाद का संबंध उड्डीयान और जालंधर दोनों से दिखाई पड़ता है। इन दोनों नगरों की स्थिति के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने पैग-साम-जान-जैन के आधार पर बताया है कि उड्डीयान एक ऐसा स्थान है जहाँ तांत्रिक बौद्ध धर्म का सर्वप्रथम विकास हुआ। चौरासी सिद्धों के इतिहास में उड्डीयान एक ऐसे देश के रूप में वर्णित है जिसमें ५,००,००० कस्बे थे और वह दो राज्यों में विभाजित था। एक राज्य को सम्भल कहते थे और उस पर इन्द्रभूति का शासन था और दूसरा राज्य लंकापुरी था और जलेन्द्र के शासन में था। इनके एक पुत्र का विवाह इन्द्रभूति की बहन लक्ष्मींकरा के साथ हुआ था।[२] उन्होंने वैडेल, शरच्चन्द्रदास, सिल्वाँ लेवी, हरप्रसाद शास्त्री आदि के मतों का पर्यालोचन करने के बाद यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कामरूप, कामाख्या, सिरिहट्ट की तरह उड्डीयान भी आसाम में था जो बंगाल का एक भाग है।[३] डॉ. बागची ने बड़े विस्तार से डॉ. भट्टाचार्य के इस मत का खंडन करते हुए तथा अपने समर्थन के विभिन्न मतों को एकत्रित करते हुए यह सिद्ध किया है कि उड्डीयान वस्तुतः स्वात घाटी में ही है, आसाम अथवा उड़ीसा में नहीं।[४] डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उक्त विवादों को ध्यान में रखकर यह मत व्यक्त किया है कि वस्तुतः जालंधर पीठ के कहीं आस-पास ही उड्डीयान स्थित है। उन्होंने अपनी उल्लिखित समस्त परंपराओं के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि वे सभी जालंधरनाथ का जन्म-स्थान पंजाब की ओर ही निर्दिष्ट करती हैं। यह असंभव नहीं कि जालंधरनाथ का संबंध उड्डीयान और जालंधर नाम के दोनों बंधों से हो। इसका कारण उन्होंने यह बताया है कि सचमुच उड्डीयान में ज्वालेन्द्र नाम के राजा का उल्लेख मिलता है जो आगे चलकर बहुत बड़े सिद्ध हुए। आगे चलकर उन्होंने भी यह कहने में कठिनाई का अनुभव किया है कि जालेन्द्र राजा ही जालंधर हैं।[५]

इसी प्रकार दो विवादास्पद प्रश्न और उठते हैं। पहला उनकी जाति के संबंध में और दूसरा उनका लक्ष्मींकरा से संबद्ध होने के संबंध में। ऊपर जो विवरण प्रस्तुत किए गए हैं, उनसे जालंधरपाद की जाति के संबंध में तीन मत मिलते हैं—(१) ये नगरभोग देश के ब्राह्मण थे (तिब्बती परंपरा)। (२) ये हाड़ी या हलखोर थे (बंगाली परंपरा)। और (३) ये युधिष्ठिर की २३वीं पीढ़ी में उत्पन्न पुरुवंशीय राजा वृहद्रथ के पुत्र होने के कारण क्षत्रिय थे (योगिसंप्रदायाविष्कृति के अनुसार)। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने देश

---

१. *ना. स.*, पृ. ७८।

२. *इं. बु. ए.*, पृ. ४५।

३. *वही*, पृ. ४३-४६।

४. *स्ट. तं.*, पृ. ३७-४०, ४८।

५. *ना. सं.*, पृ. ७७-७८।

और जाति संबंधी इन तीन मतों की ओर संकेत किया है।[१] ऊपर हमने लामा तारानाथ द्वारा दी गई एक सूचना भी उद्धृत की है, जिसे हम चौथा मत भी मान सकते हैं तथा जिसके अनुसार जालंधरपाद पश्चिम के सिन्ध देश के ठाठा नामक स्थान में एक निम्न जाति में पैदा हुए थे। यह मत हाडी से संबंधित मत से भिन्न ही प्रतीत होता है। ऊपर कृष्णपाद संबंधी जो विवरण दिया गया है उसमें यह भी उल्लेख मिलता है कि कृष्णपाद को उपदेश देते समय जालंधरपाद ने धर्मपाल द्वारा शासित देश को अपना देश बताया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जालंधरपाद का देश बंगाल है। किन्तु जालंधर नगर पंजाब में है। डॉ. द्विवेदी का जालंधर नाम पर यह अनुमान है कि जालंधरपाद या तो जालंधरपीठ में उत्पन्न हुए थे या सिद्ध हुए थे।[२] इस प्रकार उनके मत से जालंधरपाद का देश पंजाब है, सिन्ध की स्वात घाटी नहीं है। फिर भी जालंधरपाद के जन्म-स्थान के बारे में वे कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सके। ऊपर के चार मतों में भी पंजाब का कोई स्थान नहीं प्रतीत होता। अन्य विवेचक भी किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके हैं। राहुलजी ने भी तिब्बती स्रोत की एक परंपरा को प्रामाणिक मानकर जालंधरपाद को नगरभोग का ब्राह्मण घोषित कर दिया है। ऊपर की कथाओं के अनुसार जालंधरपाद का इन्द्रभूति आदि से निकट संपर्क था और इन्होंने उनसे उपदेश भी ग्रहण किए थे। यह भी कथा मिलती है कि उनके पुत्र का विवाह इन्द्रभूति की बहन लक्ष्मीकंरा से हुआ था। अत: यह निश्चय है कि स्वात उपत्यका में उड्डीयान में ही इनका स्थान रहा होगा। वर्तमान स्थिति में जितनी सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि जालंधरपाद की जन्मभूमि और साधनास्थली स्वात उपत्यका में ही थी। उनके ब्राह्मण होने का समर्थन कई कथाओं से होता है।

इसी प्रसंग में डॉ. द्विवेदी ने एक दूसरा प्रकरण भी उठाया है कि वस्तुतः जालंधरपाद और लक्ष्मींकरा में कोई संबंध था? वे यह मानते हैं कि जालंधरनाथ विषयक जितनी भी परंपराएँ उपलब्ध हैं, उनमें इन्द्रभूति की प्रसिद्ध भगिनी लक्ष्मींकरा के साथ उनके किसी प्रकार के संबंध का कोई इशारा भी नहीं है। चौरासी सिद्धों में आदरणीया और ससम्मान स्मरणीया भगवती लक्ष्मींकरा के साथ इनका यदि कोई भी रिश्ता होता तो दन्तकथाओं में उसका कोई न कोई उल्लेख अवश्य मिलता।[३] इस संबंध में स्वयं द्विवेदीजी ने तारानाथ के साक्ष्य पर एक स्थान पर बताया है कि जालेन्द्र के पुत्र से इन्द्रभूति की बहन की शादी हुई थी और फिर निष्कर्ष निकालते समय यह बताया है कि उड्डीयान में ही कहीं लंकापुरी है जहाँ कोई जालेन्द्र नाम के राजा थे, जो सुप्रसिद्ध साधक इन्द्रभूति के बहनोई थे।[४] अपने इस निश्चय के बाद भी वे संदेह करते हैं कि इनमें परस्पर कोई संबंध था। हमने पहले ही जो विवरण दिया है, उसके आधार पर यह

१. *ना. स.*, पृ. ७८।
२. *वही*, पृ. ७८।
३. *वही*, पृ. ७९।
४. *वही*, पृ. ७८।

कहा जा सकता है कि जालंधरपाद ने लक्ष्मींकरा से तंत्रशिक्षा ग्रहण की थी। इतना संबंध स्वीकार करने के लिए तिब्बती स्रोतों से प्रमाण मिलते हैं। उनके विवाह की सूचना कहीं नहीं मिलती।

जालंधरपाद से संबंधित चार विचार बिन्दु और हैं—(१) इन्होंने कृष्णपाद को दीक्षा कब और कहाँ दी। (२) इन दोनों का समय क्या था? (३) जालंधरपाद की रचनाएँ कौन-कौन-सी हैं और (४) जालंधरपाद की गुरुशिष्य-परंपरा में किनकी गणना की जाती है। इन प्रश्नों से कृष्णपाद का सीधा संबंध है।

जालंधरपाद और कृष्णपाद संबंधी जो तथ्य और विवरण ऊपर प्रस्तुत किए गए हैं उनके आधार पर इन दोनों के समकालीनों की पृथक्-पृथक् सूची इस रूप में प्रस्तुत की जा सकती है—

जालंधरपाद—मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, आचार्य कम्बल, इन्द्रभूति, भगवती लक्ष्मीकरा, कचपाद, गोपीचन्द्र, मयनामती, भर्तृहरि, ज्ञानगुप्त, विभूतिचन्द्र, बुद्धज्ञानपाद, छोटे विरुप, विमलचन्द्र, धर्मकीर्ति, कूर्मपाद, धर्मपाल।

कृष्णपाद—गोविन्दपाद, जालंधरपाद, गोपीचन्द्र, देवपाल, तांतिपा, इन्द्रभूति, गोरक्षनाथ।

इनमें से कुछ तो उनके ज्येष्ठ समकालीन हैं और कुछ कनिष्ठ समकालीन। दूसरे, इनमें से कुछ सर्वथा ऐतिहासिक व्यक्ति हैं जिनका समय प्रायः निश्चित है और कुछ ऐसे हैं जिनका समय सर्वथा विवादास्पद है अथवा पूर्णतया अनिश्चित। अतः इनमें से निश्चित समय वाले व्यक्तियों के समय के आधार पर जालंधरपाद और कृष्णपाद का समय निश्चित किया जा सकता है। इन ऐतिहासिक व्यक्तियों में से यदि किसी एक का भी समय निश्चित हो जाए तो हमारे विवेच्य व्यक्तियों का समय निश्चित हो सकता है और शेष व्यक्तियों के समय से उनकी पुष्टि की जा सकती है। इसी आधार पर आगे विवेचन किया जा रहा है।

३. समकालीनता और सिद्ध परंपरा

उपर्युक्त सामग्री से यह ज्ञात होता है कि जालंधरपाद धर्मपालकालीन थे। उन्होंने स्वयं कृष्णपाद को उपदेश देते समय अपने देश के शासक का नाम धर्मपाल बताया था। धर्मपाल का राज्यारोहण ७७० ई. में हुआ था और वह लगभग ८१० ई. तक शासन करता रहा।[१] बौद्ध धर्म, साहित्य और तर्कशास्त्र के इतिहास में धर्मकीर्ति नाम के दो व्यक्तियों की चर्चा मिलती है। एक धर्मकीर्ति न्यायबिन्दु के रचयिता थे जिनका समय लगभग ६३५ ई. था। ये सौत्रान्तिक दार्शनिक थे। डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने एक दूसरे स्थल पर इनका समय ६५० ई. बताया है।[२] आचार्य नरेन्द्रदेव ने इनका समय ६५० ई. से ७०० ई. तक बताया है।[३] एक दूसरे तांत्रिक टीकाकार धर्मकीर्ति का भी उल्लेख मिलता है जिनका समय ९वीं ईस्वी शताब्दी था।[४] राहुलजी ने प्रथम धर्मकीर्ति की तो

१. *हिस्ट्री ऑव बंगाल,* सं. डॉ. आर.सी. मजुमदार, भाग १, पृ. १०४।
२. *ए हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलॉसॉफी,* डॉ. दासगुप्त, प्रथम खंड, पृ. १५१, ३०९।
३. *बौद्ध धर्म दर्शन,* आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ. १७०।
४. *स्टडीज इन दि बुद्धिस्टिक कल्चर ऑव इंडिया,* डॉ. लालमणि जोशी, पृ. ३५२, ४२६।

चर्चा की और उनका समय छठीं ई. शताब्दी माना किन्तु दूसरे धर्मकीर्ति की चर्चा उन्होंने नहीं की।[१] तांत्रिक धर्मकीर्ति ने हेवज्रतंत्र पर टीका लिखी थी। ये दीपंकर श्रीज्ञान के समकालीन थे। दीपंकर श्रीज्ञान का समय लगभग १०वीं ई. शताब्दी बताया जाता है।[२] डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य की स्थापना है कि सरहपाद धर्मकीर्ति (६००-६५० ई.) के समकालीन थे। बाद में जालंधरिपा के समय का विचार करते समय उन्होंने जालंधरिपा को भी धर्मकीर्ति का समकालीन माना किन्तु धर्मकीर्ति के समय का निर्देश नहीं किया।[३] सिद्धाचार्य कम्बलाम्बरपाद, कम्बल या कमरिपा घंटापाद के शिष्य थे। घंटापा देवपाल (८०९-८४९ ई.) के समकालीन थे।[४] इसी प्रकार कम्बलांबरपाद देवपाल के कनिष्ठ समकालीन थे। जालंधर के चौथे समकालीन इन्द्रभूति थे। भगवती लक्ष्मींकरा इनकी बहन थीं। अतः ये दोनों ही समकालीन थे। अर्थात् जालंधरपाद, इन्द्रभूति और लक्ष्मींकरा, ये तीनों ही समकालीन थे। इन्द्रभूति को राहुलजी ने अनंगवज्र और कम्बलपा दोनों का शिष्य माना है। कम्बलपा देवपालकालीन थे।[५] अतः इन्द्रभूति का भी देवपालकालीन होना निश्चित प्रतीत होता है। तारानाथ ने इन्द्रभूति नाम के दो या तीन व्यक्तियों का संकेत किया है।[६] इनमें से एक इन्द्रभूति उदयान के राजा थे और महापद्मवज्र के गुरु थे। दूसरे इन्द्रभूति नव इन्द्रभूति या लघु इन्द्रभूति थे जो सरोरुह और कम्बल के शिष्य थे। स्नेलग्रोव ने भी तीन इन्द्रभूतियों की ओर संकेत किया है। विभिन्न स्रोतों के आधार पर इन्द्रभूति, पद्मसंभव, लक्ष्मींकरा देवी आदि को ९वीं ई. शताब्दी के वर्तमान माना जा सकता है।[७] डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने जालंधरपाद का समय ७०५ ई. निश्चित किया है।[८] इसी प्रकार उन्होंने इन्द्रभूति का भी समय ६८७ ई. से ७१७ ई. के बीच स्थिर किया है। उन्होंने तिब्बती स्रोतों के आधार पर बताया है कि इन्द्रभूति पद्मसंभव के पिता थे जो शांतरक्षित के साथ तिब्बत गए थे और वहाँ ७४९ ई. में साम्ये विहार की ओदन्तपुरी विहार की कल्पना पर स्थापना की। ७४७ ई. में पद्मसंभव की अवस्था ३० वर्ष मानते हुए उन्होंने इन्द्रभूति का उक्त समय निश्चित किया। ७१७ ई. को ही आधारबिन्दु मानकर उन्होंने अन्य सिद्धों का समय १२ वर्ष की प्रत्येक पीढ़ी के हिसाब से निश्चित किया है। उन्होंने ऐतिहासिक व्यक्तियों के निश्चित काल को ध्यान में न रखकर तारानाथ और पैग-साम-जान-जैन द्वारा दी गई गुरु-शिष्य-परंपरा को आधार बनाया। परिणामतः सिद्धों का काल ऐतिहासिक व्यक्तियों के

---

१. *पु. नि.*, पृ. २१५-२१८।

२. *स्ट. बु. क. इं.*, पृ. ३५२, ४२६।

३. *इं. बु. ए.*, पृ. ६७, ७१।

४. *पु. नि.*, पृ. १५०, १५२।

५. *वही*, पृ. १५१।

६. *स्ट. बु. क. इं.*, पृ. २०५।

७. *वही*, पृ. ४५६-४५७।

८. *इं. बु. ए.*, पृ. ७१।

काल से मेल नहीं खाता। वस्तुतः तिब्बती स्रोतों से प्राप्त गुरु-शिष्य-परंपराएँ बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। एक ही गुरु-शिष्य के संबंध में अनेक परंपराओं के उल्लेख मिल जाते हैं जो एक-दूसरे से बहुत भिन्न होती हैं। इसलिए उनके आधार पर काल निर्णय भी बहुत विश्वसनीय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त डॉ. भट्टाचार्य ने जिस साम्ये विहार के स्थापना-वर्ष को आधार बनाया है, उसी के संबंध में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बती स्रोतों के ही आधार पर भिन्न मत दिया है और बताया है कि इस विहार का आरंभ ८३३ ई. में हुआ और समाप्ति ८३५ ई. में।[१] वे मानते हैं कि इन्द्रभूति के पुत्र का साम्ये विहार बनने के समय तिब्बत पहुँचना संभव नहीं।[२]

हमने ऐतिहासिक आधार पर जो काल संकेत उपर्युक्त रूप में एकत्रित किए हैं, उन्हें संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

धर्मपाल	— ७०० ई. ८१० ई. (८वीं ई. श. का अंत और ९वीं का आरंभ)
धर्मकीर्ति (दार्शनिक)	— ७वीं ई. शताब्दी
धर्मकीर्ति (तांत्रिक)	— ९वीं ई. शताब्दी
कम्बलांबरपाद	— ९वीं ई. शताब्दी
देवपाल	— ९वीं ई. शताब्दी
इन्द्रभूति लक्ष्मींकरा }	— ९वीं ई. शताब्दी

डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने जालंधरपाद को धर्मकीर्ति का समकालीन माना था। उन्होंने तारानाथ के प्रमाण पर ही इसका उल्लेख किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ धर्मकीर्ति नाम के दोनों व्यक्तियों में अभिन्नता का भ्रम होने के कारण ही जालंधरपाद का समय भी और पूर्ववर्ती हो गया। तांत्रिक धर्मकीर्ति और जालंधरपाद दोनों ही हेवज्रतंत्र से संबद्ध थे। जालंधरपाद तार्किक धर्मकीर्ति के समकालीन न होकर तांत्रिक धर्मकीर्ति के समकालीन थे। ऊपर के कालविचार संबंधी निष्कर्षों को देखने से यह स्पष्ट होता है। जालंधरपाद के उपर्युक्त समकालीन ९वीं ई. शताब्दी में विद्यमान थे। इस आधार पर जालंधरपाद को ९वीं ई. श. में विद्यमान माना जा सकता है। राहुलजी के और विचारों, मतों से सहमत न होकर भी उनके जालंधरपाद के समय संबंधी इस मत को स्वीकार किया जा सकता है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मत्स्येन्द्रनाथ विषयक सामग्री की परीक्षा कर यह स्थिर किया कि मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, जालंधर और कानिपा में से यदि किसी एक का भी समय ज्ञात हो जाए तो शेष का समय निश्चित हो सकता है। उन्होंने मत्स्येन्द्र का समय निश्चित कर यह निष्कर्ष निकाला कि नाथमार्ग के आदि

१. *तिब्बत में बौद्ध धर्म,* म. पं. राहुल सांकृत्यायन, पृ. १४।

२. *वही,* पृ. १७।

प्रवर्तकों का समय नवीं शताब्दी का मध्य भाग ही उचित जान पड़ता है।[१] निश्चय ही इन चारों में से मत्स्येन्द्र और जालंधर ज्येष्ठ समकालीन तथा गोरक्ष तथा कानिपा कनिष्ठ समकालीन स्वीकार किए जाएँगे। कृष्णपाद के भी समकालीनों में उन्हीं व्यक्तियों की गणना की जा सकती है जो जालंधरपाद के समकालीन थे। ऊपर के कृष्णपाद संबंधी विवरण को इस संबंध में पुनः देखा जा सकता है। तांतिपा भी जालंधरपाद के शिष्य थे, अतः वे भी मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, जालंधर, कृष्णपाद, इन्द्रभूति, लक्ष्मींकरा, धर्मकीर्ति के समकालीन कहे जाएँगे। इस प्रकार निश्चय ही कृष्णपाद और तांतिपा जालंधरपाद के कनिष्ठ समकालीन हुए और उनका समय होगा ९वीं ईस्वी शताब्दी का लगभग मध्य और अन्त्य भाग।

इस प्रकरण में दो प्रश्न और शेष हैं (१) जालंधरपाद और कृष्णपाद की गुरु-शिष्य-परंपरा और (२) जालंधरपाद और कृष्णपाद की रचनाएँ। दोनों प्रश्न एक प्रकार से एक-दूसरे से संबद्ध हैं। कारण यह है कि जालंधरपाद का कर्तृत्व हेवज्रतंत्र से संबंध है और उसकी साधना को विशेष रूप से प्रचारित-प्रसारित करने का श्रेय भी उनको दिया जाता है। कृष्णपाद की भी एक रचना है—हेवज्रपंजिका योगरत्नमाला। यह परीक्षा और अनुसंधान करने योग्य है कि इन सिद्धों की परंपरा में हेवज्रतंत्र का क्या स्थान है।

ऊपर जो विवरण कृष्णपाद और जालंधरपाद के विषय में दिया गया है उससे इन दोनों की गुरु-शिष्य-परंपरा के संबंध में निम्नलिखित तथ्य एकत्रित किए जा सकते हैं—

१. जालंधरपाद — कृष्णपाद, बुद्धज्ञानपाद, भर्तृहरि, छोटे विरुप, गोपीचन्द्र, तांतिपा, मत्स्येन्द्र।

२. घंटापाद — कूर्मपाद, जालंधरपाद।

३. आदिनाथ — जालंधरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ।

४. आचार्य कम्बल — जालंधरपाद।

५. इन्द्रभूति — कृष्णपाद।

इन सूचनाओं के आधार पर यदि विचार किया जाए तो जालंधरपाद के तीन गुरुओं के उल्लेख मिलते हैं, जिनकी परंपरा का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

१. आचार्य कम्बल → जालंधरपाद

२. आदिनाथ शिव → जालंधरनाथ

३. घंटापाद → कूर्मपाद → जालंधरपाद।

इसमें से दूसरी परंपरा शैव स्रोत से प्राप्त है और प्रथम तथा तृतीय तिब्बती बौद्ध स्रोत से। अर्थात् जालंधरपाद के दो बौद्ध गुरु थे—आचार्य कम्बल और कूर्मपाद। इसी प्रकार ऊपर की सूचनाओं के आधार पर कृष्णपाद के भी दो गुरु थे—जालंधरपाद और इन्द्रभूति। पहले कहा जा चुका है कि ये दोनों गुरु समकालीन थे। अनेक विवेचकों ने भी तिब्बती स्रोतों से बौद्ध सिद्धों की गुरु-शिष्य-परंपरा का जिसे साधनात्मक क्षेत्र में वंश- परंपरा कहा जाता है, निरूपण किया है। यद्यपि मैंने डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य के

१. *ना. स.*, पृ. ५४।

काल-निर्णय को स्वीकार नहीं किया है तथापि उनके द्वारा तिब्बती स्रोत से प्राप्त एवं उद्धृत वंश-परंपरा को हम यहाँ उद्धृत करते हैं। उन्होंने दो तिब्बती स्रोतों से दो परंपराएँ उद्धृत की हैं—

१. पद्मवज्र → अनंगवज्र → इन्द्रभूति → भगवती लक्ष्मींकरा → लीलावज्र → दारिकपा → सहजयोगिनी चिन्ता → डोम्बी हेरुक।
(पैग-साम-जान-जैन नामक ग्रंथ के आधार पर जिसकी रचना १९४७ ई. में हुई थी)।

२. सरह → नागार्जुन → शवरीपा → लुयीपा → वज्रघंटापा → कच्छपा → जालंधरीपा → कृष्णापाद → गुह्यपा → विजयपा → तैलोपा → नारोपा
(काजी दवासम दुप द्वारा लिखित चक्रसंवरतंत्र की भूमिका में उल्लिखित परंपरा के अनुसार)।[1]

इन परंपराओं से ज्ञात होता है कि जालंधरीपा सरहपाद द्वारा प्रवर्तित शिष्य परंपरा में थे और पद्मवज्र द्वारा प्रवर्तित परंपरा से इनका कोई संबंध नहीं था। इसी प्रकार कृष्णपाद का भी पद्मवज्र द्वारा प्रवर्तित परंपरा से कोई संबंध नहीं था। हमने जालंधरपाद के गुरुओं में कम्बलपाद और कूर्मपाद का नाम लिया है। काजी द्वारा दी गई परंपरा में जालंधरीपा कच्छपा के शिष्य बताए गए हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि तिब्बती स्रोत से जालंधरीपा के गुरु के तीन भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं—कम्बलाबंरपाद, कूर्मपाद, कच्छपा। काजी की सूची के अनुसार जालंधर और कृष्ण का गुरु-शिष्यत्व निर्विवाद है।

राहुलजी ने तिब्बती स्रोतों के आधार पर ही वंशावली प्रस्तुत की है। उनका मूलाधार तिब्बत के सस्क्य विहार के पाँच प्रधान गुरुओं (१०९१-१२७९ ई.) की ग्रंथावली 'स-स्क्य-व्कं-बुम्' है।[2] कुछ अन्य तिब्बती एवं भारतीय स्रोतों का भी यत्र-तत्र उन्होंने उपयोग किया है। उनके द्वारा दी गई वंशावली संबंधी उल्लेखों[3] के आधार पर निम्नलिखित रूप में वंशवृक्षों को तैयार किया गया है।

(१)

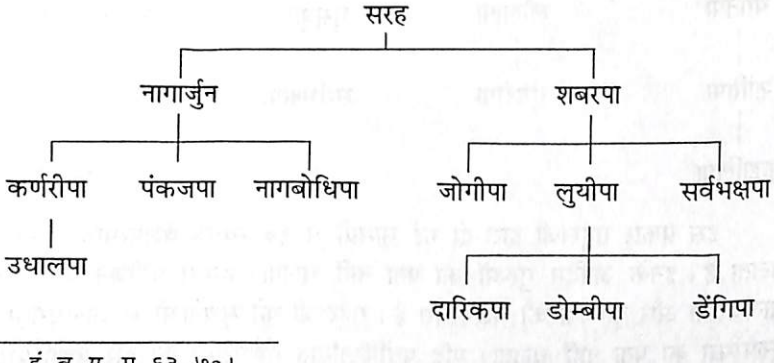

१. इं. बु. ए., पृ. ६३, ७०।
२. पु. नि., पृ. १४६।
३. वही, पृ. १४८-१५४।

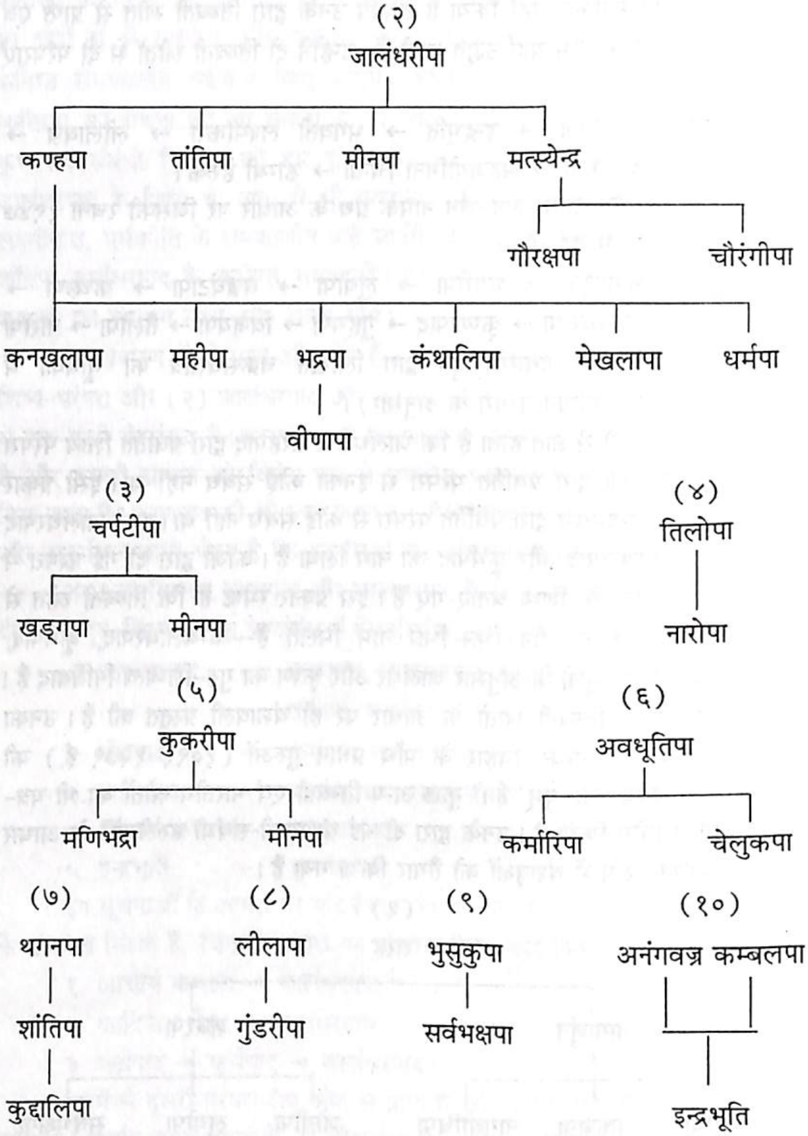

इस प्रकार राहुलजी द्वारा दी गई सामग्री से १० स्वतंत्र वंशपरंपराओं का पता चलता है। इनके आदिम गुरुओं का पता नहीं चलता। हमारा प्रयोजन यहाँ केवल जालंधरीपा और कृष्णपा की वंशपरंपरा है। राहुलजी की सूचनाओं से जालंधरीपा की गुरुपरंपरा का पता नहीं चलता। यदि पूर्वोल्लिखित वंशपरंपरा का इस वंशपरंपरा से संयोजन किया जाए तो जालंधरीपा की गुरु-शिष्य-परंपरा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

सरह (चित्र द्रष्टव्य) → नागार्जुन → शबरीपा → वज्रघंटापा → कच्छपा →
जालंधरीपा (चित्र द्रष्टव्य)

- जालंधरीपा
  - कण्हपा (चित्र द्रष्टव्य)
    - गुह्यपा
      - विजयपा
        - तैलोपा
          - नारोपा
    - कनखलापा (चित्र द्रष्टव्य)
    - महीपा
    - भद्रपा
      - वीणापा
    - कंथलिपा
    - मेखलापा (चित्र द्रष्टव्य)
    - धर्मपा
  - तांतिपा
  - मीनपा
  - मत्स्येन्द्र
    - गोरक्षपा
    - चौरंगीपा

इस प्रकार सरहपाद द्वारा प्रवर्तित की गई वंशपरंपरा में अंतिम सिद्ध नारोपा हैं। सरहपाद के तांत्रिक गुरु कौन थे, इसका पता नहीं चलता। इनके दार्शनिक गुरु हरिभद्र थे, इसकी सूचना अवश्य मिलती है। हरिभद्र के भी गुरु शांतरक्षित थे।[१] तिब्बती परंपरा से मीनपा और मत्स्येन्द्र जालंधरीपा के शिष्य हो सकते हैं, किन्तु भारतीय स्रोतों से इसकी पुष्टि नहीं होती। भारतीय नाथ-परंपरा से जालंधरीपा के गुरु आदिनाथ शिव थे जिन्हें मानवगुरुओं में नहीं गिना जाता। ऊपर के विवरण से निर्विवाद रूप में इसकी पुष्टि होती है कि जालंधरपाद के शिष्य कृष्णपाद थे। केवल एक स्रोत छोड़कर किसी अन्य स्रोत से इसकी पुष्टि नहीं होती कि कृष्णपाद इन्द्रभूति के शिष्य थे। इस प्रकार यदि भारतीय और तिब्बती दोनों स्रोतों की निर्विवाद सूचनाओं को एकत्रित किया जाए तो जालंधरपाद और कृष्णपाद की वंशपरंपरा को निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

- जालंधरपाद
  - कृष्णपाद
    - गुह्यपा
      - विजयपा
        - तैलौपा
          - नारोपा
    - कनखलापा
    - महीपा
    - भद्रपा
      - वीणापा
    - कंथलिपा
    - मेखलापा
    - धर्मपा
  - गोपीचन्द्र
  - भर्तृहरि
  - तांतिपा
  - बुद्धज्ञानपाद
  - छोटे विरुप

१. *दोहाकोश* (सिद्ध सरहपाद कृत), सं. राहुल सांकृत्यायन, भूमिका, पृ. १२-१३।

आगे के विवेचन इसी वंशपरंपरा को ध्यान में रखकर किए गए हैं। उपर्युक्त वंशवृक्ष में जालंधरपाद को बौद्ध सिद्धों की किसी गुरु-शिष्य-परंपरा से स्वतंत्र देखा जा सकता है अर्थात् ये बौद्ध सिद्धों की एक स्वतंत्र वंशपरंपरा के प्रवर्तक थे। इस वंश-परंपरा में बौद्ध और शैव दोनों परंपराओं का सामंजस्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

कृष्णपाद की महत्ता पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है। इनकी शिष्य-परंपरा में दो योगिनियों की गणना की गई है। ये हैं—कनखलापा और मेखलापा। कनखलापा का सस्क्य विहार की सिद्धों की सूची में ६७वाँ स्थान है। यह देवीकोट की निवासिनी थी।[१] तारानाथ ने इनके शिष्यात्व मात्र की सूचना दी थी।[२] डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने वर्णरत्नाकर की सूची को नाथ सिद्धों की सूची माना है। सस्क्य विहार की सूची के ६७वें सिद्ध कनखलापा को वर्णरत्नाकर के १४वें सिद्ध कनखल से वे तुलनीय मानते हैं।[३] मेखलापा भी योगिनी हैं तथा कृष्णपाद की शिष्या हैं। राहुलजी ने तिब्बती स्रोत के आधार पर इसकी जाति गृहपतिकन्या बताई है। इसका देश अगचे नगर है।[४] धर्मपाल के शासनकाल में उत्तरी बंगाल में देवीकोट नामक स्थान में एक विहार था। अद्वयवज्र और मेखला, दोनों का इस विहार से संबंध था।[५] वर्णरत्नाकर की ८४ सिद्धों की सूची में इसका स्थान १५वाँ है और सस्क्य विहार की सूची में ६६वाँ।[६] यह तो सर्वथा प्रसिद्ध ही है कि इन्होंने अपने गुरु कृष्णाचार्यपाद के दोहाकोश पर संस्कृत में टीका लिखी थी। द्विवेदीजी की सूचना के अनुसार ये तिब्बत में छिन्नमस्ता देवी के रूप में पूजी जाती हैं, यद्यपि उन्होंने इसका कोई प्रमाण नहीं दिया है।[७] इस सूचना की पुष्टि राहुलजी द्वारा प्रकाशित बौद्ध सिद्धों की चित्रावली के चित्र सं. ६६ से होती है, जो मेखलापा का चित्र है। इसमें चित्रित देवी का मस्तक कटा हुआ है और मस्तक भी बाएँ हाथ में है और दाहिने हाथ में खड्ग है।[८] तारानाथ ने भी यह प्रमाणित किया है कि मेखलापा कृष्णपाद की शिष्या थीं।[९]

इन दोनों मुख्यतम एवं प्रसिद्धतम शिष्याओं के अतिरिक्त कृष्णपाद के अन्य मुख्य शिष्य हैं—भादेपा, महीपा, कंथालिपा, धर्मपाद। इन सिद्धों के नामों, नामान्तरों, गुरु और शिष्यों के विषय में पर्याप्त विवाद है। इनके विषय में विद्वानों के मत-मतान्तर के विस्तार के लिए यहाँ उपयुक्त अवसर नहीं है। इनके लिए राहुल सांकृत्यायन,

---

१. *पु. नि.*, पृ. १५३।
२. *मि. टे.*, पृ. ४०।
३. *ना. सं.*, पृ. २८, ३१, १३९।
४. *पु. नि.*, पृ. १५३।
५. *आ. रे. क.*, पृ. १२।
६. *ना. सं.*, पृ. २८, ३१।
७. *वही*, पृ. १३९।
८. *पु. नि.*, पृ. १४४ थ।
९. *मि. टे.*, पृ. ४०।

पं. परशुराम चतुर्वेदी, तारानाथ, डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य, डॉ. शशिभूषण दासगुप्त, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, टिबेट हाउस म्यूजियम की विवरणिका, डॉ. धर्मवीर भारती आदि के विवेचनों को देखा जा सकता है।[१]

४. साहित्य

जालंधरपाद की शिष्य-परंपरा में कृष्णपाद का महनीय स्थान निर्विवाद है। ऊपर दो-एक उल्लेख ऐसे भी मिले हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि कृष्णपाद का हेवज्रतंत्र और साधन से विशेष संबंध था। प्रश्न यह है कि क्या जालंधरिपाद का भी इस हेवज्रसाधन से कोई संबंध था और क्या कृष्णपाद की रचनाओं में उसका विकास देखा जा सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि जालंधरपाद की रचनाओं का भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाए। कार्डियर के कैटलाग से यह सूचना मिलती है कि जालंधरपाद ने विमुक्तिमंजरी नाम की रचना लिखी थी।[२] तञ्जूर में इनके सात ग्रंथ मिलते हैं जिनमें से राहुलजी के अनुसार मगही के दो ग्रंथ हैं—

१. विमुक्तिमंजरी गीत (त—७३।४९)

२. हूँकार-चित्त-बिन्दु-भावनाक्रम (त—४८।७२)[३]

राहुलजी ने नैपाली चचो से राग निवेद, ताल माठ, (७६) में निबद्ध एक पद उद्धृत किया है जिसकी भाषा उनके अनुसार बहुत अस्पष्ट और भ्रष्ट है।[४] डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस अव्यवस्थित पद से जालंधरपाद के मत के विषय में एक धारणा बनाने की बात कही है और कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। उनकी मान्यता है कि जालंधरपाद के ऊपर सरहपाद के विचारों का प्रभाव होना बिल्कुल स्वाभाविक है। उक्त पद सरहपाद के बताए मत का समर्थन करता है।[५] ऊपर हमने काजी दवासुम दुप द्वारा प्रस्तुत एवं डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य द्वारा उद्धृत जो सरहपाद द्वारा प्रवर्तित वंशपरंपरा उद्धृत की है उसमें भी जालंधरपाद सरहपाद की ही परंपरा में आते हैं। इस दृष्टि से भी जालंधरपाद की रचनाओं पर सरहपाद के प्रभाव की पुष्टि होती है। इस संबंध में और भी प्रमाण उद्धृत किए जा सकते हैं। जालंधरपाद ने सरोरुहवज्र द्वारा लिखित एक ग्रंथ पर एक टीका लिखी थी और उनके द्वारा प्रवर्तित हेवज्रतंत्र का अनुसरण भी किया था।[६] डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बताया है कि डॉ. कादिए ने तेन्-जुर में प्राप्य बौद्ध तंत्र

---

१. भादेपा के लिए—*पु. नि.*, पृ. १५०, १९२, १५३; *बौ. सि. च.*, पृ. ५१; *मि. टे.*, पृ. ३२-३३, ४०-४१; *इं. बु. ए.*, पृ. ६३; *इं. बु. तं.*, पृ. ४९। महीपा के लिए—*पु. नि.*, पृ. १९२, १५१, १५३। *मि. टे.*, पृ. ३३। धामपा के लिए—*पु. नि.*, पृ. १५१, १५२, १८६; *ना. सं.*, पृ. १४१; *बौ. सि. च.*, पृ. ३३-३४, ५४; *टि. हा. म्यू.*, पृ. ३६; सिद्ध साहित्य, पृ. ५६; *बौ. ध. वि.*, पृ. २३९।

२. *पु. नि.*, पृ. १६३।

३. *वही*, पृ. १८४।

४. *वही*, पृ. १८४-१८५।

५. *ना. सं.*, पृ. ८८-८९।

६. *इं. बु. ए.*, पृ. ७४।

ग्रंथों की जो तालिका फ्रेंच में प्रकाशित की है उसके पृ. ७८ पर जालंधरपाद लिखित एक टिप्पणी ग्रंथ 'शुद्धिवज्रप्रदीप' उल्लिखित है। यह ग्रंथ सरोरुहपाद के प्रसिद्ध तंत्र ग्रंथ हेवज्रसाधन पर लिखा गया था।[१] इन विवरणों एवं तथ्यों से यह प्रमाणित हो जाता है कि साधना, वंशपरंपरा और रचना की दृष्टि से जहाँ तक जालंधरपाद के बौद्ध सिद्धत्व का सवाल है, वे स्पष्टतया आदि सिद्ध सरोरुहपाद की परंपरा में थे। जिन रचनाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनमें से चचो के गीत को छोड़कर और कोई रचना, मुद्रित रूप में इस समय उपलब्ध नहीं है।

जालंधरपाद के शिष्य कृष्णपाद की रचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं और इन्होंने अपने गुरु की तुलना में अधिक रचनाएँ लिखी भी थीं। कृष्णपाद कवि, पंडित और सिद्ध तीनों थे। राहुलजी का उनके संबंध में यह कथन कि कृष्णपाद अथवा कण्हपा चौरासी सिद्धों में कवित्व और विद्या दोनों की दृष्टि से सबसे बड़े सिद्धों में हैं,[२] सर्वथा उचित और संगत है। उनकी जो बहुत-सी रचनाओं की लंबी सूची मिलती है, उससे वे पंडिताचार्य भी स्पष्ट ही प्रतीत होते हैं, यद्यपि डॉ. शशिभूषण दासगुप्त 'पंडिताचार्य' शब्द के प्रयोग पर डॉ. चटर्जी से असहमत हैं।[३] तात्पर्य यह कि कृष्णपाद ने चाहे अपने लिए उक्त ३६वें चर्यापद में 'पंडिआचाए' शब्द का प्रयोग न किया हो किन्तु उनके पंडिताचार्यत्व में, इनकी रचनाओं को देखते, कोई संदेह नहीं। शास्त्रीजी ने बताया था कि इन्होंने कुल मिलाकर ५७ ग्रंथ लिखे थे। उनमें से दो बंगला में थे—(१) दोहा-कोष तथा (२) कान्हूपाद गीतिका। उन्होंने कृष्णाचार्य के १२ संकीर्तन के पदों का भी उल्लेख किया जिन्हें उन्होंने अपने 'बौद्ध गान ओ दोहा' में प्रकाशित किया था।[४] इन्होंने दर्शनग्रंथों में शांतिदेव के बोधिचर्यावतार नामक ग्रंथ पर बोधिचर्यावतार दुःख-बोध-निर्णय नामक टीका लिखी थी। इनके निम्नलिखित कविता ग्रंथ मगही (जिसे पं. हरप्रसाद शास्त्री बंगला कहते हैं) में थे जिनके भोटिया अनुवाद तेन्-जुर में मिलते हैं—

१. कान्हपाद गीतिका — (त—८५।३०)
२. महादुण्ढन मूल — (त—८५।३०)
३. वसंततिलक — (त—(१२।३०)
४. असम्बद्ध दृष्टि — (त—४८।४७)
५. वज्रगीति — (त—४७।३३)
६. दोहाकोश — (त—४७।४४)[५]

राहुलजी ने अन्यत्र बताया है कि तेन्-जुर में दर्शन पर छह और तंत्र पर ७४ ग्रंथ इनके मिलते हैं।[६] इसी प्रकार इन्होंने हेवज्रतंत्र पर हेवज्रपंजिका अथवा योगरत्न-माला

१. *ना. सं.*, पृ. ७७।
२. *पु. नि.*, पृ. १८८।
३. *आ. रे. क.*, पृ. ८ पादटिप्पणी; चर्यागीतिकोष, चर्यापद सं. ३६।
४. *बौ. गा. दो.* पदकर्तादेर परिचय, पृ. २५।
५. *पु. नि.*, पृ. १८८।
६. *गंगा पुरातत्वांक*, पृ. २५४।

नाम की टीका लिखी थी जिसके हस्तलेख की एक प्रति कैम्ब्रिज में सुरक्षित है।[१] कृष्णाचार्यपाद के इस ग्रंथ की एक ताड़पत्र प्रति नेवारीलीपि में लिखित है और राष्ट्रीय अभिलेखालय, काठमांडो में सरक्षित है।[२]

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि कृष्णपाद ने सोमपुरी विहार में बहुत दिनों तक निवास किया था। उन्होंने वहाँ 'धर्मकामदीपसिद्धि' नामक ग्रंथ की रचना की थी।[३] ऊपर यह भी संकेत किया गया है कि कृष्ण अनेक थे। उनमें से तीन का ज्ञान तो स्पष्ट है—अनुवादक कृष्ण, सिद्धाचार्य कृष्ण और नवकृष्ण अथवा छोटे कृष्ण। कृष्ण के नाम से जितनी रचनाएँ मिलती हैं, उनमें से किस कृष्ण की कौन-सी रचना है, इसका निर्णय अभी तक लोग नहीं कर सके हैं। अत: अभी तक उनके नाम से जो ग्रंथ मिले हैं उनकी सामान्य सूची ही लोग अभी तक प्रस्तुत करते रहे हैं। इधर तिब्बती त्रिपिटक में कृष्ण अथवा काह्न के नाम से बहुत से ग्रंथों का पता लगाया गया है। ऊपर कृष्णपाद के ५७ (शास्त्रीजी के अनुसार) तथा ७४ (राहुलजी के अनुसार) ग्रंथों की संख्या का उल्लेख हम कर चुके हैं। प्रो. सुजुकी द्वारा संपादित तिब्बती त्रिपिटक के अनुसार काण्हपाद ने कुल ८६ ग्रंथों की रचना की थी। म.म. हरप्रसाद शास्त्री ने भी १२ ग्रंथों का उल्लेख किया है।[४]

ग्रंथों के नामों पर यदि विचार किया जाए और उनके संबंध में लेखक और अनुवादक संबंधी विवरणों को ध्यान में रखा जाए तो पाँच ग्रंथों की कुल ११ प्रतियों की गणना उपर्युक्त तिब्बती त्रिपिटक के ८६ ग्रंथों में की गई है। कृष्णपाद के एक ही मूलग्रंथ के अनेक व्यक्तियों द्वारा किए गए अनुवाद अलग-अलग ग्रंथ के रूप में गिन लिए गए हैं। अन्य ग्रंथों के सामने आने पर ऐसे ग्रंथों की संख्या बढ़ सकती है। इस संबंध में दूसरी बात यह कही जा सकती है कि श्री द्विजराम यादव ने तिब्बती त्रिपिटक पर आधारित अपने लेख के अंत में यह भी कह दिया है कि नाम वैभिन्न्य के आधार पर कहा जा सकता है कि काह्नपा और कृष्ण दो भिन्न सिद्ध थे।[५] कृष्णपाद के नाम से दिए ग्रंथों की इतनी लम्बी सूची में प्रामाणिकता संबंधी संदेह के अनेक अवसर हैं। ग्रंथों के लेखक के अनेक रूपात्मक नाम मिलते हैं, जैसे—कृष्ण (काह्नपाद) कृष्ण, श्रीकृष्ण, कृष्णपाद, कृष्णपंडित, कृष्णपाद, कृष्णवज्र, काह्नपाद, कृष्णस्, कलापमह (कृष्णपाद), कृष्णपाद (कुपलि) आदि। स्पष्ट है कि ये नाम एक ही व्यक्ति के नहीं हो सकते। इसी प्रकार मूल संस्कृत अथवा अपभ्रंश से तिब्बती में अनुवाद करने वालों के बहुत से नाम हैं जिनमें कृष्ण नाम से संबद्ध अनेक नाम हैं, जैसे—कृष्ण पंडित, कृष्णपाद, कृष्ण, महापंडित कृष्ण, उड़ीसा के निवासी आदि। ये नाम भी एक ही व्यक्ति की ओर संकेत नहीं करते। इस प्रकार यह सम्मिलित सूची जहाँ एक ओर कृष्णपाद के ग्रंथों की संख्या ९८ तक पहुँचाती

१. *इं. तां. बु.*, पृ. १२५ तथा पृ. १६७, पादटिप्पणी—हस्तलेख-कैम्ब्रिज एड. नं. १६९९।
२. *बृहत् सूचीपत्रम्*, बौद्ध विषयक सप्तम भाग, तृतीय खण्ड, पृ. १४७, क्रमांक तृ. ३६४।
३. *विश्वभारती पत्रिका*, खण्ड ७, अंक ३, १९६६, पृ. २९०।
४. *विश्वभारती*, वही, पृ. २९२-२९८।
५. *विश्वभारती पत्रिका*, खण्ड ७, अंक ३, अक्टूबर-दिसम्बर, १९६६, पृ. २९८।

है, वहीं भ्रमों और विवादों की वृद्धि भी कर देती है। अब कृष्णपाद के मूल ग्रंथों का संधान और भी विवादास्पद, कष्टसाध्य और समयसाध्य हो गया और यह तब तक रहेगा जब तक यह निश्चित न हो जाए कि कृष्णपाद कितने थे, कहाँ-कहाँ के थे और उनकी कौन-कौन-सी रचनाएँ थीं। इन रचनाओं में हेवज्रसाधन से संबंधित रचनाएँ भी हैं। हेवज्रतंत्र और हेवज्रसाधन से कृष्णपाद संबंधित थे, इसकी ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं। अधिक संभावना है कि हेवज्रसाधन और तंत्र से संबंधित उक्त रचनाएँ उस कृष्णपाद की हों जो हेवज्रपंजिका, चर्यापदों और दोहाकोश के रचयिता थे। यदि सभी रचनाओं को प्रामाणिक माना जाए तो निश्चय ही कृष्णपाद कर्मकाण्डप्रधान एवं बाह्याडंबरप्रधान वज्रयान के एक बहुत बड़े शास्त्रनिर्माता के रूप में हमारे सामने आते हैं, जिसकी कोई संगति चर्यापदों से बैठती नहीं दिखाई पड़ती। इस दृष्टि से प्रो. शुजुकि द्वारा संपादित तिब्बती त्रिपिटक के आधार पर बनाई गई कृष्णपाद की रचनाओं की यह सूची पूर्णतया विश्वसनीय नहीं है।

जिन ग्रंथों को ऊपर सूचीबद्ध किया गया है, उनमें से कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जिनके हस्तलेख राष्ट्रीय अभिलेखालय, काठमांडो में सुरक्षित हैं। ये ग्रंथ हैं—

वसन्ततिलकम् — क्रमांक तृ. ३२४, तृ. ५९८ तथा प्र. ३५६ ग्रंथकार—कृष्णपादाचार्य।[1]

वज्रावली — क्रमांक प्र. १६९७ ख. २, ग्रंथकार महापंडितावधूत कृष्णवज्रपाद।

हेवज्रपंजिका (योगरत्नमाला नाम्नी)—क्रमांक तृ. ३६४।[2]

इनमें से वज्रावली नाम की रचना ऊपर के तिब्बती त्रिपिटक में अन्तर्गणित नहीं है। ये रचनाएँ संस्कृत में लिखी हुई हैं, मगही में नहीं। कृष्णपाद के १३ चर्यापदों का उल्लेख हम इस परिच्छेद के आरंभ में ही कर चुके हैं। बौद्ध सिद्धाचार्यों के चर्यापदों अथवा चर्यागीतियों के संग्रह को मुनिदत्त की संस्कृत टीका के आधार पर म.म. हरप्रसाद शास्त्री ने चर्याश्चर्यविनिश्चय कहा था जिसे विभिन्न प्रमाणों के आधार पर डॉ. बागची ने खंडित कर आश्चर्यचर्याचय नाम का प्रतिपादन किया।[3] शास्त्रीजी ने इसे सटीक संग्रह ग्रंथ का प्राचीन नेवारीलिपि में लिखित नेपाली प्रति से संपादन किया जिसमें कृष्णपाद के १२ चर्यापद थे। आश्चर्यचर्याचर्य के नेपाली ताड़पत्रीय हस्तलेख में ३४वें पत्र के बाद चार पत्र गायब हैं। ३४वें पत्र के अंत तक भुसुकुपाद का राग बड़ारी का चर्यापद (सं. २३) पूर्ण रूप में प्राप्य है किन्तु इसके बाद की टीका पत्रों के अप्राप्त होने से नहीं मिली। शास्त्रीजी ने बौद्ध गान ओ दोहा में भुसुकपाद का २३वाँ चर्यापद तो पूरा दिया है किन्तु उसके बाद ही तन्त्रीपाद के चर्यापद (सं. २५) के तृतीय पद की संस्कृत टीका जोड़ दी है जिससे यह भ्रम हो जाता है कि यह टीका भुसुकुपाद के उक्त

१. *वृहत्सूचीपत्रम्,* बौद्धविषयक सप्तमोभाग, तृतीय खंड, पृ. ३७-४१।

२. *वही,* पृ. ३४, १४७।

३. *तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य,* पृ. २५५।

२३वें चर्यापद की संस्कृत टीका है, वैसे उन्होंने पादटिप्पणी में ४ पत्रों के गायब होने की सूचना दे दी है। डॉ. बागची ने इन लुप्त चार पत्रों की सामग्री का उद्धार तिब्बती अनुवाद के आधार पर किया जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित रचनाएँ आती हैं—

१. भुसुकुपाद रचित २३वें चर्यापद की संस्कृत टीका (सम्पूर्ण) का तिब्बती अनुवाद से पुनः संस्कृत में रूपान्तर।
२. कृष्णपाद रचित २४वें चर्यापद का संस्कृत रूपान्तर तथा उसकी पूर्ण संस्कृत टीका का तिब्बती अनुवाद से पुनः संस्कृत में रूपान्तर।
३. तन्त्रीपाद रचित २५वें चर्यापद तथा टीका के दूसरे पद तक के तिब्बती अनुवाद का पुनः संस्कृत में रूपान्तर।

यहाँ २४वाँ चर्यापद कृष्णपाद रचित है। हमारा प्रयोजन भी यहाँ केवल कृष्णपाद के चर्यापद से है। इसके पूर्व कृष्णपाद के केवल १२ चर्यापद उपलब्ध थे। डॉ. बागची के प्रयास से कृष्णपाद के १३वें चर्यापद का मूल तो नहीं किन्तु उसका संस्कृत रूपान्तर अवश्य प्राप्त हो गया। इस प्रकार कृष्णपाद के १२ चर्यापद तो मूल अपभ्रंश में प्राप्त हैं तथा एक चर्यापद संस्कृत रूपान्तर में। इस २४वें चर्यापद की टीका भी बहुत संक्षिप्त है जिसका कारण अज्ञात है। इसी प्रकार डॉ. बागची ने ४८वें चर्यापद और उसकी टीका के अधिकांश भाग का उद्धार किया। उनके ये कार्य सर्वप्रथम कलकत्ता विश्वविद्यालय के जर्नल में और बाद में पुस्तकाकार रूप में चर्यागीतिकोष नाम से शांतिभिक्षु शास्त्री के सहसंपादकत्व में प्रकाशित हुए। इस संबंध में और जो प्रयास हुए थे उनका अन्य बहुत से लोगों ने विस्तार किया है, यहाँ उसे प्रस्तुत करना पिष्टपेषण मात्र होगा।

कृष्णपाद का दोहाकोश सर्वप्रथम म.म. हरप्रसाद शास्त्री ने चर्यापदों के साथ बौद्ध गान ओ दोहा में मेखला टीका के साथ प्रकाशित किया था जिसका हस्तलेख उन्हें नेपाल से मिला था।[१] इस हस्तलेख में ही यह उल्लेख है कि इसकी प्रतिलिपि १०२७ नैपाली संवत् (—१९०७ ई.) में हुई है और इसकी टीका मेखला ने की है। 'ल शां मिस्तीक्स' में डॉ. शहीदुल्ला ने तिब्बती में सुरक्षित अनुवाद के आधार पर उक्त हस्तलेख के पाठों का संशोधन किया। डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची के अनुसार श्री गुह्येन्द्र तिलक तंत्र के प्रबोधन पटल में इस दोहाकोश का एक और पाठ मिलता है। इस पाठ का आधार बिब्लियाथीक नेशनेल पेरिस में सुरक्षित संस्कृत ग्रंथ सं. ४७ का हस्तलेख है। इस हस्तलेख में कृष्णपाद के दोहाकोश की एक दूसरी टीका मिलती है। डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने अपने दोहाकोश में इस हस्तलेख के पाठान्तरों का उपयोग किया है जिनकी उपलब्धि उन्हें उस हस्तलेख पर कार्य करने वाले श्री एस. दासगुप्त से हुई थी।[२] डॉ. बागची ने अपने इस संपादित संग्रह में सरहपाद और तिल्लोपाद के भी दोहाकोशों को संपादित किया है। उन्होंने दोहाकोश के प्रथम भाग में ही यह आश्वासन दिया था कि दूसरा भाग इन दोहाकोशों पर टिप्पणियाँ, अनुवाद तथा लेखकों तथा

१. *राष्ट्रीय अभिलेखालय,* काठमांडो, हस्तलेख सं. तृ. ७२१।
२. *दोहाकोश,* संपादक डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची, प्रीफेस, पृ. २।

सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से संबंधित समस्याओं के विस्तृत अध्ययन से संवलित होगा[१] किन्तु वे इस कार्य को सम्पन्न करने के पूर्व ही दिवंगत हो गए।

कृष्णपाद की रचनाओं के उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनके चर्यापद और दोहाकोश को हम इनकी प्रामाणिक रचना मान सकते हैं यद्यपि डॉ. सुकुमार सेन ने इनके १३ चर्यापदों को भी अनेक व्यक्तियों की रचना माना है।[२] फिर भी, वर्तमान स्थिति में हम इन चर्यापदों को एक ही व्यक्ति की रचना मानकर आगे विवेचन करेंगे। इन चर्यापदों तथा दोहों के सिद्धान्तों तथा साधना-पद्धति पर एकत्र विचार डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है;[३] किन्तु प्रत्येक दोहे तथा चर्यापद पर सैद्धांतिक तथा साधनात्मक विचार अभी तक नहीं हुआ है।

यह कार्य तब तक संभव नहीं, जब तक इस पंडित कवि की रचनाओं पर भाष्य न लिखे जाएँ। इनकी अपभ्रंश रचनाओं का हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध नहीं है और न संस्कृत टीका का ही अनुवाद हुआ है। सौभाग्य से कृष्णपाद के चर्यापदों पर मुनिदत्त की तथा दोहाकोश पर मेखला की संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। मेखला कृष्णपाद की शिष्या थी अत: उसके द्वारा लिखी हुई टीका कृष्णपाद के मत, सिद्धान्त और साधना को स्पष्ट करने में विशेष सहायक हो सकती है। यदि वह चर्यापद जिसमें कृष्णपाद ने अपने को कापालिक योगी के रूप में प्रस्तुत किया है और वह चर्यापद जिसमें उन्होंने जालंधरपाद के प्रति सम्मान व्यक्त किया है, एक ही कृष्णपाद के हैं तो निश्चय ही बौद्ध कापालिक मत के संधान का प्रयत्न चर्यापदों और दोहाकोश के आधार पर किया जा सकता है। बौद्ध कापालिक मत के स्वरूप-निर्वचन के लिए तत्कालीन अन्य स्रोतों का भी उपयोग किया जा सकता है। तांत्रिक बौद्ध देवताओं के स्वरूप और अंकन के साथ-साथ संबद्ध साधनों को भी ध्यान में रखा जा सकता है।

५. तिब्बती में अनूदित साहित्य

बौद्ध कापालिकों से संबंधित सामग्री के लिए अधिकांश साहित्य अप्रकाशित और अनुसंधेय है। सरहपाद के नाम से बुद्धकपाल तंत्र नामक ग्रंथ का उल्लेख मिलता है; किन्तु मूल संस्कृत में यह ग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं है। इस ग्रंथ की संस्कृत टीका 'वज्रकपालतंत्र टीका' नाम से उपलब्ध है जिसके रचनाकार अभयाकर गुप्त हैं। यह अप्रकाशित है। डॉ. शशिभूषण दासगुप्त ने इस टीका का उपयोग अपने ग्रंथ (इं. तां. बु.) में किया है। तिब्बती में बुद्धकपाल से संबंधित अनेक ग्रंथ अनूदित रूप में उपलब्ध हैं। उनकी सूची विवरण के साथ नीचे दी जा रही है—

१. श्री बुद्धकपाल नाम योगिनी तंत्रराज, केंजुर, सं. ४२४, अनु.—गयाधर।

२. श्री बुद्धकपालतंत्र पञ्जिका ज्ञानवती, तेंजुर, सं. १६५२, रचनाकार-सरह, अनु.—गयाधर।

---

१. *दोहाकोश,* संपादक डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची, प्रीफेस, पृ. २।

२. बौ. सि. के चर्यापद, चर्यापदों के रचयिता, पृ. ३६-३८।

३. *ना. स.,* पृ. ९०-९५।

३. श्री बुद्धकपालतंत्र तत्त्व चन्द्रिका पञ्जिका, तेंजुर, १६५३, रचनाकार-पद्मदोर्जे (पद्मवज्र)।

४. श्री बुद्धकपालतंत्रराजटीकाभयपद्धति, तेंजुर, सं. १६५४, रचनाकार—अभयकार गुप्त।

५. श्री बुद्धकपाल साधन, तेंजुर, सं. १६५५, रचनाकार—सरह, अनुवादक-गयाधर।

६. श्री बुद्धकपालमण्डलविधिक्रमप्रद्योतन, तेंजुर, सं. १६५७, रचनाकार—सरह, अनुवादक-गयाधर।

७. कपालपूजाविधि, तेंजुर, सं. १७१९, अनुवादक—परहित।[१]

इस सूची के ग्रंथों और रचनाकार के नामों को देखने से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध कापालिक साधना के प्रधान पुरस्कर्ता सरहपाद ही थे। पद्मवज्र भी उनका नामान्तर है। यह महत्त्वपूर्ण है कि अभयाकर गुप्त रचित 'बुद्धकपालतंत्र टीका' का मूल संस्कृत के साथ-साथ तिब्बती रूपान्तर भी उपलब्ध है। बौद्ध कापालिक तत्त्वों के अनुसंधान के लिए अन्य अनेक अनूदित ग्रंथों की परीक्षा आवश्यक है।

●

१. *ए कम्प्लीट केटेलॉग आफ दि टिबेटेन बुद्धिस्ट कैनंस,* सं. प्रो. हकुजा उइ. प्रो. मुनेतादा सुजुकि, प्रो. येनःशो कनकुरा, प्राध्यापक तोकन तादा, पृ. ७६, २६१, २६२, २७२।

तीसरा परिच्छेद

तांत्रिक बौद्ध मत के विकास में बौद्ध कापालिक सम्प्रदाय

१. तंत्र : शैव-शाक्त तंत्र और बौद्ध तंत्र

सामान्यतया तांत्रिक बौद्ध मत की उत्पत्ति और विकास के संबंध में विचार करते समय प्रायः विद्वान् बुद्ध के कथनों और उपदेशों पर विचार न कर उनसे संबंधित साहित्य को ध्यान में रखते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि बुद्ध ने तांत्रिक साधनाओं का अथवा जादू, टोने से संबंधित कुछ क्रियाओं का समर्थन किया था। दूसरे विद्वान् यह सिद्ध करते हैं कि बुद्ध ने जादू, टोना, चमत्कार, सिद्धि आदि का घोर विरोध करते हुए भिक्षुओं को उनसे दूर रहने के लिए कहा था। इन दो मतों को सामने रखते हुए भी यह जानना सर्वप्रथम आवश्यक है कि वस्तुतः तंत्र, तांत्रिक साधना और मत की वे कौन-सी विशेषताएँ थीं, जिनका साहित्य में प्रायः संधान कर लोग उसे तांत्रिक साहित्य कहा करते हैं।

हिन्दू तांत्रिक साहित्य का पर्यवेक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि तंत्र सामान्य विश्वास और रुचि के सभी विषयों का विवेचन करते हैं। इन विषयों का विस्तार बहुत अधिक है। इसके अन्तर्गत सृष्टि संबंधी सिद्धान्त, समाज और उसके दिव्यशक्ति द्वारा नियुक्त शासकों के नियामक नियम, चिकित्सा, विज्ञान, मंत्र, तत्त्व, योग आदि हैं।[1] तंत्र परमतत्त्व सृष्टि, विश्व, विश्वसंहार, देवोत्पत्ति और देवपूजा, प्राणियों के विभाग, दिव्य प्राणी, विभिन्न लोक, नर और नारी, विभिन्न युगों के धर्म और नियम, शरीरस्थ विभिन्न चक्र, आश्रम, संस्कार, देवताओं के स्वरूप, मंत्र, यंत्र, मुद्रासाधना, पूजा और उपासना के विविध रूप (बाह्य अथवा आन्तरिक) आदि का भी विवरण और विधान करते हैं।[2] वाराही तंत्र के अनुसार आगम के छह विषय हैं—सृष्टि, प्रलय, देवताओं की अर्चना, साधन, पुरश्चरण, षटकर्म और ध्यानयोग।[3] महानिर्वाण तंत्र में चार युगों, तीन आचारों, कालयुगोचित तंत्र की महत्ता, ब्रह्मस्वरूप ब्रह्म मंत्र, न्यास, प्राणायाम, ध्यान, बाह्य एवं आन्तरिक पूजा, पंचरत्न, कवच, संध्या, गायत्री, पुरश्चरण, दीक्षा, शक्तिसाधना, कुलाचार, मंत्र और उसकी शुद्धि, गुरु, मंत्र, पंचमकार भेद और

---

१. *प्रिंसिपुल्स ऑव तंत्र,* आर्थर एवेलेन, पृ. ४९-५० (१९५२)।

२. *वही,* पृ. ८५।

३. *प्रिंसिपुल्स ऑव तंत्र,* आर्थर एवेलेन, पृ. ८५, 'सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्। साधनञ्चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च। षटकर्मसाधनञ्चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः। सप्तभिर्लक्षणै-र्युक्तमागमस्तद् विदुर्बुधाः॥'

उनकी शुद्धि, बलि, हवन, कर्मकाण्ड, वर्ण, आश्रम, तीर्थयात्रा, स्त्री-राजा-सेवक के कर्तव्य, विवाह, भैरवी चक्र, दस संस्कार, श्राद्ध, गृहप्रवेश, पूर्णाभिषेक, पशु, वीर, कौल, कुलधर्म तथा आचार, प्रायश्चित्त, सनातन धर्म, देवप्रतिष्ठा, देवार्पित सम्पत्ति, मंदिर आदि, वाहनपूजा, शिवलिंग प्रतिष्ठा, अवधूत जैसे अनेक विषयों का विस्तार मिलता जिसमें इनसे संबंधित क्रियाविधानतंत्र एवं मंत्रविधान का भी समायोग है।[१]

उपर्युक्त विषयों को देखने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि तंत्र जादू नहीं है और न प्राचीन जादू से उसका विकास ही हुआ है। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य तो जादू से ही उसका विकास मानते हैं और मूलतः इसे आर्यागम से पूर्व की संस्कृति का दान मानते हैं।[२] इसी परंपरा में वे हिन्दू तंत्र और बौद्ध तंत्र का विकास मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि बौद्ध तंत्र बाह्य रूप की दृष्टि से कुछ सीमा तक हिन्दू तंत्रों के समान दिखाई पड़ते हैं किन्तु वस्तुतः उनमें न तो विषयवस्तु की दृष्टि से, न दार्शनिक धार्मिक सिद्धान्तों की दृष्टि से समानता है। इस पर आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि बौद्धों और हिन्दुओं, दोनों के लक्ष्य और उद्देश्य दोनों ही सर्वथा भिन्न हैं।[३] हिन्दू तंत्रों के लिए प्रयुक्त की जाने वाली परिभाषा बौद्ध तंत्रों के लिए संगत नहीं हो सकती। वे तंत्र आगम और यामल में भी भेद करते हैं और तांत्रिक साहित्य के अन्तर्गत रसायन, चिकित्सा, शकुनपरीक्षण, भविष्यवाणी, ज्योतिष, नक्षत्रविज्ञान तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों को भी मानते हैं। समान प्रकार की विशेषताएँ बौद्धों के तंत्र में भी दिखाई पड़ती हैं जिसका प्रमाण तिब्बती तेन्-जुर की सूची में मिलता है।[४] हिन्दुओं के नाम से जो तंत्र प्रसिद्ध हुए, उनका उदय बौद्धों के तांत्रिक विचारों के तुरंत बाद हुआ और फिर उन लोगों ने अपने को प्रतिष्ठित कर लिया जब कि बौद्धों ने अनेक पौराणिक हिन्दू देवी-देवताओं का अपने देवताओं के साथ समायोग कर लिया था।[५] इस प्रकार डॉ. भट्टाचार्य हिन्दू और बौद्ध तंत्रों में परस्पर आदान-प्रदान स्वीकार करते हैं। डॉ. शशिभूषण दासगुप्त ने हिन्दू और बौद्ध तंत्रों की परस्पर समानता का उल्लेख करते हुए उनमें तात्विक भेद नहीं माना। बौद्ध मत ने स्वयं अपनी सामग्री में तथा अपने ही अन्दर से अपने तंत्र का विकास नहीं किया। एक धर्मविज्ञान के रूप में तंत्र का अपना एक स्वतंत्र इतिहास है। महायान बौद्ध धर्म के वैशिष्ट्य उसकी उदार चित्तता के संदर्भ में ही तंत्र और बौद्ध धर्म के संयोग की व्याख्या की जा सकती है। उन्होंने विस्तार से दोनों तांत्रिक धर्मों की समानता का विवेचन किया है।[६] उनकी दृष्टि में बौद्ध तंत्रों में तीन तत्त्व हैं—(१) बौद्ध विचारणा से तथा विशेषकर महायान से तथा साथ ही हिन्दू

१. *दि ग्रेट लिबरेशन* (महानिर्वाण तंत्र), अनुवाद तथा टीका, आर्थर एवेलेन।
२. *इं. बु. ए.*, पृ. १-३।
३. *वही*, पृ. ४७।
४. *वही*, पृ. ५१-५२।
५. *वही*, पृ. ५०-५१।
६. *इं. तां. बु.*, पृ. ३।

विचारणा से भी ग्रहण किए गए अव्यवस्थित तत्त्ववैज्ञानिक अंश, (२) एक तांत्रिक धर्मविज्ञान, जो यद्यपि सारतः हिन्दू तंत्रों के समान है, तथापि उसने परवर्ती महायानी विचारों को भी ग्रहण किया। (३) साधनाएँ। हिन्दू तंत्रों में तत्त्वतः धर्मवैज्ञानिकता तो है ही, साथ ही उनमें वेदांत, योग-सांख्य, न्याय-वैशेषिक और पुराण ही नहीं, चिकित्सा विज्ञान और धर्मशास्त्रीय ग्रंथों के भी विचार यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। ठीक उसी प्रकार बौद्ध तंत्रों में भी महायान बौद्ध धर्म के प्रमुख मतों के वे तत्त्ववैज्ञानिक विचार ग्रहण किए गए मिलते हैं जिनके ऊपर औपनिषद अद्वैतवाद का प्रभाव है। ज्ञात-अज्ञात रूप में शून्यवाद, विज्ञानवाद और वेदान्त के विचार बिना भेद किए साथ-साथ रखे गए हैं और इस प्रकार वे सब विचार एक-दूसरे से घुलमिल गए हैं। प्राचीन बौद्ध धर्म के भी सिद्धान्त, महायानी, ब्राह्मण तथा अन्य भारतीय सांख्य, योग जैसे मतों के भी सिद्धान्त विमिश्रित रूप में इधर-उधर बिखरे हुएं हैं।[१] इन सारे स्रोतों की ओर संकेत करते हुए भी डॉ. शशिभूषण दास गुप्त ने कहीं भी शैव प्रभाव एवं स्रोत की ओर संकेत नहीं किया। वैसे उन्होंने जो स्रोत बताए हैं वे सामान्य रूप से शैवों के भी स्रोत सिद्ध किए जाते हैं। डॉ. दासगुप्त और डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य के मतों की तुलना करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि तांत्रिक बौद्ध धर्म के विकास में डॉ. भट्टाचार्य स्पष्टतया बौद्धेतर स्रोतों को उतना महत्त्व नहीं देते और तांत्रिक धारा को भी गौणता तथा बौद्ध तंत्र को प्रामुख्य देते दिखाई पड़ते हैं। ठीक इसके विपरीत डॉ. दासगुप्त तंत्र का एक स्वतंत्र इतिहास मानते हैं और उसका हिन्दू तथा बौद्ध धर्मविज्ञान दोनों पर प्रभाव मानते हुए बौद्धों पर हिन्दू स्रोतों के प्रभाव को प्रमुखता देते दिखाई पड़ते हैं।

पहले बताया जा चुका है कि डॉ. भट्टाचार्य इन्द्रजाल अथवा जादू से तंत्र का उद्‌भव मानते हैं। इसलिए उन्होंने बौद्ध इन्द्रजाल (मैजिक) का उद्‌भव ढूँढ़ने का प्रयास किया है। इन्द्रजाल को वे मूलतः व्रात्य संस्कृति की देन मानते हैं। ये व्रात्य अपने को क्षत्रिय कहते थे। बुद्ध भी वस्तुतः व्रात्य कुल में उत्पन्न हुए थे। बुद्ध के उपदेशों को समझने के लिए वे इस तथ्य को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे उन्हें ब्राह्मण-व्यवस्था विरोधी भी घोषित करते हैं।[२] बुद्ध बड़े ही चतुर संगठनकर्ता थे। इसलिए अपने धर्म को पूर्ण बनाने के लिए समाज के विद्वद्वर्ग की प्रवृत्ति को ही ध्यान में रखकर उन्होंने उनको परवर्ती जन्म और मोक्ष की आशा ही नहीं बँधाई अपितु केवल सांसारिक उपलब्धियों को ही सबकुछ समझने वालों को भी उन्होंने ध्यान में रखा। इस द्वितीय वर्ग की संतुष्टि के लिए ही बुद्ध को मंत्र, धारणी, मुद्रा, मण्डल को भी साधन में सम्मिलित करना पड़ा। बुद्ध के समय में बहुत-सी विद्याओं या गुह्य विद्याओं का प्रचलन था। इनका उल्लेख ब्रह्मजाल सुत्त में मिलता है। बुद्ध इनके विरोधी थे। डॉ. भट्टाचार्य का इस आधार पर यह निष्कर्ष है कि बुद्धकाल में और भी बहुत-सी विद्याएँ प्रचलित थीं, बुद्ध जिनके विरोधी नहीं थे और उन्होंने उन विद्याओं को अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया होगा। मंजुश्रीमूलकल्प (प्रथम

---

१. *इं. तां. बु.*, पृ. ३-४।

२. *इं. बु. ए.*, पृ. १०-१७।

ईस्वी शताब्दी) का उल्लेख कर डॉ. भट्टाचार्य ने अनुमान किया है कि इसका उद्‌भव ईसापूर्व की प्रारंभिक शताब्दियों में अथवा संभवत: बुद्ध के समय में ही हुआ होगा।[१] इस प्रकार डॉ. भट्टाचार्य की दृष्टि में बौद्ध धर्म के अनेक तांत्रिक तत्त्वों के प्रवर्तक स्वयं बुद्ध थे। इससे सर्वथा भिन्न मत यह है कि भारतवर्ष में सर्वप्रचलित रूप में जिस धर्मविद्या की चर्चा होती है, उसके साथ-साथ एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्धारा रहस्ययोग की थी जो बहुत प्राचीन काल से ही प्रवाहित हो रही थी। इस अन्तर्धारा के सम्पर्क में जब शैव अथवा शाक्त आए तो उन लोगों ने शैव अथवा शाक्त तंत्र मत का अभ्युदय किया; जब बौद्ध विचारणा उसके सम्पर्क में आई तो बौद्ध तंत्रवाद का अभ्युदय हुआ और पुन: जब वही अन्तर्धारा बंगाल के वैष्णवों से संपर्कित हुई तो गुह्य वैष्णव सम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ।[२] डॉ. शशिभूषण दास गुप्त ने केवल बंगाल की चर्चा की है जब कि यह वास्तविकता न्यूनाधिक रूप में सम्पूर्ण भारतीय धर्म विकास के लिए संगत हो सकती है। इसी बात को डॉ. दासगुप्त ने दूसरे ढंग से स्पष्ट किया है कि सभी प्रकार की भारतीय गुह्य साधना अथवा धर्म प्रयत्नों की पृष्ठभूमि समान और एक है।[३] इसी क्रम में डॉ. दासगुप्त ने इस प्रश्न पर भी विचार किया कि क्या बौद्ध धर्म में बुद्ध ने ही तांत्रिक तत्त्वों की प्रस्तावना की थी। डॉ. भट्टाचार्य के मत पर विचार करते हुए उन्होंने स्पष्टत: उसका खण्डन किया। डॉ. भट्टाचार्य का मत है कि बुद्ध 'इद्धि' (ऋद्धियों) में विश्वास करते थे, ऐसा शांतरक्षित के तत्त्वसंग्रह और कमलशील कृत उसकी टीका से ज्ञात होता है तथा यह भी प्रकट होता है कि बुद्ध ने सामान्य कोटि के अपने शिष्यों के लिए मंत्र, मुद्रा, मंडल आदि का विधान किया था। खंडन में कहा गया है कि केवल ऋद्धियों में विश्वास यह प्रमाणित नहीं करता कि बुद्ध ने तंत्रवाद को समर्थन दिया था। दूसरे, शांतरक्षित और कमलशील के प्रमाण इस प्रसंग में स्वीकार्य नहीं हो सकते क्योंकि वे स्वयं बुद्ध के लगभग १४०० वर्षों बाद हुए थे। यद्यपि ब्रह्मजालसुत्त में कामतत्त्व सहित कुछ तांत्रिक क्रियाओं के प्रासंगिक संदर्भ मिलते हैं, लेकिन प्राचीन ग्रन्थों में हमें इसका कोई निष्कर्षात्मक प्रमाण नहीं मिलता कि बुद्ध ने तंत्रवाद का समर्थन किया था।[४]

बिना विवाद किए ही यद्यपि यह स्पष्टत: कहा जा सकता है कि किसी निश्चित व्यक्ति ने किसी निश्चित समय में बौद्धधर्म में तंत्रवाद का प्रवर्तन किया होगा। मंत्र और उसकी शक्ति में विश्वास तो भारतवर्ष में बहुत प्राचीनकाल से मिलता है। प्राचीन बौद्ध धर्म में भी इस पर विश्वास मिलता है। स्तूप, रहस्यमय बोधिमण्डल के प्रति श्रद्धा अथवा प्रसिद्ध बोधिवृक्ष की परिक्रमा जैसी विशेषताएँ प्राचीन बौद्ध धर्म में भी मिलती हैं। बुद्ध के विविध आसन और उनकी मुद्राएँ भी रहस्यमय रूप में विशिष्ट मानी जाती थीं। प्राचीन बौद्ध धर्म की इन विशेषताओं ने तांत्रिक बौद्ध धर्म के मंत्र, मुद्रा और मंडल के लिए मार्ग

---

१. इं. बु. ए., पृ. १८-१९।

२. *आ. रे. क.*, इंट्रो., पृ. ३३-३४।

३. *वही*, पृ. ३४, २०।

४. *वही*, पृ. १८-१९।

प्रशस्त किया।[१] इसका तात्पर्य यद्यपि डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य के निष्कर्ष से भिन्न है तथापि डॉ. शशिभूषण दासगुप्त भी यह मानते प्रतीत होते हैं कि प्राचीन बौद्ध धर्म में ऐसे तत्त्व अवश्य विद्यमान थे कि समय आने पर उनका विकास विविध संपर्कों के कारण विविध तांत्रिक तत्त्वों एवं क्रियाओं के रूप में हुआ। डॉ. विंटरनित्स ने इस प्रकार की किसी भी संभावना को सर्वथा अस्वीकार करते हुए अपना यह मत व्यक्त किया है कि त्रिपिटक में अथवा अन्य किसी प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ में इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि गौतम और उनके प्राचीन अनुगतों का मुद्रा, मण्डल और धारणियों से कोई संबंध था।[२] सभी तिब्बती स्रोत मतवैभिन्य होते हुए भी प्रायः यह मानते हैं कि बुद्ध ने कभी-न-कभी, किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही इस प्रकार की क्रियाओं अथवा साधनाओं का उपदेश किया था। इसके साथ यह भी सत्य है कि विभिन्न प्राचीन बौद्ध तांत्रिक ग्रंथ, पालि त्रिपिटक तथा सिंहली इतिहास इस परंपरा से अनभिज्ञ हैं। यहाँ तक कि मंत्रतत्त्व से समन्वित प्राचीनतम वैपुल्यसूत्र मंजुश्रीमूलकल्प, गुह्यसमाजतंत्र जैसे ग्रंथ बुद्ध के द्वारा धान्यकटकादि में इस तांत्रिक धर्म के प्रवर्तन के विषय में मौन हैं। साधनमाला, गुह्यसमाजतंत्र जैसे ग्रन्थ यह कहते हैं कि बुद्ध ने इसका उपदेश दीपंकर के रूप में प्रकट होकर अथवा चीन अथवा महाचीन में निवास करते समय किया था।[३] इसका अर्थ यह लिया जा सकता है कि गौतम बुद्ध ने नहीं अपितु उनके दीपंकर जैसे अन्य रूपों ने इस प्रकार का धर्मप्रवर्तन किया होगा। अर्थात् इन तत्त्वों का प्रचार-प्रसार अवश्यमेव गौतम बुद्ध के बहुत बाद हुआ होगा।

इस विवेचन को इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है कि भारतीय धर्म साधना में बहुत प्राचीनकाल से तांत्रिक तत्त्वों का प्रचार मिलता है। कालक्रम से विविध सम्प्रदायों का इनसे सम्पर्क होता गया और तदनुसार उनके तांत्रिक स्वरूप का भी अभ्युदय होता गया। इसलिए यह कहना कि किसी व्यक्ति विशेष ने किसी निश्चित काल में किसी विशेष धर्म में तंत्र का अथवा उसके तत्त्वों का प्रवर्तन किया, विश्वास योग्य नहीं हो सकता। वस्तुतः तंत्रवाद न तो मूलतः बौद्ध है और न मूलतः हिन्दू।[४] यह एक ऐसी साधनात्मक और वैचारिक अन्तर्धारा है जो बहुत प्राचीनकाल से और संभवतः वेदों के समानान्तर ही प्रवाहित होती चली आ रही है। शैवों, शाक्तों, वैष्णवों, जैनों, बौद्धों का कालक्रम से इसके साथ सम्पर्क हुआ और इस प्रकार इन सम्प्रदायों के तांत्रिक स्वरूप का प्रकाशन होता गया। सभी धर्ममतों ने अपने-अपने सिद्धान्तों और लक्ष्यों के अनुसार तांत्रिक तत्त्वों को ग्रहण किया।[५] यदि मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक

---

१. *आ. रे. क.*, पृ. १९-२०।

२. *इं. हि. क्वा.*, खंड ९, पृ. ९, डॉ. विंटरनित्स का लेख।

३. *स्ट. बु. क. इं.*, जोशी, पृ. ३०७-३०९।

४. *आ. रे. क.*, पृ. २०।

५. वैदिक साहित्य और वेदकालीन समाज में परिव्याप्त तांत्रिक तत्वों एवं गुह्य क्रियाओं के लिए द्रष्टव्य (१) *स्ट. बु. क. इं.*, जोशी, पृ. ३०५-३०७। (२) *भारतीय दर्शन*, उपाध्याय, पृ. ४२९-४३०। (३) *प्रिंसिपुल्स ऑव तंत्र*, आर्थर एपेलेन, आरंभिक अंश।

भट्ट को इस प्रसंग में प्रमाण माना जाए तो यह कहा जा सकता है कि तंत्र को भी वैदिकी श्रुतियों की तरह ही श्रुति पद प्रदान कर मान्यता दी जाती थी। कुल्लूक भट्ट ने हारीत ऋषि के वाक्य को प्रमाण मानकर ही इसे प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार के और प्रमाण भी दिए जा सकते हैं जिनसे तंत्र की प्रामाणिकता, प्राचीनता एवं मान्यता स्थापित की जा सकती है।[१] ऐसी स्थिति में यह कहना कि बौद्ध तंत्र अथवा हिन्दू तंत्र एक-दूसरे के परवर्ती अथवा पूर्ववर्ती हैं, संगत नहीं है। सामान्य लोकधर्म की कुछ ऐसी विशेषताएँ प्रायः सभी धर्मों के प्रारंभिक रूपों में मिलती हैं जिनके आधार पर आगे चलकर तांत्रिक विशेषताओं एवं गुह्य क्रियाओं का पल्लवन हुआ। आगे बौद्ध धर्म में तंत्रवाद अथवा गुह्य साधना के विकास का संधान इसी आधार पर किया गया है।

वस्तुतः बुद्ध के मूल उपदेशों की परीक्षा करने पर कुछ ऐसी बातें अवश्य मिलती हैं जिन्हें परवर्ती गुह्य साधनाओं के विकास की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से विचार करने पर बुद्ध के उपदेशों में शील, समाधि और प्रज्ञा, समाधि की विविध अवस्थाओं एवं क्रियाओं, आनपानसति, प्रज्ञा-प्राप्ति से परचित्तज्ञान की शक्ति की प्राप्ति, समाधिजन्य भावनामयी प्रज्ञा की सर्वश्रेष्ठता आदि का परिचय मिल जाता है। विसुद्धिमग्ग, मज्झिमनिकाय, दीघनिकाय, अभिधर्मकोश आदि में प्राप्त साधन एवं विचार संबंधी विविध विवेचनों एवं व्याख्याओं पर विमर्श करने वाले भदन्त शांतिभिक्षु, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्णन्, एच. कर्न, आनंदकुमार स्वामी, सुरेन्द्रनाथ, दासगुप्त, बलदेव उपाध्याय जैसे विद्वानों के मतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के विचारों में मूल रूप से ऐसे तत्त्व अवश्य थे जिनकी भूमि पर आगे चलकर योग एवं तंत्र के विविध तत्त्व अंकुरित, पल्लवित एवं विकसित हुए।[२]

इसे यों कह सकते हैं कि बुद्ध के उपदेशों में कृच्छ्रचार के परित्याग के साथ आचार एवं संयम का प्रतिपादन मिलता है। उनके द्वारा उपदिष्ट समाधि से योग और प्राणायाम के अनेक सूत्र मिल जाते हैं। प्रज्ञा के माध्यम से ज्ञानसाधना का, जो औपनिषद ज्ञान से भिन्न थी, विधान मिलता है। समाधि की चार अवस्थाओं के साथ-साथ तीन प्रकार की प्रज्ञा की व्याख्या से तथा साथ ही पृथग्जन, स्रोतापन्न, सकृदागामी और अनागामी के साधक विभाजन से अधिकारभेद का भी आभास मिलता है। समाधि और प्रज्ञा की विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त होने वाली ऋद्धियों एवं सिद्धियों के भी संकेत मिलते हैं यद्यपि जैसा पहले कहा जा चुका है, बुद्ध ने इन सिद्धियों एवं चमत्कारों के पीछे दौड़ने वालों को फटकारा था। ध्यान के प्रक्रम में श्मशानयात्रा का निर्देश भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। जुगुप्सा की वस्तुओं के माध्यम से चित्त के अचांचल्य की साधना परवर्ती साधन के विकास की दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी है। इन विशेषताओं से प्राचीन बौद्ध धर्म में भी गुह्य साधनाओं के विकास के लिए पूर्वपीठिका तैयार हो

१. *मनुस्मृति,* २।१ की टीका, *भारतीय दर्शन,* पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. ४३३।

२. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—*तां. बौ. सा. सा.,* पृ. १-२६; *इं. फि.,* वॉ. १, पृ. ३५३-३५६; *हि. इं. फि.,* वॉ. १ आदि।

जाती है जिससे तांत्रिक साधना के उदय एवं विकास का मार्ग प्रशस्त हो गया। इनका उदय और विकास क्रमशः हुआ।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के उपरांत उनके कठोर संयमपूर्ण उपदेशों के विरुद्ध विद्रोह हुआ। अनेक संगायन हुए। वचनों के संग्रह और गायन ही नहीं उनके अर्थनिर्णय के प्रयास भी किए गए। अनेक मतान्तर, सम्प्रदाय एवं उपसम्प्रदाय बने। वज्जिपुत्तक भिक्षुओं के प्रयास सफल हुए। अंधकादि निकायों का एकीकरण हुआ। विभेद बढ़ते-बढ़ते, महापरिनिर्वाण के लगभग ५०० वर्षों बाद बौद्ध धर्म स्पष्ट रूप से हीनयान और महायान में विभाजित हो गया। अनेक बोधिसत्वों की कल्पना हुई। बौद्ध धर्म में प्रच्छन्न रूप में अवतारवाद आ गया। बुद्ध पर अलौकिकता का आरोप हो गया। महायानी साहित्य की महावस्तु, ललित विस्तर, कल्पनामंडीतिका, चतु:शतक स्तोत्र, मैत्रेय व्याकरण, अवदानशतक, कर्मशतक, दिव्यावदान, अवदान कल्पलता, अष्ट-साहस्रिका प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर, लंकावतार, दशभूमीश्वर आदि रचनाओं में चमत्कार, लोकोत्तरवाद, बुद्धलीला, बुद्धभक्ति, स्तूपपूजा, सिद्धियाँ, कथा-कल्पना, देवी-देवताओं की कल्पना, धारणी, मंत्र, ध्यान, समाधि, मूर्तिपूजा, तांत्रिक क्रियाओं का समावेश मिलता है।[१] इन परिवर्तनों को ही ध्यान में रखकर बौद्ध और ब्राह्मण धर्म की विविध समानताओं की चर्चा करते हुए श्री मोनियर विलियम्स ने ठीक ही कहा है कि गौतम का लक्ष्य ब्राह्मण धर्म का उन्मूलन नहीं था अपितु उसे शुद्ध करना और उसके दोषों को दूर कर उसे सुरक्षित रखना था। इस प्रकार उनकी दृष्टि में बौद्ध मत ने ब्राह्मण धर्म से ही उद्‌भूत होकर उसमें अनेक परिवर्तन किए, उसके अनेक तत्त्वों को ग्रहण किया और अन्ततः उसके वैष्णव और शैव मतों में विलुप्त हो गया।[२] वस्तुतः इस कथन से श्री मोनियर विलियम्स ने बौद्ध धर्म के महायान की ओर ही संकेत किया है।

२. बौद्ध तंत्र का विकास

महायान के परवर्ती विकासों का बौद्ध आचार्यों ने विवेचन किया है। अद्वयवज्रसंग्रह में संगृहीत तत्त्वरत्नावली में महायान को दो भागों में विभाजित किया गया है—पारमितानय और मंत्रनय। मंत्रनय या मंत्रयान सामान्य व्यक्तियों के लिए अत्यधिक कठिन और गंभीर है। इसे उपर्युक्त ग्रंथ में केवल उन्नत लोगों के लिए, तीक्ष्णेन्द्रियाधिकारसम्पन्न लोगों के लिए ही उपयुक्त बताया है।[३] इसी मंत्रनय से परवर्ती

---

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—*तां. बौ. सा. सा.*, पृ. २७-३३, ३४-४६, ८६-१००; *बौ. द. मी.*, पृ. ३७-४४; *बुद्धिज्म,* मो. वि., पृ. ५३-७०, १६४, १७२, १७५-१७६, १८८-१९६, २००-२०४; *ए. हि. इं. लि.*, विंटरनित्स, वॉ. २, पृ. २४६, २९४-२९५, ३०३, ३२६, ३३०।

२. *बुद्धिज्म,* पृ. २०६।

३. *अद्वयवज्रसंग्रह,* सं. डॉ. भट्टाचार्य, पृ. १४, २१ 'महायानं च द्विविधं पारमितानयो मन्त्र-नयश्चेति', 'मन्त्रनयस्तु अस्माद्वि (धै) रिहातिगम्भीरत्वाद् गम्भीरनयाधिमुक्तिकपुरुष विषयत्वात् चतुर्मुद्रादिसाधनप्रकाशन-विस्तरत्वाच्च न व्याक्रियते। तथा च-एकार्थत्वेऽ-प्यसंमोहात् बहूपायोददुष्करात्। तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मंत्रशास्त्रं विशिष्यते।'

वज्रयान, कालचक्रयानादि विकसित हुए। इससे स्पष्ट है कि अद्वयवज्र का यह विभाजन विकास, साधनावस्था और साधनभेद तीनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसी रूप में विद्वानों ने इसे स्वीकार भी किया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि बोधिसत्वपद की प्राप्ति के लिए पारमितासाधन और मंत्रसाधन दोनों ही प्रचलित थे। इस विभाजन से अधिकारभेद का सिद्धान्त बौद्ध मत में और भी अधिक स्पष्ट रूप में सामने आ गया। पारमितासाधन से ही मंत्रसाधन का विकास किस रूप में हुआ, इस पर आगे विचार किया गया है। तांत्रिक तत्त्वों का जो परिगणन पहले किया गया है, उससे यह भी स्पष्ट होता है कि मंत्र, मुद्रा, मद्य, मैथुन, मांस जैसे तत्त्वों के प्रयोगप्रारंभ के लिए कौन व्यक्ति अथवा ग्रंथ उत्तरदायी है, इस पर विचार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

बौद्ध धर्म में ही नहीं, महायान धर्म में भी मैथुन शब्द अत्यधिक चकित कर देने वाला है। आगे चल कर कृष्णाचार्यपाद की जिस कापालिक साधना की हम विवेचना करेंगे उसमें इस मैथुन शब्द का स्थान अति महत्त्वपूर्ण है। यह तत्त्व महायान में कैसे आ गया, इसके लिए महायान के उद्‌भवकाल पर थोड़ा विचार कर लेना लाभकर होगा। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अंधक सम्प्रदायों को पर्याप्त महत्त्व दिया है जिनके अंतर्गत वैपुल्य, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, राजगिरिक और सिद्धार्थक निकायों की गणना की जाती है। महासांधिकों से ही अंधक निकायों का जन्म हुआ।[१] वैपुल्यवादियों को को महाशून्यतावादी भी कहा जाता है। इस प्रकार नागार्जुन से इनका संबंध प्रतीत होता है। कथावस्तु में तिस्स ने इनके जिन विचारों का खंडन किया है, उनसे प्रतीत होता है कि वैपुल्यवादी यह मानते थे कि (१) संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिशुद्ध करता तथा उपभोग करता है, न संघ को देने में महाफल है। (२) बुद्ध को दान देने में न महाफल है, न बुद्ध लोक में आकर ठहरे और न बुद्ध न धर्मोपदेश किया (३) खास मतलब से (एकाभिप्रायेण) मैथुन का सेवन किया जा सकता है। इनमें से ऐतिहासिक बुद्ध की अस्वीकृति तथा मैथुन की अनुज्ञा जैसी दो बातें प्राचीन बौद्धों के लिए अत्यधिक उद्वेगजनक थीं।[२] राहुलजी ने चारों अंधक निकायों की उत्पत्ति ई. पू. प्रथम शताब्दी में होने का अनुमान किया है।[३] वैपुल्यवाद के प्रचारकों में सर्वोच्च स्थान आचार्य नागार्जुन का था जिनका वासस्थान श्रीपर्वत और धान्यकटक था।[४] इससे मैथुन-संवलित धर्म के प्रचारकों में नागार्जुन का महत्त्व स्थापित होता है।

इस प्रकार के धर्मसाधन के आद्य आचार्य के रूप में अथवा तांत्रिक महायान धर्म के प्रारंभिक चरण के पुरस्कर्ता के रूप में कुछ लोग आचार्य असंग को प्रतिष्ठित करते हैं। महायान सूत्रालंकार में पंचपरावृत्तियों (पंचेन्द्रियपरावृत्ति, मानसपरावृत्ति, सार्थोद्ग्रहपरावृत्ति, विकल्पपरावृत्ति, प्रतिष्ठापरावृत्ति और मैथुन परावृत्ति) की क्रियाओं

१. *पुरातत्व निबंधावली,* राहुल सांकृत्यायन, पृ. १२६-१२७।

२. *वही,* पृ. १३०।

३. *वही,* पृ. १२८।

४. *वही,* पृ. १३२-१३३।

से विभुत्व की प्राप्ति बताई गई है। मैथुन और परावृत्ति शब्द बड़े ही विवादास्पद सिद्ध हुए। इस पर सिल्वाँ लेवी, डॉ. विंटरनित्स, सुजुकि आदि ने विस्तार से विचार किया। डॉ. विंटरनित्स ने लेवी का खंडन करते हुए, संबद्ध श्लोकों का अनुवाद कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मैथुन से विरति करने से अर्थात् हटने से परम विभुत्व की प्राप्ति वैसे ही हो सकती है जैसे बुद्ध के सौख्य विहारों के भोग से अथवा दारा के ऊपर शुद्ध दृष्टिपात से।[१] डॉ. बागची नें इस पर विस्तार से विमर्श किया और निष्कर्ष निकाला कि 'मैथुनस्य परावृत्तौ' का अर्थ मैथुन से विरति या विराग न होकर 'मैथुनजनित आनन्द के समान सुख का उपभोग' है।[२] यह अर्थ डॉ. विंटरनित्स के अर्थ के बहुत निकट है। इस प्रकार का औपम्य विधान औपनिषद साहित्य में भी दिखाई पड़ता है। इस परावृत्ति का संबंध अंतिम अचला, साधुमती और धर्ममेघा नाम की भूमियों से है। इस परावृत्ति की तुलना निर्वाण से की गई है। यह आनन्दमय स्थिति है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस औपनिषद योग की परंपरा का क्रमिक किन्तु भिन्न विकास बौद्धों में हुआ था, जिस आस्तिक परंपरा से निर्विकल्प समाधि को ग्रहण किया गया था, उसी परंपरा से परमानुभव और परमावस्था का वर्णन करने की शैली को भी यदि ग्रहण किया गया तो वह सर्वथा स्वाभाविक ही है।

डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने असंग को आद्य तांत्रिक आचार्य सिद्ध करने के लिए उन्हें उस गुह्यसमाजतंत्र का रचयिता माना जिसमें षट्कर्म, पंचमकार तथा सिद्धियों पर विस्तृत उपदेश मिलता है। बौद्ध धर्म में शक्ति तत्त्व को प्रतिष्ठित करना, इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसके साथ इसमें पंचध्यानी बुद्धों और उनकी शक्तियों की भी कल्पना है। मंजुश्रीमूलकल्प इसका परवर्ती है और ७वीं शताब्दी का है, जबकि यह गुह्यसमाजतंत्र असंगकालीन, अर्थात् तृतीय ईस्वी शताब्दी का ग्रंथ है। साधनमाला के 'प्रज्ञापारमिता साधन' को भी उन्होंने असंगकृत ही माना है।[३] डॉ. विंटरनित्स ने विस्तार से डॉ. भट्टाचार्य के मत का खंडन किया है। उन्होंने तांत्रिक नागार्जुन का समय ७वीं शताब्दी माना है जो माध्यमिक मत के प्रतिष्ठापरक नागार्जुन से भिन्न थे।[४] इसी आधार पर डॉ. विंटरनित्स ने तंत्र में शक्तिसाधना की अनिवार्यता को देखते हुए बौद्धों में ७वीं शताब्दी के पूर्व तंत्र प्रचार को स्वीकार नहीं किया। तिब्बती स्रोतों में नागार्जुन की जीवनावधि ६०० वर्ष मान ली गई और फिर उन्हें माध्यमिक शास्त्र और गुह्यसमाज पद्धति दोनों से सम्बद्ध कर दिया गया। गुह्यात्मक महायान धर्म की तांत्रिकता की मान्यता मंत्र के आधार पर देने वाले विवेचकों ने धारणियों से विकसित होने वाले मंत्र तत्त्व का विशेष व्याख्यान किया। महासांधिकों ने एक विद्याधरपिटक तथा धारणीपिटक

---

१. *दि सूत्रालंकार* (अनु.), लेवी, पृ. ८१; *स्ट. तं.*, भाग १, पृ. ८७; *इं. हि. क्वा.*, मार्च, १९३३, पृ. ८, डॉ. विंटरनित्स का लेख।

२. *स्ट. तं.* (१), पृ. ८७-९२।

३. *गुह्यसमाजतंत्र*, भट्टाचार्य, इंट्रो., पृ. १९ और आगे, पृ. ३२ और आगे।

४. *ए. हि. इं. लि.*, वॉ. २, पृ. ३४३-३४४, ३९२-३९३।

का संग्रह किया था। ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र और लंकावतार सूत्र भी धारणियों से परिचित थे।[१] सद्धर्मपुण्डरीक में धारणीमंत्रपदों का पर्याप्त विस्तार है और उनसे रक्षा, आवरण एवं गुप्ति का विश्वास दिलाया गया है।[२] दिव्यावदान में 'ओं मणिपद्मे हूं' जैसा प्रसिद्ध मंत्र अवलोकित के लिए प्रयुक्त है।[३] डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने धारणियों से मंत्रों के विकास का विस्तार से विवेचन करते हुए अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता का विकास प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र, प्रज्ञापारमिताधारणी, प्रज्ञापारमितामंत्र के क्रम से प्रं नामक बीजाक्षर में माना।[४] यह प्रज्ञापारमिता का प्रतीक है। इस प्रकार मंत्रयान की प्राचीनता सिद्ध करने के प्रयत्न किए गए। प्रज्ञापारमिता ग्रंथ के उद्धारकर्ता और प्रज्ञापारमितास्तव के रचयिता नागार्जुन के महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र ग्रंथ से तथा धारणी से मंत्रों के विकास के उपर्युक्त क्रम को देखते हुए कहा जा सकता है कि वस्तुतः पारमितायान की साधना मंत्रयान की साधना है। प्रज्ञा स्वयं शक्ति है। इस आधार पर यह एक प्रकार से शक्तिसाधना है। अतः नागार्जुन को तांत्रिक महायान धर्म का आद्य आचार्य माना जा सकता है। दूसरी ओर मैत्रेयनाथ और असंग को जैसा पहले कहा जा चुका है, मैथुनपरक रहस्यवाद से संबद्ध किया गया है। इसके अतिरिक्त सहजकाय का परवर्ती बौद्ध तांत्रिक साधना की दृष्टि से विशेष महत्त्व है और संधाभाषा से भी घनिष्ठभावेन यह संबद्ध है।[५] यदि नागार्जुन को आद्य आचार्य मानें तो शक्ति के रूप में प्रज्ञा के अभ्युदय के कारण तांत्रिक महायान धर्म का उदय ईसापूर्व प्रथम शताब्दी ही नहीं अपितु इसके भी पूर्व मान सकते हैं। मंजुश्रीमूलकल्प को यद्यपि कुछ विद्वान् दूसरी शताब्दी की रचना मानते हैं किन्तु वह ८वीं शताब्दी की रचना मानी जानी चाहिए।[६] अब विद्वानों ने पर्याप्त प्रमाण देकर यह सिद्ध कर दिया है कि सातवीं सदी के पूर्व भी महायान में तंत्रों का प्रकाशन हो चुका था। इस प्रकार डॉ. विंटरनित्स के मत का खंडन करने का प्रयत्न किया गया है।[७]

तिब्बती ऐतिहासिक लामा तारानाथ की गवाही पर विद्वानों का कथन है कि तांत्रिक साधना अत्यधिक गुप्त रूप से गुरु-शिष्य-परंपरा से असंग से धर्मकीर्ति के समय तक जीवित रही। यह रहस्य-साधना बाद में जनसामान्य में प्रचलित हुई।[८] दीक्षा

---

१. *स्ट. बु. क. इं.*, पृ. ३११।

२. *सद्धर्मपुण्डरीक,* अनु. डॉ.. राममोहनदास, पृ. ४०८— 'अहमपि भगवन् धारणीपदानि भाषिष्ये बहुजनहिताय तेषां च तथारूपाणां धर्मभाणकानामेवरूपाणां सूत्रान्तधारकाणां रक्षा-वरणगुप्तये धारणीमंत्रपदानि। तद् यथा। अगणे गणे गौरि गन्धारि चण्डालि मातङ्गि पुक्कसि संकुले ब्रूसलि सिसि स्वाहा'।

३. *स्ट. बु. क. इं.*, पृ. ३१२।

४. *इं. बु. ए.*, पृ. ५६।

५. *स्ट. बु. क. इं.*, पृ. ३१६-३१७।

६. *वही,* पृ. ३१९-३२१।

७. *वही,* पृ. ३२२-३२४।

८. *इं. हि. क्वा,* मार्च, १९३३, पृ. ५।

के माध्यम से इस प्रकार रहस्योपदेशों और साधनाओं का चतुर्थ शताब्दी से लगभग सातवीं शताब्दी तक जीवित रहना विश्वास योग्य प्रतीत होता है किन्तु नागार्जुन (प्रथम शताब्दी) से लेकर लगभग सातवीं शताब्दी तक इस रूप में प्रचलित रहने के सम्बन्ध में न तो कोई प्रमाण ही मिलता है और न यह विश्वासयोग्य ही प्रतीत होता है। साधक और साध्य दोनों की 'शक्ति' की कल्पना निश्चय ही परवर्ती है, किन्तु यह भी निश्चित है कि तंत्र-मंत्र-मंडल आदि पहले ही लिखित ग्रंथों में स्थान पा चुके थे और हो सकता है, उपर्युक्त प्रकार की शक्ति कल्पना भी गुरु-शिष्य-परंपरा में दीर्घकाल तक जीवित रही हो तथापि गुह्यसमाजतंत्र, हेवज्रतंत्र जैसे ग्रंथों के पूर्व इसका व्यवस्थित विवरण उपलब्ध नहीं होता। ग्रंथों से यह ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध संगीतियों के अतिरिक्त तथा पालि ग्रंथों में उल्लिखित सभाओं के अतिरिक्त भी बुद्ध ने कुछ गुप्त और कुछ चुने हुए लोगों की सभी की थी जिनमें इन गुह्य साधनाओं का उपदेश किया था। इस प्रकार बुद्ध ने राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर, धान्यकटक में धर्मचक्रप्रवर्तन किया था।[१] इस आधार पर तो सभी तत्त्वों की प्राचीनता मानी जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि लगभग प्रथम ईस्वी शताब्दी से चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म में बुद्ध के परम दैवत रूप, अमिताभ, बोधिसत्व, अवलोकितेश्वर, मंजुश्री आदि की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। हारीति, चंडिका, सरस्वती आदि देवियाँ भी कल्पित हो चुकी थीं। इनकी पूजा-उपासना-प्रार्थना के लिए अनेक स्तोत्रों, धारणियों, मंत्रों का निर्माण हो चुका था। बोद्धिसत्व के लिए करुणा-प्रसार और प्रज्ञा की उपलब्धि आवश्यक मानी गई थी। नागार्जुन के शून्यवाद के व्यावहारिक साक्षात्कार को प्रज्ञा की उपलब्धि से अभिन्न मान लिया गया था। नागार्जुन के माध्यमिक मत अथवा शून्यवाद ने जहाँ दार्शनिक भूमिका और विचारणा को प्रतिष्ठित किया वहीं योगाचार मत ने योग और आचार को प्रतिष्ठित किया। प्रज्ञापारमितासाधना ने नागार्जुन के सत्प्रयत्न से शक्तिसाधना का बीजारोपण किया और उसका विकास मांत्रिक प्रयोग के प्रज्ञापारमिता के साधन के रूप में हुआ। विज्ञानवाद अथवा योगाचार मत के आचार्य मैत्रेय और असंग ने मैथुनपरक साधना का औपम्यविधानपरक स्वरूप प्रस्तुत किया और साथ ही विज्ञान तत्त्व की प्रतिष्ठा कर चित्त को ही इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति और प्रणाश का मूल बताया। बोधिचित्तोपाद की क्रमनिविष्ट प्रक्रिया में समय के अपव्यय तथा शीघ्र प्रज्ञोपलब्धि या प्रत्यात्मगति को प्राप्ति की भावना से धारणियों और मंत्रों को अत्यधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इन धारणियों और मंत्रों से अर्जित शक्ति की सहायता से प्राणिमात्र के दुःख से समुद्धरण की प्रक्रिया में सदैव लीन रहने वाले बोधिसत्वों का अभ्युदय बहुलता से होने लगा था। मूर्तियों और उन देवताओं के प्रतीकों का विस्तार होने लगा। मूर्ति-निर्माण और उनके पूजा-विधान पर पर्याप्त ध्यान दिया जाने लगा और इनके माहात्म्य की बड़े विस्तार और उत्साह से घोषणा की जाने लगी। इस प्रकार की धार्मिक, साधनात्मक और दार्शनिक परिस्थितियों में मंत्रयान से वज्रयान का विकास हुआ।

---

१. *बौद्ध-दर्शन-मीमांसा,* पृ. ३६१।

राहुलजी ने मान्त्रिक साधना अथवा मंत्रयान की अवधि ७वीं ई. श. तक मानी है। यदि धर्मकीर्ति का समय ७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाए, जैसा कर्न ने माना है,[१] तो उपर्युक्त पारंपरिक विश्वासों के आधार पर कहा जा सकता है कि इसके बाद अनेक ऐसे सिद्धाचार्य हुए जिन्होंने उपर्युक्त प्रकार की गुप्त परंपरा से प्रचलित साधना-पद्धति को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, व्यवस्थित और प्रकाशित रूप में प्रचारित करना आरंभ कर दिया। इसे यों भी कहा जा सकता है कि इस समय की सामग्री लिखित रूप में हमें प्राप्त हो गई है, इसलिए हम इसका प्रकाशित इतिहास ७वीं शताब्दी से मानने लगे हैं। इसका एक अर्थ यह भी निकल सकता है कि यद्यपि मंत्र तत्त्व का प्रचार तो जनसामान्य में अवश्य था किन्तु शक्ति तत्त्व और पंचमकार (मत्स्य, मुद्रा, मैथुन, मांस और मद्य) की साधना अत्यन्त गुप्त, सीमित और दीक्षित मंडली में ही चलती रही होगी। अतः इन तत्त्वों से समन्वित साधना का सामान्य जनता में प्रचार सातवीं शताब्दी के बाद हुआ होगा, यह अनुमान किया जा सकता है। यद्यपि इस सातवीं शताब्दी के पूर्व का कोई ऐसा ग्रंथ उपलब्ध नहीं है जिसमें मंत्र, मद्य-मांस, मातृ-दुहितृ संबंध आदि को भी खुली छूट दी गई हो तथापि अश्वघोष, नागार्जुन और कुमारलब्ध के समकालीन और नागार्जुन शिष्य आर्यदेव के चित्तविशुद्धिप्रकरण को द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध का ग्रन्थ घोषित कर उसे उपर्युक्त तत्त्वों से समन्वित माना।[२] म.म. हरप्रसाद शास्त्री के इस प्रकार के मत को अधिक मान्यता नहीं मिली। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने इस ग्रंथ के लेखक को ७वीं शताब्दी का आर्यदेव माना।[३] श्री प्रभुभाई भीखाभाई पटेल ने चित्तविशुद्धिप्रकरण का संपादन करते हुए उसकी भूमिका में प्रभूत प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इस ग्रंथ में रचयिता आर्यदेव राहुलभद्र अथवा सरह के शिष्य नागार्जुन के समकालीन थे। अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि इसके रचयिता आर्यदेव पालवंशी शासक गोपाल के समकालीन शाक्यमित्र के पूर्ववर्ती थे अथवा आठवीं शताब्दी के आरंभ के कुछ पूर्व विद्यमान थे।[४] इस प्रकार इस आधार पर भी सातवीं शताब्दी के पूर्व का कोई लिखित प्रमाण आज उपलब्ध नहीं है।

३. अनेक यान और आचारत्रय

मंत्रयान के बाद के तांत्रिक बौद्ध साधना, धर्म और दर्शन के विकास से संबंधित अनेक मत मिलते हैं। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने परवर्ती बौद्ध मत का विभाजन वज्रयान, काल-चक्रयान और सहजयान में किया है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य यान भी हैं जिनका संबंध इस तांत्रिक बौद्ध धर्म से माना जाता है, जैसे—तंत्रयान, मंत्रयान, भद्रयान आदि। संक्षेप में सम्प्रदाय-विभाजन के मतों को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

---

१. *मै. ऑव बु.*, एच. कर्न, पृ. १३३।

२. *ज. ए. सा. बें.*, १८९८ ई., वॉ-१, पा. २, पृ. १७५-१८४ तथा *हि. इं. लि.*, वॉ. २, पृ ३४२।

३. *दि. इं. बु. इ.*, पृ. १, पादटिप्पणी।

४. *चित्तविशुद्धिप्रकरण ऑव आर्यदेव*, प्रभुभाई भीखाभाई पटेल, इंट्रो., पृ. १६।

(१) काजी दवासम दुप[1]

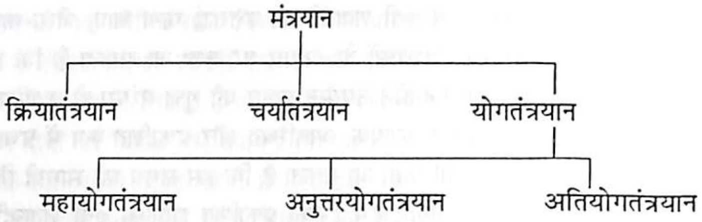

(२) डॉ. शशिभूषण दास गुप्त[2]

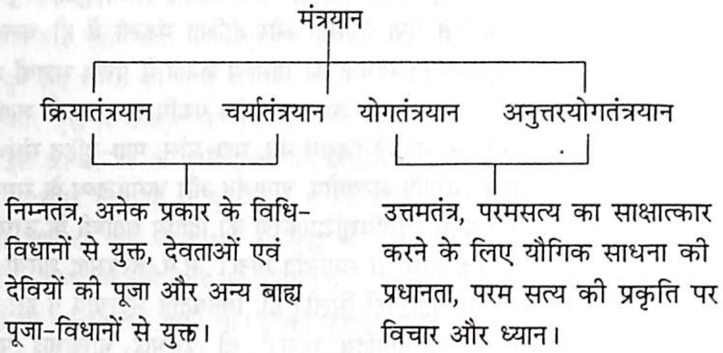

अतियोगतंत्रयान को ही काजी महोदय ने सर्वोत्तम यान माना था। यह अद्वैतवादी एवं शून्यतावादी था। संसार और निर्वाण की अद्वैतता को ही साधक की चरम सिद्धि मानता था।[3] डॉ. दासगुप्त द्वारा प्रस्तुत विभाजन में अनुत्तर योगतंत्रयान अंतिम और सर्वश्रेष्ठ है; किन्तु तारानाथ के प्रमाण पर एच. कर्न ने अनुत्तरयोगतंत्रयान का बाद में प्रभावशाली होना बतलाया है।[4] ऊपर विभाजन में जिस निम्नतंत्र और उत्तमतंत्र का उल्लेख हुआ है, उससे उन दोनों में बाह्य साधना और अन्तस्साधना का अंतर स्पष्ट है। अनुत्तरयोगसाधना का पूर्ण प्रकृष्ट रूप सहजयान के रूप में विकसित प्रतीत होता है, जिसे अतियोगतंत्रयान कहा गया है। इन यानों के अतिरिक्त कालचक्रयान का भी उल्लेख किया जाता है। संभव है कालचक्रयान पहले स्वतंत्र मत रहा हो किन्तु बाद में तांत्रिक बौद्ध समाज द्वारा सम्मिलित कर लिया गया हो। विकासक्रम की दृष्टि से डॉ. भट्टाचार्य ने कालचक्रयान को वज्रयान के बाद स्थान दिया है। डॉ. वेडेल ने वज्रयान के पूर्व कालचक्रयान की उत्पत्ति मानी है। म.म. शास्त्री का कथन है कि वेडेल का यह

---

१. *श्री चक्रसंभारतंत्र,* तांत्रिक ट्रेक्ट्स, वॉ. ७, जेनरल एडीटर आर्थर एवेलेन, एडीटर काजी दवासम दुप, इंट्रो., पृ. ३२; आ. रे. क., शशिभूषण दासगुप्त, पृ. २४।

२. *आ. रे. क.,* दासगुप्त, पृ. २४।

३. *श्रीचक्रसंभारतंत्र,* इंट्रो., पृ. ३१-३३।

४. *मैन्युएल ऑव इंडियन बुद्धिज्म,* पृ. १३३।

मानना भारतीय परंपरा के विरुद्ध है।[१] पारंपरिक दृष्टि से श्रीकालचक्रमूलतंत्र का विवरण 'अभिनिश्रयणसूत्र' में मिलता है। वहाँ कहा गया है कि इसका उपदेश बुद्ध ने श्री धान्यकटक में किया था।[२] कास्मा डे कारास के अनुसार भारत में इसका प्रवर्तन संभव में ९६५ ई. में किया गया था।[३]

ऊपर सम्प्रदायों का जो विभाजन प्रस्तुत किया गया है, उनमें स्पष्ट ही अधिकार-भेद का सिद्धांत निविष्ट दिखाई पड़ता है। अधिकारभेदवाद तंत्रों का प्रिय विषय है। ऊपर क्रियातंत्र, चर्यातंत्र आदि का विभाजन इसी सिद्धांत पर आधारित मालूम होता है। डॉ. भट्टाचार्य ने यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार हिन्दू तंत्रों में दक्षिणाचार और वामाचार नामक दो विभाग स्वीकृत हैं, उसी प्रकार बौद्ध तंत्रों के क्रियातंत्र और चर्यातंत्र को दक्षिणाचार में तथा योगतंत्र और अनुत्तरयोगतंत्र को वामाचार के अन्तर्गत गिना गया है।[४] दक्षिणाचार में पूर्ण कठोर ब्रह्मचर्य, नियमित भोजन, नियमित पान एवं नैतिक आचार की प्रधानता होती है। जब साधक इस आचार में पूर्ण कुशल हो जाता है तभी वह वामाचार में दीक्षित होने का अधिकारी होता है। इस वामाचार में वामा या शक्ति या नारी को आचार साधन का अनिवार्य उपकरण माना जाता है। ऊपर जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि लगभग ७वीं शताब्दी के पूर्व जिस प्रकार की साधना प्रचलित थी, जिसका प्रामाणिक विवरण हमें महायान सूत्रों तथा अन्य ग्रंथों से मिलता है, दक्षिणाचार की थी। अर्थात् उस समय क्रियातंत्र और चर्यातंत्र पर ही विशेष जोर दिया जाता था। यदि वामाचार की कोई साधना प्रचलित रही होगी तो उसका प्रमाण इस समय उपलब्ध नहीं है। ७वीं शताब्दी के ग्रंथ वामाचार की पंचमकारसमन्वित साधना की ओर संकेत करते हैं, उसका विधान करते हैं किन्तु बौद्ध सिद्धों की लोकभाषा की और सहजसिद्धांत की प्रतिपादक रचनाएँ भाव साधना या दिव्य साधना की ओर प्रवृत्त दिखाई देती है।

लगभग सातवीं शताब्दी तक के साहित्य और साधन का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह काल वस्तुतः एवं प्रमुखतः आचार्यों का काल था। इसके बाद से सिद्धाचार्यों के काल का आरंभ माना जा सकता है। वे सिद्धाचार्य अथवा महासिद्ध ८४ की संख्या में प्रख्यात हैं और विभिन्न प्राचीन ग्रंथों में इनका विवरण मिलता है। इनका अधिकतम विस्तारकाल १२वीं ई. शताब्दी स्वीकार किया जाता है। प्रमुख सिद्धों की वर्तमानता सातवीं से ९वीं शताब्दी तक मानी जा सकती है। इन शताब्दियों में ही वज्रयान ने विपुल प्रसार पाया।[५] प्रथम

१. *मॉडर्न बुद्धिज्म एंड इट्स फालोअर्स इन उड़ीसा,* नगेन्द्रनाथ बसु, इंट्रो., म.म. हरप्रसाद शास्त्री, पृ. १-२८।

२. *पैग साम जान,* पृ. जैन, ३७; *आ. रे. क.,* पृ. २६ पर उद्धृत।

३. *आ. रे. क.,* पृ. २६।

४. *इं. बु. ए.,* भट्टाचार्य, पृ. १६९।

५. *वही,* भट्टाचार्य, पृ. ३४-३५।

सिद्ध अथवा आदि सिद्ध के रूप में प्रायः सरहपाद या राहुलभद्र का नाम लिया जाता है। ये वज्रयान के आद्य आचार्य माने जाते हैं। इनका समय ८वीं शताब्दी है जबकि डॉ. भट्टाचार्य ने सरहपाद का समय ६३३ ई. माना है। हम पहले सरहपाद के समय के संबंध में लिख चुके हैं किन्तु यहाँ उनके आदिसिद्धत्व के संबंध में भी विचार कर लेना समीचीन होगा; क्योंकि हेवज्रतंत्र की जिस कापालिक परंपरा में जालंधरपाद और कृष्णपाद का उल्लेख पहले किया गया है, उसके प्रवर्तक-प्रचारक के रूप में सरह का ही नाम लिया जाता है।

सिद्धों में विशेषकर बौद्ध सिद्धों की सूची में सरह, काण्ह, लुई, दारिक, शबर और शांति का नाम विशेष प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण है। लुई और सरह में आदि सिद्ध कौन था, इस पर विवाद है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सरहपाद को आदि सिद्ध माना है और अनेक प्रमाणों के आधार पर उनका समय ७६८ ई. से ८०९ ई. स्वीकार किया है। इन्हीं सरहपाद ने अपनी रचनाओं के द्वारा विचित्र रहन-सहन तथा योग-क्रियाओं से वज्रयान को एक सार्वजनीन धर्म बना दिया था। उनके अनुसार लुईपाद का समय भी सरह की तरह ७६९ ई. से ८०९ ई. है फिर भी सरहपाद के आदि सिद्ध होने का कारण, उनकी दृष्टि में, यह है कि लुईपाद सरहपाद की शिष्य-परंपरा में तीसरी पीढ़ी में थे।[१] अन्यत्र राहुलजी मानते हैं कि ६९३ ई. से ७९३ ई. (शांतरक्षितकाल) के बीच राहुलभद्र सरहपा बन चुके थे। दूसरे ये हरिभद्र के शिष्य तथा राजा धर्मपाल (७७०-८१५ ई.) के समकालीन थे तथा इनकी मृत्यु ७८० ई. के करीब शायद हो चुकी थी।[२] किन्तु प्रसिद्धि और बौद्ध सिद्धों की सूचियों की दृष्टि से सर्वप्रथम नाम लुईपाद का ही आता है। स्वयं राहुलजी ने अनेक स्रोतों से लुईपाद के प्रथम सिद्धत्व का उल्लेख किया है।[३] डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने कालज्ञाननिर्णय की भूमिका में मत्स्येन्द्रनाथ और लुयीपा को अभिन्न मानते हुए लुईपाद को ही आदिसिद्ध माना है।[४] म.म. शास्त्री ने लुयीपा को सहजिया नामक नूतन सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना है और उनके आदिसिद्धाचार्यत्व की ओर भी संकेत किया है।[५] इसके होते हुए भी सिद्ध परंपरा में प्रथम होने के कारण तथा साधनात्मक दर्शन और क्रांतिकारी विचारों के सर्वप्रथम ज्ञात पुरस्कर्ता होने के कारण सरहपाद का आदिसिद्धत्व निर्विवाद होना चाहिए। तिब्बती स्रोतों से इसकी पुष्टि होती है। तारानाथ का यह कथन कि जब श्री सरहपा अवतरित हुए तब वे सब प्रकाश में आ गईं।[६] यह स्पष्ट करता है कि इसके पूर्व सारी साधनाएँ और पद्धतियाँ गुप्त रीति से चलती रही होंगी। तारानाथ ने ही यह बताया कि इसके पूर्व

१. पुरातत्व निबंधावली, पृ. १४७, १४८, १५५, १७४।
२. *दोहाकोश,* सिद्ध सरपाद कृत, भूमिका, पृ. १२-१३।
३. *वही,* पृ. १८-२०।
४. *कौलज्ञाननिर्णय,* सं. डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची, इंट्रो. पृ. २४।
५. *बौ. गा. दो.,* शास्त्री, पदकर्तादेर परिचय, पृ. २१।
६. *मि. टे.,* पृ. १०८।

सारी साधनाएँ गुप्त रीति से चलती रही। राहुलभद्र साधना में निष्णात थे।[१] उनके दोहाकोश में सहजाम्नाय का दर्शन अद्वयवज्र ने किया था।[२] सरहपाद स्वयं योगिनीमार्ग के उपदेष्टा एवं सिद्ध थे। उनकी रचनाओं में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं।[३] साथ ही वे सहज स्वभाव और सहज संवरज्ञान का भी उपदेश करते हैं।[४] इस प्रकार सरोजवज्र अथवा सरहपाद का तांत्रिक बौद्ध धर्म अथवा वज्रयान के व्यवस्थापन, प्रचार एवं प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

वस्तुत: वज्रयान का आरंभ वज्रभावना की प्रतिष्ठा के साथ मानना चाहिए। देवियों और देवताओं की कल्पना उनकी विशेषता, चिह्न, अस्त्र-शस्त्र, आभूषण, वेश-भूषा, सबमें महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया। इस यान के अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ प्रमुख ग्रंथ हैं—आदिकर्मप्रदीप, अष्टमी व्रतविधान, साधनमाला, साधनसमुच्चय, पंचक्रम, गुह्य समाज अथवा तथागतगुह्यक मंजुश्रीमूलकल्प, ज्ञानसिद्धि, अद्वैतसिद्धि, चंदमहारोषणतंत्र, चक्रसंभारतंत्र, अद्वयवज्रसंग्रह, हेवज्रतंत्र आदि। तांत्रिक महायान के पूर्वोक्त उपायानों के अनुसार ही वज्रयान के साहित्य का भी विभाजन मिलता है। क्रियातंत्रों में मन्दिर-निर्माण, देवमूर्ति-स्थापना आदि की धार्मिक विधियों का विवेचन मिलता है। चर्यातंत्रों में व्यावहारिक आचार संबंधी नियमों का विधान है। योगतंत्र योगाभ्यास का विवेचन करते हैं तथा अनुत्तरयोगतंत्र उच्चतर रहस्यवाद का विवेचन करते हैं। प्रथम विभाग में आदि कर्मप्रदीप, अष्टमी व्रत विधान, साधनमाला, साधन समुच्चय जैसे ग्रन्थों की गणना की जाती है। पंचक्रम अनुत्तरयोगतंत्र का ग्रन्थ है। मञ्जुश्रीमूलकल्प की गणना इसी कोटि में की जाती है। आदिकर्मप्रदीप की पद्धति गृह्यसूत्रों की है जिसमें प्रतिदिन की क्रियाओं, ध्यान, दीक्षा, प्रार्थना आदि की विधियाँ मिलती हैं। अष्टमी व्रत-विधान में व्रतों, मुद्राओं और यंत्रों, मंत्रों सहित प्रार्थनाओं (यथा हुं हुं फट् फट् स्वाहा) का प्रयोग केवल बुद्धों और बोधिसत्वों के लिए ही नहीं, शैव देवताओं के लिए भी स्वीकार किया गया है। इसमें सिद्धि प्रवृत्ति के साथ-साथ अंगुलियों की मुद्राओं का विधान भी है। ऐसे ग्रंथों में देवताओं के उचित रूप, आकार, वर्ण आदि का पूर्ण विस्तार से वर्णन मिलता है क्योंकि साधक को किसी देवता के ध्यानमग्न होने की सम्मति दी गई है। मूर्तिकारों एवं चित्रकारों के लिए भी ये निर्देश उपादेय हैं।[५] इसी दृष्टि से साधनमाला और साधनसमुच्चय ग्रंथ भी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें जिन देवताओं एवं देवियों की पूजा-उपासना के लिए मंत्रादिकों का विधान किया गया है, उनमें प्रमुख हैं—ध्यानी बुद्ध, उनके कुल, देवीतारा के विभिन्न रूप। साधनमाला भाग-१ की देवियाँ हैं—तारा, विश्वमाता, मारीची, प्रज्ञापारमिता, सरस्वती आदि।

१. *मि. टे.*, पृ. ३।
२. *दोहाकोश,* सं. डॉ. बागची, पृ. ७२।
३. *वही,* पृ. ३४, दो. सं. ८४-८६।
४. *वही,* पृ. ३४, दो. सं. ८३, ८७।
५. *ए. हि. इं. लि.*, पृ. ३८९-३९४।

बोधिसत्व मंजुश्री के अवतार तथा माहदेवता वज्रानंग का विवरण साधनमाला के साधन ५९-६० में मिलता है। यद्यपि इन साधनों के मूल तत्त्व भूत विद्या और सिद्धियाँ हैं तथापि उनमें योगाभ्यास, पूजा-उपासना, मैत्री, करुणा आदि का भी समायोग है। इस ग्रंथ के ३१२ साधनों के लेखक हैं—तांत्रिक असंग, तांत्रिक नागार्जुन, इन्द्रभूति, पद्मवज्र, लक्ष्मींकरा, सहजयोगिनी चिन्ता, रत्नाकरगुप्त, अद्वयवज्र, सरहपाद, रत्नाकरशान्ति, श्रीधर आदि।

उत्तम तंत्रों में गुह्यसमाजतंत्र बहुत प्रतिष्ठित है। इसे प्राचीनतम उपलब्ध बौद्ध तंत्रों में सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है।[१] इसमें तांत्रिक बौद्ध धर्म अथवा वज्रयान का विविध-पक्षीय विवेचन मिलता है।[२] इसकी विशेषता यह है कि यह बौद्धधर्म में शक्तितत्त्व की विविध रूपों में घोषणा करता है। इसमें सामान्य सिद्धि (अन्तर्द्धान, अणिमा, लघिमा आदि), उत्तम सिद्धि (बुद्धत्व प्राप्ति), इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्ति, षडंगयोग में निष्णात होने के बाद बुद्धतत्त्वप्राप्ति, इच्छाभोग से बुद्धतत्त्वप्राप्ति, शक्तितत्त्वप्रतिष्ठा, प्रत्येक ध्यानी-बुद्ध के साथ एक-एक शक्ति की कल्पना, प्रत्येक साधक के साथ शक्ति की आवश्यकता, प्रज्ञाभिषेक, मद्य-मांस-मैथुन-मत्स्य का मुक्त उपयोग, हय-हस्ति-श्वान-मांस के अतिरिक्त महामांस तक का विधान, पवित्र-ग्रंथ-पाठ, मंडल-निर्माण, रत्नपूजा आदि की निरर्थकता के क्रांतिकारी विचार सर्वप्रथम व्यक्त हुए हैं।[३] गुह्यसमाजतंत्र की दृष्टि में योगी के लिए सामाजिक नियम और मर्यादाएँ व्यवहार्य नहीं हैं। वह उनका उल्लंघन कर सकता है। उसे असत्य भाषण, जीवहिंसा, परद्रव्यहरण, नारिसेवनादि कार्य स्वतंत्र होकर करना चाहिए। इसे ही वज्रमार्ग कहा गया है।[४] शून्यता का साक्षात्कार कर लेने वाले व्यक्ति के लिए यह संसार नाटक है जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। इस ग्रंथ में चार प्रकार के उपायों, दो प्रकार की सेवा षडंगयोग, हठयोग आदि का भी उपदेश मिलता है।

कहा गया है कि उत्तम सिद्धि की साधना प्रारम्भ करने के पूर्व साधक को हठयोग में पूर्ण निपुण हो जाना चाहिए।[५] सामान्य चामत्कारिक सिद्धियों के संबंध में भी निर्देश मिलते हैं। षटकर्म (मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेषण, आकर्षण, शांतिक आदि) का भी विधान है।[६] बोधिचित्त तथा उसके उत्पाद का विस्तार से विवेचन है तथा इसके साधन से, वज्रमार्ग के अनुसरण से पतिततम तथा अनैतिकतम व्यक्ति को भी निर्वाण की प्राप्ति संभव बताई गई है।[७] देवताविवेचन की दृष्टि से भी

---

१. *स्ट. बु. क. इं.*, पृ. ३०८।

२. *वही*, पृ. ३३२-३३४।

३. *गुह्यसमाजतंत्र*, सं. विनयतोष भट्टाचार्य, पृ. १६२-१६३, २७, ११४, १-३, १६१, २६, १४२।

४. *वही*, पृ. १२०—प्राणिनश्च त्वया धात्या वक्तव्यं च मृषा वचः। अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषितामपि॥ अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्वान्प्रचोदयेत्। एषो हि सर्वबुद्धानां समयः परमशाश्वतः॥

५. *गुह्यसमाजतंत्र*, पृ. १६५; इंट्रो. बी. भट्टाचार्य, पृ. १६-१७।

६. *वही*, पृ. ६६-६७, ८४-८५, ९६। ५. *वही*, पृ. १३, २०।

७. *वही*, प्रथम पटल, पृ. १-१०, इंट्रो, पृ. २५-२९।

यह ग्रंथ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें पहली बार ध्यानी बुद्धों का व्यवस्थित विवेचन मिलता है। ये ध्यानी बुद्ध हैं—अक्षोभ्य, अमिताभ, वैरोचन, अमोघसिद्धि और रत्नसंभव तथा इनकी शक्तियाँ हैं—लोचना, मामकी, तारा, पांडरा और समयतारा। चार द्वार रक्षक हैं—प्रज्ञांतक, पद्मांतक, यमांतक, विघ्नांतक। अचल, टक्किराज, नीलदंड, महाबल नाम के चार देवताओं के भी उल्लेख हैं जो या तो मंजुश्री के साथ रहते हैं या उष्णीष-विजया के साथ। भूताधिपति अपराजित, घनेश जंभल, कार्तिकेय, मंजुश्री, मंजुवज्र, अवलोकितेश्वर का भी नाम आया है। भविष्यत् बुद्ध मैत्रेय, बोधिसत्व, वज्रपाणि का भी उल्लेख है। इस ग्रंथ में वज्रधर और वज्रसत्व परस्पर मिश्रित हो गए हैं और परमोच्च देवता तथा शून्य के मानवीकृत रूप हैं। परवर्ती विकास में वज्रधर परमोच्च देवता हो गए और वज्रसत्व छठें ध्यानी बुद्ध। गुह्यसमाज में वज्रसत्व ध्यानी बुद्ध के रूप में नहीं हैं। ये यहाँ बौद्ध देवताओं के अधिदेव के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।[१]

अन्य ग्रंथों में प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, ज्ञानसिद्धि, साधनमाला, अद्वयवज्रसंग्रह आदि की गणना की जा सकती है। प्रथम दो ग्रंथों में प्रज्ञोपाय, संसारनिर्वाण, तत्त्वचर्या, गुरुशिष्यवाद, दीक्षा, मुद्रा, वज्राचार्यपूजा जैसे अनेक दार्शनिक एवं साधनात्मक विषयों का विवेचन है। ये दोनों ही ग्रंथ उत्तमतंत्र के अन्तर्गत हैं। साधनमाला में मंत्र-मण्डल तत्त्व प्रबल हैं। देवी-देवता-पूजन, उनके स्वरूप आदि के लिए यह ग्रंथ अति महत्त्वपूर्ण है। अद्वयवज्रसंग्रह में दार्शनिक विचारणा भी है। इसमें अन्य विषय वज्रयानी ग्रंथों के समान ही हैं।[२]

इस संपूर्ण विवेचन का तात्पर्य यह है कि तांत्रिक महायान धर्म में साधना-उपासना की दृष्टि से तीन स्तर थे। उन्हें हम आम्नाय भी कह सकते हैं। प्रथमत: साधकों का एक वर्ग ऐसा था जो मंत्र, मंडल, अंगुलियों की मुद्राओं, देवी-देवताओं की तांत्रिक विधि-विधानयुक्त पूजा-उपासना में विश्वास करता था और इनका अनुसरण करता हुआ अनेक सिद्धियों, भौतिक-सांसारिक उपलब्धियों, रोगनाश, षट्कर्मों के फल आदि को प्राप्त करता था। इस वर्ग में संयम, सदाचार, शील आदि के पालन का विधान था। दूसरा वर्ग इससे सर्वथा भिन्न था जो उपर्युक्त क्रम से निष्पन्न, शुद्ध और शक्तिसंपन्न होकर तांत्रिक विधिविधान से भी प्रज्ञासाधना में प्रवृत्त होता था और पंचमकारों, पंचपवित्रों के सेवनादि में पूर्ण स्वच्छन्दता का आचरण करता हुआ। प्रज्ञोपायाद्वय की स्थिति तक पहुँचता था यह वर्ग सामाजिक विधिविधान, मानमर्यादा, संबंध का तिरस्कार और उल्लंघन करता हुआ अग्रसर होता था। एक तीसरे साधक वर्ग के भी कुछ संकेत उपर्युक्त ग्रंथों में मिलते हैं जो इन सभी बाह्याचारों (प्रथम एवं द्वितीय, दोनों) का खंडन कर इन सबसे सर्वथा परे रहकर परममहासुख का अनुभव अन्तस्साधना द्वारा करता था। इस वर्ग के लिए संसार-निर्वाण आदि जितने भी द्वैत हैं, उन सबकी कोई इयत्ता नहीं थी। ठीक

१. *गुह्यसमाजतंत्र,* प्रथम पटल, पृ. १-१०, इंट्रो., पृ. २५-२९।

२. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—टु वज्रयान वर्क्स में प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि और ज्ञानसिद्धि; अद्वयवज्रसंग्रह—पृ. २-४, ५-८, १०-११, २३-२४, २६-२९, ३३-३५, ४२, ५०।

इसी प्रकार के स्तर हिन्दू तांत्रिक साधना में पश्वाचार, वीराचार और दिव्याचार में दिखाई पड़ते हैं। बौद्धों का प्राचीनतम अधिकारभेदवाद यहाँ तक विस्तृत है। यदि उपर्युक्त तांत्रिक बौद्ध यानों को आचार की दृष्टि से देखा जाए तो मंत्रयान अथवा मंत्र-मंडल-मुद्रा संयुक्त साधना को पश्वाचार अथवा पशुभाव की श्रेणी में रखा जा सकता है। साधकों के द्वितीय वर्ग की साधना को वीराचार अथवा वीरभाव की श्रेणी में और तृतीय वर्ग के साधकों की साधना को दिव्याचार अथवा दिव्यभाव की श्रेणी में रखा जा सकता है। बौद्ध शब्दावली में तीसरी साधना अनुत्तरयोगतंत्रयान और अतियोगतंत्रयान की साधना है। किसी-किसी ग्रंथ में द्वितीय और तृतीय साधनास्तर, दोनों का व्याख्यान मिलता है और किसी में प्रथम एवं द्वितीय का।

मंत्रयान और वज्रयान के अतिरिक्त कालचक्रयान और सहजयान नाम के दो और यानों की भी चर्चा विद्वानों ने की है। कालचक्रयान वस्तुतः आदिबुद्ध मत है। इसे बौद्ध धर्म का ईश्वरवादी रूप कहा जा सकता है जिसका प्रचार तिब्बत में कालचक्रयान के रूप में हुआ। इसे भी महायानी विचारधारा का स्वाभाविक विकास माना गया। पंचध्यानी बुद्धों को भी एक आदिम बुद्ध के प्रकाशन अथवा अवतार के रूप में कल्पित किया गया। विद्वानों का विचार है कि यद्यपि इस संप्रदाय के किसी निश्चित रूप के संबंध में कालचक्रयानी साहित्य के आने के पूर्व कोई निश्चित उल्लेख नहीं मिलता किन्तु आदिबुद्ध सिद्धांत की व्याख्या कारण्डव्यूह जैसे महायान सूत्रों में मिलती है।[१] सर चार्ल्स इलियट मानते हैं कि यह संप्रदाय शैव की अपेक्षा वैष्णव अधिक है। उनका अनुमान है कि वैष्णव पांचरात्र मत का बौद्धों से भी संबंध है। विष्णु बुद्धों और बोधिसत्वों के समान शून्य रूप में वर्णित हैं। पांचरात्र मत में चक्र की बड़ी महिमा है। इस चक्र ने संभवतः परवर्ती तांत्रिक बौद्ध धर्म को प्रभावित किया हो और कालचक्र की भी वैचारिक प्रेरणा दी हो।[२] अतिश ने तिब्बत में कालचक्रयान का प्रचार किया था और इस प्रकार वहाँ के प्रचलित धर्म में सुधार किया। जिस समय यह प्रचलित किया गया, उस समय वहाँ के तत्कालीन प्रचलित धर्म से यह अपेक्षाकृत अधिक अनुशासित और व्यवस्थित था। इसके प्रवर्तकों में बो-स्तन के गुरु दोर्जे-पल का भी नाम लिया जाता है।[३] तिब्बत का धार्मिक पुनर्जागरण अतिश के नाम से सम्बद्ध है। यह कार्य उन्होंने इस यानविशेष के प्रवर्तन से किया था। वहाँ, एकमत के अनुसार इसका प्रवर्तन १०२५ ई. में हुआ था।[४] इसका मूल प्रवर्तन स्थल शम्भल बताया जाता है। यह प्रदेश भारत में भी हो सकता है और मध्य एशिया में भी कहीं हो सकता है जहाँ बौद्ध धर्म तुर्की विचारों से विमिश्रित हो गया। इसके शासक कुलिक कहलाते थे। अतिश ने जिस तिब्बती समयचक्र (कैलेण्डर) का प्रवर्तन किया था, वह भी तुर्की स्रोत से आया था।

१. *हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म,* सर चार्ल्स इलियट, वॉ. २, पृ. ३१-३२, ११८।
२. *वही,* वॉ. २, पृ. १२९, १९८।
३. *वही,* वॉ. ३, पृ. ३५३, ३५७।
४. *वही,* वॉ. ३, पृ. ३८०।

तुर्की समयचक्र में तिथियों को सूचित करने के लिए द्वादश पशुओं का प्रयोग होता था। ठीक इसी प्रकार अतिश ने भी प्रवर्तित किया। यह समयचक्र ही कालचक्र का विचारोत्प्रेरक रहा। श्री इलिएट ने एक मौलिक स्रोत के आधार पर बताया है कि शाक्यमुनि ने कालचक्र सिद्धांत का प्रवर्तन उड़ीसा के धान्यकटक स्थान पर किया था और शम्भल के शासक सुचंद्र ने चामत्कारिक ढंग से इस उपदेश को प्राप्त किया और कालचक्रतंत्र की स्फूर्त रचना की, यद्यपि इसका प्रकाशन ९६५ ई. में हुआ। श्री इलियट मानते हैं कि वस्तुतः यह ग्रंथ के संग्रह की संभावित तिथि है।[१]

कालचक्रयान की अपनी सुदृढ़ दार्शनिक भित्ति भी है। म.म. हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार काल का अर्थ है मृत्यु और नाश। कालचक्र का अर्थ नाशचक्र है और तदनुसार यान से संयुक्त होने पर इसका अर्थ होगा—काल या नाश के चक्र से रक्षा करने वाला मार्ग।[२] सेकोद्देश टीका में इसका अर्थ भिन्न प्रकार से दिया गया है जिसके अनुसार 'का' का अर्थ शांत कारण, 'ल' का 'लय', 'च' का अर्थ चंचल चित्त तथा 'क्र' का अर्थ 'क्रमबंधन' द्योतित होता है। अर्थात् सांसारिक विषयों से चंचल चित्त के साथ परम शांत कारण (आदिबुद्ध) में प्राण के लय को कालचक्र कहते हैं।[३] आदिबुद्ध की कल्पना करुणा और शून्यता की मूर्ति के रूप में की गई है। उन्हीं की संज्ञा काल है। उनकी शक्ति संवृतिरूपिणी है। अर्थात् जगत् का यह व्यावहारिक रूप (संवृति) उन्हीं की शक्ति है। चक्र सतत परिवर्तनशील विश्व का प्रतिनिधि है। शक्ति से संवलित रूप कालचक्र है। यह अद्वय (दो होकर भी एक) है तथा वह नित्य अविनश्वर अथवा अक्षर है।[४] वैडेल के आसुरबुद्ध संबंधी मत को सभी विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया। इस यान के प्रमाण ग्रंथ हैं—श्रीकालचक्रमूलतंत्र, सेकोद्देशटीका, परमार्थ सेवा, विमलप्रभा। पिंडब्रह्माण्डवाद जैसे सिद्धांत को यह यान पूर्ण रूप से स्वीकार कर प्राणा-पाननियंत्रण को सर्वोत्तम साधन मानता है। इस आधार पर डॉ. दासगुप्त को इन दोनों यानों में परस्पर कोई मौलिक भेद नहीं मालूम पड़ता।[५] विद्वानों का विचार है कि काल या प्राणापान की इस प्रकार की साधना का विवेचन कश्मीर के तांत्रिक शैव ग्रंथों में भी मिलता है। काल के विभिन्न रूपों का प्राण और अपान की विभिन्न क्रियाओं के रूप में वर्णन तंत्रालोक के षष्ठ परिच्छेद में अभिनवगुप्त ने किया है। पं. बलदेव उपाध्याय का स्पष्ट मत है कि ये सिद्धांत वे ही हैं, जिनको आधार मानकर तांत्रिक बौद्ध संप्रदाय ने अपने नवीन यान कालचक्रयान का प्रवर्तन किया।[६] साधना की दृष्टि से इसका विचार

---

१. *हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म,* वॉ. ३, पृ. ३८६-३८७।

२. *मॉडर्न बुद्धिज्म एंड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा,* नगेन्द्रनाथ बसु, इंट्रो. म. म. हरप्रसाद शास्त्री, पृ. ८।

३. *सेकोद्देश टीका,* सं. मेरिओ इ. करेल्ली, पृ. ८—'ककारात्कारणे शान्ते लकाराल्लयो अत्र वै। चकाराच्चलचित्तस्य क्रकारात्क्रमबंधनैः'॥

४. *वही,* पृ. ८, 'करुणाशून्यतामूर्तिः काल संवृत्तिरूपिणी। शून्यता चक्रमित्युक्तं काल-चक्रोऽद्वयोक्षरः॥' तथा *बौद्ध दर्शन मीमांसा,* पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. ४५६-४५७।

५. *आ. रे. क.,* दासगुप्त, पृ. २६-२७।

६. *बौ. द. मी.,* पृ. ४५४; *आ. रे. क.,* पृ. २७।

आगे किया गया है। संप्रदाय के रूप में इसकी पृथक् सत्ता विवादास्पद है। वैडेल का मत तिब्बती दृष्टि से आविल है, अतः इस यान को पृथक् सत्ता देने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। योग संबंधी वैशिष्ट्य अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि हठयोग का इस रूप में महत्त्व प्रतिपादन और यानों में नहीं मिलता। इस प्रकार अन्य यानों की अपेक्षा इस यान पर हिंदू तांत्रिक प्रभाव अधिक स्पष्ट है। कश्मीर शैव मत की प्राचीन परम्परा को दृष्टिगत रखकर इसे स्वीकार करना चाहिए।[१]

सहजयान के नामकरण और उसकी स्वतंत्र सत्ता को लेकर बहुत विवाद है। मंत्रयान अथवा मंत्रमार्ग के अवान्तर भेदों की चर्चा करते हुए म. म. गोपीनाथ कविराज ने वज्रयान, कालचक्रयान तथा सहजयान को क्रमशः मंत्रमार्ग से ही आविर्भूत माना। उनके अनुसार 'इनमें किंचित् भेद है किन्तु बहुत अंशों में सादृश्य है। वस्तुतः सभी मंत्रमार्ग के ही प्रकारभेद हैं। इस दृष्टि से भेद नहीं है। मालूम होता है, एक ही साधनधारा विभक्त होकर भाव के गौण एवं प्रधान भाव से विभिन्न रूप में व्याप्त हो गई है।......मंत्रनय की तीनों धाराएँ परस्पर मिलती हैं। वस्तुतः यही बौद्ध तांत्रिक धर्म है।'[२] पं. बलदेव उपाध्याय सहजयान को वज्रयान का ही दूसरा नाम मानते हैं।[३] सहजयान को उस तांत्रिक बौद्धमत की परवर्ती शाखा के रूप में डॉ. शशिभूषण दासगुप्त प्रदान करते हैं जिसकी प्रारंभिक स्थिति मंत्रयान के रूप में दिखाई पड़ती है; किन्तु इस प्रकार के कालचक्रयान सहजयान आदि के रूप में विभाजन को वे दोषपूर्ण मानते हैं क्योंकि ये दोनों यान हमें वज्रयान के अन्तर्गत ही प्रतीत होते हैं। फिर भी वे बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों को सहजयान पर आधृत मानते हैं।[४] उन्होंने सहजयान शब्द को दो दृष्टियों से विशिष्ट माना है। आत्मा की परम सहजा प्रकृति के साक्षात्कार को लक्ष्य रूप में स्वीकार करने के कारण तथा धर्मों या पदार्थों की सहज प्रकृति के ज्ञान को लक्ष्य रूप में स्वीकार करने के कारण इसका सहजयान नाम सार्थक है। दूसरे, मानव की सहज प्रकृति पर अनावश्यक दबाव डालने के स्थान पर यह व्यक्ति को परम सत्य का सर्वाधिक स्वाभाविक मार्ग से साक्षात्कार करने का अवसर देता है। यह उस मार्ग पर अनुसरण की छूट देता है जिस पर मानव प्रकृति उसे ले जाती है। डॉ. दासगुप्त ने संपुटिका से उद्धरण देकर यह स्पष्ट किया है कि मन्मथ तो प्रत्युत्पन्न है और मानव स्वभाव का अंग है। मानव स्वभाव तो दुरतिक्रम है।[५] इसीलिए इस मन्मथ का योग क्रिया में सत्य के साक्षात्कार के लिए रूपान्तर बुद्धिमत्ता है। सहज अथवा बोधिचित्त का

---

१. काश्मीर शैव मत की पारंपरिक प्राचीनता के लिए द्रष्टव्य—*काश्मीर शैविज्म,* जगदीशचन्द्र चटर्जी, पार्ट-१, पृ. ४०।

२. *भारतीय संस्कृति और साधना,* म. म. गोपीनाथ कविराज, भाग १, पृ. ५२८।

३. *बौ. द. मी.,* पृ. ३६८।

४. *आ. रे. क.,* पृ. १३-१४, १७, २४, २६; ऐन इंट्रो. तां. बु., पृ. ७१।

५. *वही,* पृ. ५२—'असौ हि भगवान् योगः स्थिर-शाश्वत परमः। मन्मथतः प्रत्युत्पन्नः (सदा चैव) स्वभावो दुरतिक्रमः॥'

साक्षात्कार अथवा उसकी उपलब्धि यदि एक बार भी हो जाती है, तो सब कुछ की उपलब्धि हो गई। फिर मंत्रोच्चार, तप, होम, मंडल तथा मंडलक्रिया आदि की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। महासुख के रूप में सहज अथवा बोधिचित्त, मंत्र, तप, होम, मंडल तथा मंडलक्रिया सब कुछ है।[१] इससे स्पष्ट है कि डॉ. दासगुप्त सहजयान को वज्रयान के अन्तर्गत ही एक आम्नाय के रूप में मान्यता देते प्रतीत होते हैं जिसमें चरमावस्था प्राप्त करने पर बाह्याचारों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने भी तांत्रिक बौद्ध साहित्य का विभाजन परवर्ती बौद्ध मत के वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान नाम के विभाजनों के अनुसार ही स्वीकार किया है।'[२] यद्यपि उन्होंने तंत्रयान, मंत्रयान, भद्रयान जैसे कुछ लघुयानों की भी चर्चा की है जिनका उदय वज्रयान से हुआ था।[३] सहजिया मत भी वज्रयान की ही शाखा है। किन्तु सहजयान का कोई पृथक् साहित्य नहीं है और पदों और दोहों के सहजिया कवि वज्रयान के प्रसिद्ध ग्रंथों को अपने प्रमाणग्रंथ के रूप में स्वीकार करते हैं। सहजिया के प्रवर्तक अपना पूरा आग्रह जीवन और धर्म के आडम्बर और औपचारिकता के विरोध में व्यक्त करते हैं। सत्य की उपलब्धि न तो कभी तप, कृच्छ्राचार आदि से हो सकती है और न पाठ, दर्शन, व्रत, स्नान, मूर्ति-निर्माण, देव-देवीपूजा अथवा वज्रयान में प्रतिपादित कर्मकाण्ड से हो सकती है। इसका स्वसंवेदन सर्वथा परंपराविरुद्ध पद्धति से तत्त्वदीक्षा तथा योगाभ्यास के द्वारा ही हो सकता है। इन विशेषताओं से सहजिया लोगों की पृथक् सत्ता सामान्यतया वज्रयानियों से स्पष्ट भासित होती है।[४] इस सहजिया संप्रदाय ने ही वज्रकाय का रूपान्तर सहजकाय में कर दिया। यह सहजकाय वह चतुर्थ काय है जो धर्मकाय के ऊपर स्थित है।[५] इसी यान ने वज्रयान में प्रचलित महायानी बोधिचित्त के स्वरूप का संस्कार किया और इस प्रकार महासुख और निर्वाण में अभिन्नता स्थापित की। महायानी बोधिचित्तोत्पाद की धारणा का सहजयानी यौनयौगिक साधना द्वारा उत्पन्न सघन आनन्द की व्यवस्था में रूपान्तर हो गया। वज्रयान में बोधिचित्त को कभी-कभी शुक्र के पर्याय के रूप में व्यक्त किया जाता है किन्तु सहजयान में सर्वदा इसका व्यवहार शुक्र के रूप में ही होता है।[६] इन आधारों पर भी डॉ. शशिभूषण दासगुप्त ने सहजयान की पृथक्ता प्रतिपादित की है।

कुछ अनुसंधित्सु और भौतिकवादी विवेचक अधिकार भेदवाद संबंधी सिद्धांतों को भलीभाँति बिना समझे ही यह निर्णय कर देते हैं कि सहजयान नामकरण व्यर्थ,

---

१. *आ. रे. क.*, पृ. ५२-५३, 'न मन्त्रजापो न तपो न होमो न मण्डलेयम् न च मण्डलं च। स मन्त्रजापः स तपः स होमः स मण्डलेयम् तन्मण्डलं च।—हेवज्रतंत्र।

२. *एन. इं. बु. ए.*, पृ. ५२।

३. *ऐन इं. बु. ए.*, पृ. ५३।

४. *वही*।

५. *वही*, पृ. ९०।

६. *वही*, पृ. १५८-१५९।

असंगत और अप्रामाणिक है। सहजयान के पार्थक्य को व्यर्थ और अप्रामाणिक बताते हुए डॉ. धर्मवीर भारती ने उसके कारण दिए हैं। उनके अनुसार सभी सिद्ध वज्रयानी थे। बौद्ध ग्रंथों में पृथक् संप्रदाय के रूप में सहजयान नाम नहीं मिलता। अधिक से अधिक सहजयान एक आम्नाय हो सकता है। सहज शब्द चीनी ताओ का संस्कृत अनुवाद-मात्र हो सकता है। विष्णुपुराण में सहज और सहज सिद्धि का पर्याप्त विवेचन है।[१]

सहजयान नामकरण के औचित्य और प्राचीनता के संबंध में हम पहले भी कुछ कह चुके हैं। कठिनयान और सहजयान नामकरण के मूल में जो प्रवृत्ति क्रियाशील थी उसका दर्शन हमें इस परवर्ती नामकरण में भी होता है। वज्रयान की कर्मकाण्डप्रधानता तथा बाह्याडंबर की प्रचुरता समयसाध्य और विशिष्टजनसाध्य थी। उसकी प्रतिक्रिया में इस सहज पद्धति विशेष का एक पृथक् यान के रूप में विकास हुआ। पूर्ववर्ती सहजयान नाम उस माध्यमिक परंपरा में जीवित रहा होगा जिसका पुष्कल प्रभाव सहजयानी साहित्य पर पड़ा है। यदि केवल आम्नाय के रूप में अथवा साधनापद्धति विशेष के रूप में ही मान्यता दी जाए तो उससे अनेक प्रश्नों की उलझन बढ़ जाती है। यदि पद्धति विशेष की ही बात होती तो वज्रयान के अनेक साधनात्मक उपकरणों पर सहज को प्रतिष्ठित न किया गया होता। सहजकाय सहजप्रेम, सहजमार्ग, सहजसुख, सहजसुन्दरी, सहजानंद, सहजामृत रस, सहजावस्था, सहजतनु जैसे शब्दों का दर्शन न होता। वज्रयान से इसका वैशिष्ट्य दिखाने के लिए ही यह किया गया प्रतीत होता है। स्पष्ट ही इस यान ने वज्र (कठोर, कठिन) के स्थान पर सहज (सरल, नैसर्गिक, स्वाभाविक) की प्रतिष्ठा की। इस सहज तत्त्व की प्रतिष्ठा के साथ वज्र शब्द का दार्शनिक अर्थ भी ग्रहण किया गया। हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि चर्यापदों का मूलाधार सहजयान है। सरहपाद जैसे अनेक आचार्यों ने संस्कृत को छोड़कर लोकभाषा (अपभ्रंश) में रचना की। राहुलजी के अनुसार सिद्धों के ऐसा करने के अनेक कारण थे—वह धर्म, आचार, दर्शन आदि सब विषयों में एक क्रांतिकारी विचार रखते थे। अपने वज्रयान की जनता पर विजय पाने के लिए उन्होंने भाषा की कविता का सहारा लिया। सिद्धों ने भाषा में कविता करके यद्यपि अपने विचारों को जनता के समझने लायक बना दिया, तथापि डर था कि विरोधी उनके आचार विरोधी कर्मकलाप का खुलेआम विरोध कर कहीं जनता में घृणा का भाव न पैदा कर दें, इसीलिए वह एक तो विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्तियों को ही सुनने का अवसर देते थे, दूसरे भाषा भी ऐसी रखते थे, जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार दोनों में लग जाए।[२]

राहुलजी ने यद्यपि वज्रयान और सहजयान के स्पष्ट भेदक तत्त्वों के ऊपर कुछ नहीं लिखा है किन्तु उनके उपर्युक्त विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सरह द्वारा प्रवर्तित (सहज-)यान वज्रयान की अनुयायियों को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न लोकभाषा की कविता के सहारे कर रहा था। म. म. हरप्रसाद शास्त्री के

१. *सिद्ध साहित्य,* डॉ. धर्मवीर भारती, पृ. १४६-१५४।
२. *पुरातत्व निबंधावली,* पृ. १६०।

अनुसार लुयीपा ने ९वीं शताब्दी में सहजिया मत का प्रचार किया और ९वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक इस मत का अनवरत प्रवाह चलता रहा।[१] उन्होंने बंगला और तिब्बती पोथियों के आधार पर ऐसा निश्चय किया है। डॉ. विंटरनित्स के अनुसार लक्ष्मींकरा ने 'अद्वयसिद्धि' ग्रंथ से नवीन अद्वैतवादीमत सहजयान का प्रवर्तन किया जो अभी भी बाउलों में जीवित है। लक्ष्मींकरा इन्द्रभूति की बहन थीं। उन्होंने संन्यास, धार्मिक शिष्टाचार, मूर्तिपूजा आदि का खंडन किया और सभी देवताओं के आश्रय एकमात्र शरीर पर ध्यान लगाने को कहा। विंटरनित्स का यह भी कहना है कि इस सहजयान की रचनाएँ दोहों और गानों में अपभ्रंश में लिखी गई हैं।[२] डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य के मत से डॉ. विंटरनित्स का समर्थन होता है लक्ष्मींकरा द्वारा प्रवर्तित सहजिया मत आज भी बंगाल के नाढा-नाढियों और बाउलों में जीवित है। उनका मत यह घोषणा करता है कि सत्यानुभव कर लेने पर साधक निर्बंध हो जाता है। पेयापेय, खाद्य-अखाद्य का विचार उसे नहीं रखना पड़ता। वह किसी भी दैवी अथवा मनुष्यकृत नियम का उल्लंघन कर सकता है। लक्ष्मींकरा ने नारी के प्रति घृणाभाव की निंदा की है, क्योंकि सभी नारियाँ प्रज्ञा का अवतार हैं। इसका समय डॉ. भट्टाचार्य ने आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है।[३] यद्यपि डॉ. भट्टाचार्य ने अद्वयसिद्धि की लेखिका लक्ष्मींकरा को सहजिया मत की प्रवर्तिका माना है किन्तु अद्वयसिद्धि का जो रूप इस समय प्राप्त है उसमें कहीं भी सहज शब्द तक का प्रयोग नहीं है किन्तु उससे इतना अवश्य निश्चित होता है कि प्राणयोग अथवा वायुयोग के प्रयोग से क्रमशः अंतस्साधना में अग्रसर होकर योगी स्वाधिष्ठानक्रम का साधन करता हुआ अंततः युगनद्धक्रम तक पहुँचता है।

बंगीय सहजिया संप्रदाय के उदय और विकास को ध्यान में रखकर भी विद्वानों ने सहजयान का विचार किया है। इस दृष्टि से वज्रयान का अन्तिम विकास चरण सहजयान है जिसमें राग अथवा प्रीति का विशेष महत्त्व है। शास्त्रीजी ने वज्रयान और सहजयान के भेदक तत्त्वों तथा सहजयान की विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए स्पष्ट किया है कि यह यान वज्र और पद्म के परस्पर संयोग से उदित होने वाले सहजानंद में विश्वास करता है। इस यान ने वेदप्रामाण्य, कर्मकांड, यज्ञयागादि का विरोध किया है। ईश्वर के अस्तित्त्व को भी बौद्ध सहजिया सिद्ध स्वीकार नहीं करते, तांत्रिक विशेषताओं तथा डाकार्णवतंत्र में वर्णित नाड़ी, चक्र, योगिनी आदि को भी स्वीकार कर लिया गया है। आध्यात्मिक यात्रा की सफलता के लिए गुरुतत्त्व को भी स्पष्टतया

१. *बौ. गा. दो. मुखबंध,* पृ. १६।

२. *वही,* पृ. ६; *ए हि. इं. लि.*, वॉ-२, पृ. ३९३।

३. *ऐन इं. बु. ए.*, पृ. ७६-७७—'न कष्ट कल्पनां कुर्यात् नोपवासो न च क्रियाम्। स्नानं शौचं न चैवात्र ग्रामधर्मविवर्जनम्॥ न चापि··गाम्यागम्य-विकल्पं तु भक्ष्याभक्ष्यं तथैव च।······ सर्ववर्णसमुद्भुता जुगुप्सा नैव योषितः। सैव भगवती प्रज्ञा सम्वृत्या रूपमाश्रिता।'···अद्वय-सिद्धिः स. कु. मालती जे. शेंड्जे, पृ. १७, श्लोक १३-१४, पृ. १९, श्लोक १९, २१, पृ. २१, श्लोक ३१।

स्वीकार कर लिया गया है। ये विशेषताएँ ऐसी हैं जो हिन्दू, बौद्ध और वैष्णव सभी तांत्रिक मतों में प्राप्त होती हैं। बौद्ध सहजिया अपने और पराये, आत्मगत और संसारगत में अन्तर नहीं मानते। अतएव वे मानव स्वभाव के ज्ञान पर विशेष जोर देते हैं। चंडमहारोषणतंत्र के आधार पर सहजयानियों की प्रधान साधना सहजानन्द या वाममार्ग या योगिनी की साधना है।[१] उपर्युक्त सहज साधना को भेदक तत्त्व मानने का प्रधान आधार है तांत्रिक बौद्ध साधना के प्रधान ग्रंथों में सहजतत्त्व का विवेचन। सहजयान ने तांत्रिक बौद्ध साधना में सहज तत्त्व को परमतत्त्व और साधनात्मक जीवन के परम लक्ष्य या श्रेयस् के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। प्रमाण के लिए हेवज्रतंत्र के अनुसार कहा जा सकता है कि विश्व का स्वभाव सहज है क्योंकि सहज ही सभी का स्वरूप है। यह स्वरूप ही शुद्ध चित्तवालों का निर्वाण है। यह देहस्थ होकर भी देहज नहीं है।[२]

४. बौद्ध कापालिक आम्नाय

उपर्युक्त विवेचन में कहीं भी बौद्ध कापालिक आम्नाय का कोई उल्लेख नहीं है। पहले हम यह कह चुके हैं कि शैव कापालिकों की विद्यमानता और कृष्णपाद का कापालिक होना यह संकेत करता है कि बौद्धों में भी कापालिक तत्त्व विद्यमान थे। यह भी कहा जा चुका है कि सरोरुहपाद और कंबलांबरपाद द्वारा उपदिष्ट हेवज्रतंत्र की परम्परा में जालंधरपाद और कृष्णपाद की अवस्थिति अति महत्त्वपूर्ण है। पिछले परिच्छेद में कृष्णवज्रपाद की गुरु-शिष्य-परम्परा का विचार करते समय जालंधरपाद की वंशपरंपरा का जो विचार किया गया है उससे यह प्रकट होता है कि आचार्य कंबल ने जालंधर को उपदेश किया था। उन्होंने आचार्य इन्द्रभूति, भगवती लक्ष्मींकरा और आचार्य कचपाद से तंत्रों की दीक्षा ली थी। परिणामस्वरूप जालंधरपाद ने श्मशान में जाकर श्री हेरुक के मंडल में मुक्त प्रवेश प्राप्त किया और चार डाकिनियों से अभिषेक प्राप्त कर महामुद्रा सिद्धि प्राप्त की। तांत्रिक धर्मकीर्ति और जालंधरपाद दोनों ही समकालीन थे तथा दोनों ही हेवज्रतंत्र से सम्बद्ध थे। सरह द्वारा प्रवर्तित वंशपरंपरा में, एक स्रोत के अनुसार, जालंधरपाद का स्थान पाँचवाँ है और कृष्णपाद का छठाँ। इस परंपरा के अन्त में नारोपा का स्थान स्वीकृत है। कुछ वंशपरंपराएँ ऐसी भी मिलती हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि जालंधरपाद का कोई गुरु नहीं था और उन्होंने स्वतंत्र परंपरा चलाई थी; किन्तु चचो से राहुलजी ने उनकी जो रचना प्रकाशित की है, उसके आधार पर अनुमान किया गया है कि जालंधरपाद के ऊपर सरहपाद का प्रभाव स्वाभाविक है। जालंधरपाद ने सरहपाद के हेवज्रसाधन संबंधी एक ग्रंथ पर टीका लिखी थी, जिसका नाम था शुद्धिवज्रप्रदीप। कृष्णपाद ने भी हेवज्रतंत्र पर एक टीका लिखी थी जिसका नाम था योगरत्नमाला अथवा हेवज्रपंजिका। कृष्णपाद नाम के

१. *पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट*, मणीन्द्रमोहन बोस, पृ. १३५-१४०।

२. *आ. रे. क.*, 'दासगुप्त, पृ. १० पर उद्धृत—तस्मात् सहजं जगत्सर्वं सहजं स्वरूपमुच्यते। स्वरूपमेव निर्वाणं विशुद्धकार चेतसा: (?)॥' तथा 'स्वभावं सहजं इत्युक्तं सर्वाकारिक संवरम्।' एवं 'देहस्थोऽपि न देहज:।'

लेखक के ग्रंथों की जो बड़ी लम्बी सूची प्रस्तुत की गई है उसमें कुछ ग्रंथ हेवज्रसाधन से संबंधित हैं। इस बहुचर्चित हेवज्रतंत्र का प्रकाशन सरह और आचार्य कंबल दोनों ने किया था। इस विवरण से यह प्रमाणित हो जाता है कि (१) जालंधरपाद और कृष्णपाद का संबंध हेवज्रतंत्र से था। (२) उनका संबंध सरहपाद द्वारा प्रवर्तित विचारधारा से था। (३) साधना की दृष्टि से हेवज्रसाधन में श्मशान में जाकर महामुद्रा की साधना करने की बात भी सम्मिलित थी। इन निष्कर्षों का हमारे आगे के विवेचन की दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

ऊपर तांत्रिक बौद्ध यानों और उपयानों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है और बुद्ध के उपदेशों से उनके उदयक्रम पर भी विचार किया गया है। इससे यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि कृष्णपाद की गुरु-परंपरा का संबंध इस बौद्धयान से है जिसे वज्रयान नाम से अभिहित किया जाता है तथा जिसके अन्तर्गत सहजयान नाम के एक उपयान का विकास हुआ था। इसके आद्याचार्य सरहपाद थे। सरहपाद ने हेवज्रतंत्र का प्रवर्तन किया था जिसका जालंधरपाद और कृष्णपाद ने अनुवर्तन करते हुए उस पर टीकाएँ लिखी थीं; किन्तु कृष्णपाद के चर्यापदों से यह प्रमाणित होता है कि वे कापालिक योगी हो गए थे।[१] ऐसी स्थिति में यह संधान आवश्यक है कि सरह द्वारा प्रवर्तित हेवज्रसाधन में कापालिक तत्त्व किस रूप में वर्तमान थे जिसका अनुवर्तन जालंधरपाद और कृष्णपाद ने किया। बौद्धों में भी कापालिक तत्त्व थे अथवा बौद्ध कापालिकों के किसी एक संप्रदाय की पृथक् सत्ता थी, इस संबंध में पर्याप्त विवरण उपलब्ध नहीं है। कृष्णपाद द्वारा अपने को कापालिक घोषित किए जाने पर डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अनुमान किया है कि शैव कापालिक संप्रदाय की तरह ही बौद्धों का भी कापालिक संप्रदाय था जिसका अनुसरण जालंधरपाद और कृष्णपाद ने किया था किन्तु बौद्ध कापालिक संप्रदाय का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। इसलिए शैव कापालिकों की विशेषताओं के आधार पर उन्होंने बौद्ध कापालिक संप्रदाय का अनुमान किया है।[२] बौद्ध कापालिक तत्त्वों का अधिक प्राचीन प्रमाण और संदर्भ वे नहीं दे सके।

डॉ. द्विवेदी ने भवभूति के मालतीमाधव के आधार पर बताया है कि कापालिक मनुष्य-बलि किया करते थे। उनका मत षट्चक्र और नाड़िकानिचय के कायायोग से सम्बद्ध था।[३] सौदामिनी नाम की एक बौद्ध भिक्षुणी श्रीपर्वत पर कापालिक साधना सीखने गई थी। उस समय तांत्रिक पीठ के रूप में प्रसिद्ध उस पर्वत पर शैव, शाक्त और बौद्ध साधनाएँ पास ही पास फल-फूल रही थीं। बौद्धों के संबंध में यह बात इसलिए भी संगत मालूम पड़ती है कि यह श्रीशैल वज्रयान का उत्पत्ति-स्थान भी माना जाता है।[४] बौद्ध परम्परा से कापालिक साधना संबंधी एक संदर्भ द्विवेदीजी ने दिया है जिसके अनुसार प्राणी वज्रधर है और जगत् की स्त्रियाँ कपालवनिता हैं (अर्थात् कपालिनी हैं) और

---

१. *चर्यागीतिकोष,* सं. डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची तथा शान्ती भिक्षु शास्त्री, चर्यागीति सं. ११, पृ. ३८।

२. *ना. सं.,* डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. ८२।

३. *वही,* पृ. ५-६।

४. *वही,* पृ. ८२।

साधक हेरुक भगवान् की मूर्ति है जो उससे अभिन्न है।[१] साधनमाला में हेरुक की जो साधना बताई गई है वह द्विवेदीजी की दृष्टि में बहुत कुछ नटराज शिव से मिलती है।[२] साधनमाला में ४-५ साधनों में श्री हेरुक की साधना वर्णित है जिनमें उनके वेश-विन्यास का भी पर्याप्त विस्तार है। उनकी विशेषताएँ हैं—नरचर्म्मधारण, कपालमाला धारण, प्रकाशित ऊर्ध्व पिंगल केश, आँतों से संग्रथित मुंडमाला धारण, नरास्थिरचित आभरणधारण, रक्तपरिपूर्णकपाल धारण, भस्मोद्धूलित विग्रह, शव के ऊपर अर्द्धपर्यंकासन आदि। इसके साथ ही यह भी बताया गया है कि श्री हेरुक का शीर्ष भाग अक्षोभ्यांकित है तथा वे महामांस का भक्षण करते हैं।[३] इस साधना के लिए श्मशान प्रवेश का भी निर्देश है।[४] वे कर्त्रिकपाल धारण करने वाली नैरात्मा से आलिंगित रहते हैं।[५] डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कापालिकों के वेशादि का जो विवरण प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार कापालिक साधना में स्त्री (मुद्रा) का होना परमावश्यक है। दाओड़ीपाद के श्लोक से इतना स्पष्ट है कि इसकी पुष्टि मालतीमाधव से भी होती है जिसमें कापालिक अघोरघंट अपनी शिष्या कपालकुण्डला के साथ योगसाधन करता था।[६] मालती माधव के संबद्ध श्लोकों की जो विभिन्न टीकाएँ उन्होंने प्रस्तुत की हैं, उनसे इतना स्पष्ट होता है कि भवभूति द्वारा प्रस्तुत कापालिक मत नाड़ीचक्रसाधना में विश्वास करता था, शिव और जीव की अभिन्नता में आस्था रखता था तथा यह मानता था कि योग द्वारा चित्त के चांचल्य को रोकने से ही कैवल्य रूप में अवस्थित शिव रूप आत्मा का साक्षात्कार होता है। यह मत शशियुक्त शिव की प्रभविष्णुता में ही विश्वास रखता था।[७]

प्रबोधचन्द्रोदय और राजशेखर कृत कर्पूरमंजरी से कापालिक और कापालिक मत संबंधी जो सूचनाएँ मिलती हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि १०वीं शताब्दी के आस-पास शैव कापालिक नरास्थि की माला धारण करते थे, श्मशानवास करते थे तथा नरकपाल में भोजन करते थे। वे शुद्ध दृष्टि से जगत् और ईश्वर (=शिव) को परस्पर अभिन्न देखते थे। उन कापालिकों के अनुसार सोमसिद्धांत में सोम का अर्थ उमासहित है और इस प्रकार सोमसिद्धांत का अर्थ होगा उमासहित उमासंवलित शिव। शिव उमा के साथ नित्य विहार में लीन रहते हैं तदनुसार साधक से भी अपेक्षित है। ऐसे कापालिक चर्बी, आंत आदि सहित मनुष्य के मांस की आहुति देते थे, नरकपाल में सुरापान करते थे, ताजे मानवरक्त के उपहार से महाभैरव की पूजा किया करते थे

१. *ना. सं.*, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. ८३ तथा पादटिप्पणी। 'प्राणी वज्रधरः कपालवनितातुल्यो जगत्स्त्रीजनः। सोऽहं-हेरुकमूर्तिरेष भगवान् यो न प्रभिन्नोऽपिच।—*चर्यागीतिकोषः*, डॉ. बागची तथा शान्तिभिक्षु, पृ. ४ (चर्या. ११)।
२. *ना. सं.*, पृ. ८४।
३. *साधनमाला*, सं. विनयतोष भट्टाचार्य, वॉ. २, पृ. ४६८-४७६, साधन सं. २४१-२४५।
४. *वही*, पृ. ४६९, साधन सं. २४१।
५. *वही*, पृ. ४७५, साधन सं. २४५।
६. *ना. सं.*, पृ. ८४।
७. *वही*, पृ. ८४-८५।

और सदैव कपालिनी (कपालवनिता) के साथ रहा करते थे। कर्पूरमंजरी के कापालिक भैरवानन्द कुलमार्ग से संबंद्ध हैं जिन्हें मंत्र, तंत्र, ज्ञान, ध्यान किंबहुना गुरुप्रसाद की भी आवश्यकता नहीं। वे नित्य मद्यपान एवं स्त्री-विहार में लीन रहकर सहज ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।[१] ऊपर साधनमाला और दउड़ीपाद के प्रमाण पर बौद्ध कापालिक साधना का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, उससे इन शैव कापालिकों के प्राप्त विवरण की पर्याप्त समानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ तक बाह्य वेश और बाह्याचार का संबंध है, बौद्ध एवं शैव कापालिकों में कोई विशेष भेद नहीं था। आगे कुछ और विवरण देकर इसे और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

इलियट ने शंकर दिग्विजय तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर, कापालिक काला मुख तथा महाव्रती लोगों को एक मानते हुए तथा कापालिकों का लक्षण बताते हुए कहा है कि ये कपाल धारण करते थे, शवों के मांस का भक्षण करते थे तथा अघोरियों के अग्रयायी थे।[२] रामानुज और यामुनाचार्य दोनों ने कापालिकों से संबंधित जिन श्लोकों को उद्धृत किया है उनसे यह स्पष्ट होता है कि कापालिक छह मुद्रिकाओं के तत्त्वज्ञ होते थे और परममुद्रा के साधन में विशारद होते थे। भगासनस्थ रूप में अपना ध्यान करते थे। ललितविस्तर से ज्ञात होता है कि कपालधारण विधर्मियों द्वारा शोधन कर्म के रूप में स्वीकार किया जाता था। ऐसे लोगों को वहाँ 'संमूढ़' कहा गया है।[३] इसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि ललितविस्तर काल (पाँचवीं ई. शताब्दी के पूर्व)[४] बौद्धधर्म में कापालिक तत्त्वों, विशेषकर कपालधारण, को मूर्खता में गिना जाता था। भागवत में कापालिकों को अथवा भवव्रतधारकों को नष्टशौच, मूढ़, जटा-भस्म अस्थि धारण करने वाला कहा गया है। इस आधार पर कापालिकों को ईस्वी शताब्दी के आरंभ में विद्यमान माना जा सकता है।[५] म. म. डॉ. गोपीनाथ कविराज ने कापालिकों के कुछ सिद्धांतों को भी स्पष्ट करते हुए बताया है कि 'कापालिक मत में परमेश्वर को अद्वैत तत्त्व ही माना गया है। जहाँ संहारभैरव अन्यान्य खण्ड भैरवमूर्तियों को आत्मलीन करके प्रलय के अन्त में अपने आप में विराजते हैं, तब कोई दूसरी सत्ता नहीं रह जाती। वस्तुतः सृष्टि-दशा में भी जगत् स्वगतभेद युक्त होते हुए भी ईश्वर के साथ अभेदरूपेण सम्बद्ध रहता है। ईश्वर नित्य युगल रूप में प्रकाशमान है। शक्त्यालिंगित शिव या उमामहेश्वरमूर्ति कापालिकों के उपास्य देव हैं। कभी-कभी अर्द्धनारीश्वर रूप का भी प्राधान्य पाया जाता है। जगत् के माता-पिता नित्य सम्पृक्त वाक् और अर्थ के समान नित्य युक्त हैं। अन्यान्य तांत्रिकों के समान कापालिक भी इस मूर्ति की श्रेष्ठता अंगीकार करते हैं। कापालिक वामाचारी होते हुए भी परमेश्वर

१. *ना. सं.*, पृ. ८६-८८।
२. *हिन्दूइज्म ऐण्ड बुद्धिज्म,* वॉ. २, पृ. २०३।
३. *शैव सेक्ट्स इन नॉर्दर्न इंडिया,* डॉ. वी.एस. पाठक, पृ. २० तथा पादटिप्पणी।
४. *बौद्धधर्मदर्शन,* नरेन्द्र देव, पृ. १३६।
५. *शैव सेक्ट्स इन नॉर्दर्न इंडिया,* डॉ. पाठक, पृ. २१-२२।

को शिवशक्त्यात्मक मानते हैं, केवल शिवात्मक नहीं। कापालिक सिद्धांत अनेक अंशों में अद्वैतवाद का केवल प्रकारभेद है।'[१]

शैव कापालिकों के इतिहास और लक्षणों पर विस्तार से लिखते हुए डॉ. लारेंजेन ने रामानुज (११वीं शती), यामुनाचार्य, याज्ञवल्क्यस्मृति (१०० ई.-३०० ई.), मैत्रायणी उपनिषद, प्राकृत गाथा सप्तशती (प्रथम शताब्दी), वराहमिहिर (५००-५७५ ई.), वाणभट्ट (हर्षवर्धनकाल), भवभूति, मत्तविलास प्रहसन (६००-६३० ई.), ब्रह्माण्ड-कूर्मादि पुराण (३री से ७वींशती), गोरक्ष सिद्धांत संग्रह, कल्हण (११५०-११६० ई.), विष्णुस्मृति, क्षीरस्वामी, रघूत्तम, अकुलवीरतंत्र, कुलार्णवतंत्र, कृष्णमिश्र आदि के विभिन्न उल्लेखों एवं विवेचनों पर विचार किया है।[२] इसमें से अनेक संदर्भों की चर्चा हम कर चुके हैं। उन्होंने बौद्ध स्रोतों में से, मुख्य रूप से ललितविस्तर, असंग, ह्वेन्त्सांग और कान्हुपा के संदर्भों का उल्लेख किया है।[३] डॉ. लारेंजेन का विचार है कि अब तक कापालिकों से संबंद्ध जितने भी उल्लेख मिले हैं, उनमें से प्रायः सभी कापालिक भिन्न स्रोतों से मिले हैं। जिन नाटककारों ने विवरण दिए हैं, वे भी अशैव हैं तथा उनकी कापालिकों के प्रति सहानुभूति नहीं है।[४] उन्होंने उपर्युक्त विभिन्न स्रोतों से प्राप्त कापालिकों के जिन लक्षणों का विवेचन किया है, उनका इस प्रकार संग्रह किया जा सकता है—१. मुद्रिका षट्क (कण्ठिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, (चिता-) भस्म, यज्ञोपवीत) को जानता या उनका प्रयोग करता है, २. सर्वोच्च मुद्रा में निपुण (परामुद्रा विशारद) है, ३. भगासनस्थ आत्मतत्त्व का ध्यान करता है, ४. कपाल धारण करता है, ५. खट्वांग धारण करता है, ६. कपाल में भोजन करता है, ७. मद्यपात्र से देवता की पूजा करता है, ८. काषाय धारण करता है, ९. मुण्डित रहता है अथवा केशों को जटाकृत रखता है, १०. श्मशान में निवास करता है या जंगल में, ११. अस्थिमाला धारण करता है, १२. व्याघ्रचर्म पर बैठता है, १३. रुद्राक्ष धारण करता है, १४. मस्तक पर त्रिपुण्ड्र लगाता है, १५. नरास्थि से बने आभूषण धारण करता है, १६. भिक्षोपजीवी होता है।[५]

डॉ. लारेंजेन ने कापालिकों की साधना के उन तत्त्वों (अस्थि, रक्त, मांस और कपाल) का उल्लेख कर यह बताया कि बौद्ध ग्रंथ तत्त्वों का बार-बार उल्लेख करते हैं और हिन्दू तंत्रों की अपेक्षा अधिक करते हैं; किन्तु उन्होंने इन तत्त्वों के उल्लेख के बौद्ध संदर्भों का कोई विवरण नहीं दिया। इसी प्रकार वे बौद्धों में शैव कापालिकों के समानान्तर संप्रदाय की ओर संकेत करते हुए उनके ऊपर शैव प्रभाव की सघनता की भी चर्चा करते हैं, किन्तु बौद्ध कापालिकों के सिद्धांत, इतिहास आदि का विवेचन नहीं करते।

---

१. *भारतीय संस्कृति और साधना,* भाग (१) म. म. गोपीनाथ कविराज, पृ. २१८-२१९।

२. *दि कापालिकाज एण्ड कालामुखाज (टू लॉस्ट शैवाइट सेक्ट्स),* डेविन एन. लारेंजेन, पृ. २, १३-१५, ३५, ६६, ६७, ८२।

३. *वही,* पृ. १३-१५, १७, ८२।

४. *वही,* पृ. २।

५. *वही,* पृ. २, ४, ५, १३-१६, २०-२१, २३, ७६, ८०।

उनके विवेच्य शैव कापालिक ही थे। उनका निष्कर्ष है कि यदि कापालिकों से संबंधित सामग्री का समवलोकन किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि वे ६-७वीं शतियों में सामान्यतया अधिक व्यापक हो गए थे।[१] आठवीं शती तक वे दक्षिण के अधिकांश पठार तक फैले हुए थे। इसका प्रमाण मत्तविलास (प्रहसन) और वाणभट्ट के हर्षचरित में मिलता है। श्री शैल का उल्लेख कापालिक केन्द्र के रूप में बहुत बार और बहुत से स्थलों पर किया गया मिलता है। यह आधुनिक आंध्र प्रदेश के गुंटूर जिले में स्थित है। हर्षचरित में दक्षिण का पुष्पभूति नामक सम्राट् हर्षवर्धन के किंचित् पूर्व भैरवाचार्य की साधना में एक विशेष सहायक के रूप में प्रस्तुत होता है।[२] बाण के वर्णनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्रीपर्वत सातवीं शती के प्रथमार्द्ध में तांत्रिक साधना का ही नहीं, कापालिक साधना का भी प्रसिद्ध केन्द्र था। कापालिकों के तत्कालीन प्रसार स्थलों में कांची, मैसूर के कुछ भाग, पश्चिमी और मध्य महाराष्ट्र, उज्जैन, मध्य प्रदेश के ग्वालियर प्रभाग और आंध्र प्रदेश के कुर्नूल जिले की गणना की जा सकती है। ८वीं शती के बाद गुजरात, बुन्देलखण्ड, विंध्य प्रदेश आदि में भी इनका प्रसार मिलता है। बंगाल यद्यपि तांत्रिक साधना का गढ़ था तथापि वहाँ कापालिक संदर्भ केवल कान्हुपा का ही मिलता है।[3] दक्षिण में कापालिकों का सबसे प्राचीन और सबसे महत्त्वपूर्ण संदर्भ मत्तविलास प्रहसन है जिसकी रचना उस पल्लव-सम्राट् महेन्द्रवर्मन ने की है जिसने कांची पर ६०० ई. से ६३० ई. तक राज्य किया था। इसका प्रमुख पात्र एक कापालिक संन्यासी है। दक्षिण में कापालिकों की विद्यमानता और व्यापकता, विशेषकर ७वीं से १०वीं शताब्दी के बीच, हमारे विवेच्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि कृष्णपाद का जो विवरण हम पहले दे चुके हैं उससे उनके उड़ीसादेशीय अथवा दाक्षिणात्य (कर्णाटकदेशीय) होने की पुष्टि होती है। यदि ९वीं शती में कृष्णपाद विद्यमान थे तो निश्चय ही दक्षिण में व्यापक कापालिक मत ने उन्हें प्रभावित किया होगा।

इस प्रकार शैव और बौद्ध दोनों स्रोतों से प्राप्त सभी उपर्युक्त सूचनाओं के आधार पर कापालिकों की सामान्य विशेषताएँ संक्षेप में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं—

(१) चिताभस्म, कपाल, अस्थिमालिका, जटा आदि का धारण।
(२) महामांस, शवमांस, मद्य, नररक्त आदि का भोजन-पान।
(३) मुद्रा के साथ नित्य विहार।
(४) शक्ति से नित्य परिणद्ध रूप में उपास्य की कल्पना।
(५) अद्वयभाव (उपास्य, उपासक तथा शिव-शक्ति दोनों दृष्टियों से)।
(६) श्मशान साधन, शवासन।
(७) नरकपाल का पात्र के रूप में प्रयोग।

---

१. *दि कापालिकाज एण्ड कालामुखाज (टू लॉस्ट शैवाइट सेक्ट्स)*, डेविन एन. लारेंजेन, पृ. १४।

२. *वही*, पृ. २०-२१।

३. *वही*, पृ. ५१-५३।

(८) पंचमकारों से उपास्य की पूजा।

(९) चक्र-नाड़ी आदि की साधना आदि।

इन लक्षणों और विशेषताओं को सांप्रदायिक लक्षण और विशेषताओं के रूप में यदि स्वीकार किया जाए तो बौद्ध कापालिकों के भी ये लक्षण स्वीकार किए जा सकते हैं। सांप्रदायिक दृष्टि से सरहपाद, जालंधरपाद और कृष्णपाद का स्थान निर्णय करने के लिए ये उपर्युक्त लक्षण पर्याप्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं। इस संबंध में दो-एक बातों पर और ध्यान दिया जा सकता है। तांत्रिक साधना में ही, प्राय: सर्वत्र, जहाँ साधनागत अवस्थाओं का विभाजन मिलता है, जैसा कहा जा चुका है, अधिकारभेद का सिद्धांत स्वीकृत है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की रुचि, संस्कार, योग्यता और साधनसम्पत्ति साधक के साधनोपयुक्त अधिकार के निर्णय में परमावश्यक तत्त्व हैं। तदनुसार ही साधक के साध्य और साधन का भी निर्णय स्वाभाविक है। इस सिद्धांत का प्रसार विविधरूपात्मक और विविधपक्षीय है। साध्य के अनुकूल ही साधक वेश-विन्यास, क्रिया-कलाप, आचार, भाव आदि का व्यवहार एवं प्रयोग करता है। यह क्रम पारंपरिक हो जाने पर एक आम्नाय अथवा साधनक्रम अथवा उपयान अथवा उपसंप्रदाय के रूप में विकसित हो जाता है। इसलिए यदि किसी व्यक्ति के संप्रदाय, आम्नाय अथवा उपसंप्रदाय का निश्चय करना हो तो उसके उपास्य, उपासना-पद्धति, वेश आदि का विचार लाभकर हो सकता है। ठीक इसी पद्धति से सरहपाद, जालंधरपाद और कृष्णवज्रपाद के कापालिक आम्नाय का विचार किया जाना चाहिए।

सरहपाद के हेवज्रसाधन की परम्परा में हेवज्रतंत्र और उसकी कृष्णाचार्य द्वारा रचित योगरत्नमाला (हेवज्रपंजिका) का विशेष महत्त्व है। सरहपाद और कम्बलपाद ने ही हेवज्रतंत्र का प्रकाशन किया था।[१] तारानाथ ने सरहपाद रचित बुद्धकपालतंत्र नाम के एक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है।[२] हेवज्रतंत्र में हेवज्र के स्वरूप, साधक, मुद्रा, साधनस्थल आदि का विस्तार से विवेचन है। हेवज्र इसके उपास्य हैं। वे कपालों की माला धारण करते हैं, वीर हैं तथा सदैव नैरात्मा से आश्लिष्ट रहते हैं। उनका वर्ण नीला है और वे अरुणाभा से युक्त हैं। उनके नेत्र बन्धूकपुष्प जैसे लाल हैं। पिंगल वर्ण के ऊर्ध्वोत्थित केश हैं। वे पाँच मुद्राओं से अलंकृत हैं। वे चक्री, कुण्डल, कण्ठी धारण किए हुए हैं। वे हाथ में सोने का आभूषण धारण किए हुए हैं। मेखला भी पहने हुए हैं। क्रोध से भरी हुई उनकी दृष्टि है। वे सोलह वर्ष के हैं और व्याघ्र चर्म पहने हुए हैं। उनके हाथों में वज्रकपाल, खट्वांग और कृष्णवज्र हैं। अष्टयोगिनियों से परिवृत होकर वे नाथ श्मशान में क्रीड़ा करते हैं।[३] वे चतुर्भुज हैं। इनकी प्रथम वामभुजा में देवताओं और असुरों के रक्त से पूर्ण नरकपाल है। प्रथम दक्षिण भुजा में वज्र है। शेष दोनों भुजाओं में प्रज्ञा भगवद्रूपिणी वज्रवाराही आलिंगित रूप में है।[४] (चित्र द्रष्टव्य)

१. *दि हेवज्रतंत्र, ए क्रिटिकल स्टडी,* डी. एल. स्नेलग्रोव, पा. १, इंट्रो., पृ. १२।

२. स्ट. बु. क. इं., पृ. ३८५।

३. *दि हेवज्रतंत्र,* पार्ट-२, मूल २-५-३, पृ. ७६; वही, मूल १.३.१३-१६, पृ. १२-१४।

४. *वही,* पार्ट-२, मूल १.३.१७, पृ. १४।

ठीक इसी रूप में महामुद्रा और मुद्रा का भी वर्णन मिलता है जिसे प्रज्ञास्वभावा कहा गया है। हेवज्रतंत्र में वर्णित मुद्रा सुन्दर मुखवाली, विशालाक्षी, रूप-यौवन-मंडिता, नीलकमल के समान वर्ण वाली, कृपावती है। वह वज्रकन्या कही गई है और इसे ही ग्रहण करने के लिए वीर को उपदेश किया गया है।[१] पंचमुद्राओं को कृष्णवर्णा, महारौद्रा, एकवक्त्रा, रक्तनेत्रा तथा हाथ में रुचक, कर्त्तरी, कपाल तथा कटि में मेखला धारण करने वाली बताया गया है। इनकी कटि व्याघ्रचर्म से आवृत्त रहती है। ये शवारूढ़ रहती हैं तथा अत्यन्त तेजोमय होती हैं। इनके दो भुजाएँ होती हैं तथा पिंगल केशों वाली होती हैं।[२] मुद्रा को गंधद्रव्य एवं कर्पूर से संयुक्त बताया गया है। वह देवता-असुर, मनुष्य, यक्ष, किन्नर, किसी भी कोटि की हो, साधक उसे ग्रहण कर चर्या करे। ऐसी मुद्रा सभी संकल्पों से वर्जित होती है।[३] मुद्रा तो सुखावहा होती है। उससे संयुक्त होकर साधक को गुरु के पास जाना चाहिए।[४] महामुद्रा का भी पर्याप्त विस्तार से वर्णन और स्वरूपनिरूपण मिलता है। वह आदिस्वरस्वभावा एवं उत्पन्न क्रमयोग के अनुसार भगवती प्रज्ञा है। न तो वह दीर्घ है न ह्रस्व, न चतुरस्र है न वर्तुल। वह स्वादगन्धरसातीता है एवं सहजानंद प्रदान करती है। वह न कृष्णा है न गौरी। वह पद्मपत्र के समान आकारवाली (अथवा वर्णवाली) है। वह सुगन्धिमयी है। उसका प्रस्वेद भी मृगनाभि के समान सुगन्धिपूर्ण है। वह धीरा, अचंचला, प्रियवादिनी, मनोरमा, सुकेशी, त्रिवलीमध्या है। इसे ही प्राकृत जन पद्मिनी कहते हैं। ऐसी सहजानन्दरूपिणी मुद्रा को ही प्राप्त कर सिद्धि की उपलब्धि होती है।[५] गौरी आदि पंचमुद्राओं को द्विभुजा, त्रिनेत्रा, ऊर्ध्वकेशा और अर्द्धपर्यंकनाट्यस्था कहा गया है।[६] स्पष्टतः यह कहा गया है कि भगवान् का जैसा रूप है, वैसा ही प्रज्ञा का भी है।[७]

इसी प्रकार वीर साधक का भी वर्णन है जिसमें वह अस्थिमालिकादि धारण करता है। इस साधक अथवा भावक को कानों में दिव्य कुण्डल, मस्तक में चक्री, हाथों में दो रुचक, कटि में मेखला, पैरों में नूपुर, बाहुमूल में केयूर, ग्रीवा में हड्डियों की माला धारण करनी चाहिए। उसका परिधान व्याघ्रचर्म है। उसे पंचामृत का भक्षण करना चाहिए। इस प्रकार के हेरुकयोग के पुरुष को पंचवर्णों में विहार करना चाहिए। पाँचों वर्णों को उसे एक वर्ण मानना चाहिए।[८] यह साधक जिन स्थलों पर साधना करता है, उनके पर्याप्त उल्लेख हेवज्रतंत्र में मिलते हैं। वृक्ष के नीचे, श्मशान में, देवी के मंदिर

---

१. *दि हेवज्रतंत्र,* पार्ट २, मूल, १.६.८-९।

२. *वही,* पार्ट २, मूल १.८.१६-२०।

३. *वही,* पार्ट २, मूल १.८.२०-२१।

४. *वही,* पार्ट २, मूल २.३.१६-१८।

५. *वही,* पार्ट २, मूल २.४.४०-४३; वही, पार्ट २, मूल २.८.१-५।

६. *वही,* पार्ट २, मूल २.५.३४।

७. *वही,* पार्ट २, मूल २.३.१६-१८।

८. *वही,* पार्ट २, मूल १.६.२-५।

में अथवा विजन प्रान्तर में से किसी भी स्थान में मुद्रा के साथ उक्त चर्या करने का विधान है।[१] यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि अष्टयोगिनियों से परिवृत्त होकर नाथ श्मशान में क्रीड़ा करते हैं। मेघवर्षा के लिए मंत्रपटल में यह कहा गया है कि श्मशान में बैठकर 'आर्य श्मशानप्रियाय हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा' मंत्र का जप कराना चाहिए।[२] श्मशान के रूप में प्रेतालय, श्मशान और उदधितट को स्वीकार किया गया है और उद्यान तथा वापिकातीर को उपश्मशान कहा गया है।[३] श्मशान में साधन करते समय प्रेतालय में प्राप्त पुष्प को सिर में आभूषणरूप में धारण करने के लिए कहा गया है। मंडल-निर्माण में श्मशान की ईंटों का तथा श्मशान के कोयलों का भी उपयोग करने का निर्देश किया गया है।[४] पुस्तक-लेखन के संबंध में नैरात्मा के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा कि द्वादशांगुलपुस्तक को भूर्जपत्र पर लिखना चाहिए। उसके लिए महामधु को मसि के रूप में, मनुष्य की अस्थि को लेखनी के रूप में प्रयुक्त करना चाहिए। गणमंडल में भोज की योजना श्मशान में, अथवा गिरिकुंज में अथवा ध्वस्त पुर में अथवा विजन में होनी चाहिए। वहाँ शवरूप में व्याघ्रचर्म का अथवा श्मशान के कपड़ों का आसन समान व्यवहार करना चाहिए।[५]

इनके अतिरिक्त मद्य, मांस, रक्त, शव, मैथुन आदि के भी विपुल प्रयोग का विधान हेवज्रतंत्र में मिलता है। इस तंत्र के अनुसार वज्रकपालयोग का साधन करते हुए जिन जन्तुओं के मांस का भोजन किया जाता है, वे सभी वश में हो जाते हैं। वज्रधर की पूजा में धूप, नैवेद्य, माल्य आदि के साथ ही मद्य और मांस के भी प्रयोग का विधान है। इस प्रकार की सामग्रियों के लिए प्रतीक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है, जैसे मद्य के लिए मदन, मांस के लिए बल, मिलन के लिए मलयज, गति के लिए खेट, श्राय के लिए शव जैसे शब्दों का प्रयोग है। मंडल के मद्यपान, मांस एवं शालि के भक्षण का स्पष्ट निर्देश है। हेरुक के कायनिरूपण के प्रसंग में प्रतीकात्मक ढंग से स्पष्ट किया गया है कि उनके मांस से पुक्कसी का, रक्त से शबरी का, शुक्र से चंडाली का, भेदमज्जा से डोम्बी का द्योतन होता है। उनके चर्म से सात बोध्यंगों का तथा अस्थि से सत्यचतुष्टय का द्योतन होता है।[६] चुम्बनालिंगनादि विविध क्रियाओं के बाद के मैथुनोचित व्यापारों का स्पष्ट निर्देश हेवज्रतंत्र में मिलता है। उद्यान में अथवा विजन में अथवा अपने घर में निर्वस्त्रा महामुद्रा के पूजन का स्पष्ट विधान है।[७] अन्य विविध क्रियाओं के अतिरिक्त षटकर्मों में से मारण क्रिया में रक्तपान का विधान मिलता है।[८]

१. *दि हेवज्रतंत्र,* पार्ट २, मूल १.६.६।
२. *वही,* पार्ट २, मूल १.२.२०-२१।
३. *वही,* पार्ट २, मूल १.७.१८।
४. *वही,* पार्ट २, २.३.४९, २.५.५१।
५. *वही,* पार्ट २, २.७.१-२, ७-८।
६. *वही,* पार्ट २, १.७.२८, २.३.२१, २.३.५६, २.५.६१, २.९.१३।
७. *वही,* पार्ट २, १.११.१०-१५।
८. *वही,* पार्ट २, २.१०.४ तथा इसका अंग्रेज अनुवाद; वही, पार्ट १, पृ. ११८।

कापालिक मत में नाड़ी चक्र साधना के प्रयोग की बात पहले कही जा चुकी है। हेवज्रतंत्र में भी इसका विधान मिलता है जिसके अनुसार वज्रदेह में बत्तीस नाड़ियाँ हैं। ये बोधिचित्तवहा हैं और महासुखस्थान में प्रवाहित होती हैं। इनमें भी तीन नाड़ियाँ प्रधान हैं—ललना, रसना और अवधूती। ललना प्रज्ञास्वभावा है तथा रसना उपायस्वभावा। ग्राह्यग्राहकवर्जिता अवधूती मध्यदेशीया है। ललना अक्षोभ्य का वहन करती है तथा रसना रक्तवाहिनी है। अवधूती चन्द्रवहा एवं प्रज्ञास्वरूपा है।[१] स्नेलग्रोव ने हेवज्रतंत्र की योग साधना का संक्षिप्त विवरण देते हुए उसके अद्वयसाधन, योगी का शरीर, त्रिभवस्येकता, ध्यानाभ्यास, योगी के देह में अद्वय आदि अनेक विषयों की व्याख्या की है।[२] मूलग्रंथ के आधार पर, साधना-विचार के प्रकरण में इस विषय का विस्तार से विवेचन किया गया है।

सरहपाद की शिष्य-परंपरा में कृष्णपाद का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। केवल सम्प्रदायनिर्णय के लिए कृष्णपाद और उनसे संबंधित रचनाओं में प्राप्त कापालिक तत्त्वों का विचार उपयोगी होगा। इससे अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी कृष्णपाद का कापालिकत्व सिद्ध हो सकेगा। योगरत्नमाला के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि वज्रयान के आदि सिद्ध और आचार्य सरह के ग्रंथ की टीका लिखना स्वयं महनीय कार्य था। दूसरे यह भी कहा जा सकता है कि सरह के ग्रंथ की टीका करने में कृष्णपाद का स्वतंत्र मत अथवा वैयक्तिक मत प्रकाशित नहीं हो सकता। अतः हेवज्रतंत्र की टीका हेवज्रपंजिका अथवा योगरत्नमाला के आधार पर कृष्णपाद के सम्प्रदाय का निर्णय नहीं हो सकता क्योंकि टीकाकार तो मूलग्रंथ की पंक्तियों के अर्थों और विचार का ही अनुसरण करता है। अतः कृष्णपाद की अपभ्रंश रचनाओं तथा उनकी शिष्या मेखला की टीका में भी ये कापालिक तत्त्व अनुसंधेय हैं।

कृष्णपाद ने अपने चर्यापदों में आलि-कालि साधन का उल्लेख किया है।[३] वे आसवपान से मत्त होकर विलास करते हैं।[४] नगर के बाहर निवास करने वाली डोम्बी के संगम का वे दृढ़ निश्चय व्यक्त करते हैं और इस प्रकार वे अपने को निर्घृण एवं नग्न कापालिक योगी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वह डोम्बी भी चतुष्षष्टिदलकमल पर नृत्य करती है। उसी के लिए वे अस्थिमालिका धारण करते हैं।[५] इस साधना में अनाहत डमरू वीरनाद में निनादित होता है और कापालिक योगी काण्हपाद आचार में प्रविष्ट

१. *दि हेवज्रतंत्र,* पार्ट २, १.१.१३-२० 'ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपायसंस्थिता। अवधूति मध्यदेशे ग्राह्यग्राहकवर्जिता॥'

२. वही, पार्ट १, इंट्रो. पृ. २२-४६।

३. *चर्यागीतिकोषः,* पृ. २३, चर्यापद सं. ७, 'आलिए कालिए बाट रुन्धेला'।

४. वही, पृ. ३०, चर्यापद सं. ९, 'कान्हु विलसअ आसवमाता।'

५. वही, पृ. ३३, चर्यापद सं. १०, 'आलो डोम्बि तोए सम करिबो मो सांग। निघिन काण्ह कापालि जोइ लांग। एक सो पदुमा चोषठी पाखुड़ी। तहिं चड़ि नाचअ डोम्बी बापुड़ी॥' 'तु लो डौम्बी हाउं कपाली। तोहोर अन्तरे मोए घेणिलि हाड़ेरि माली॥'

होते हैं। इस समय के वेशविधान में घंटा, नूपुर, कुण्डल, छार या भस्म, मोतियों का हार धारण करते हैं।[१] उनका डोम्बी के साथ (साधनात्मक) विवाह होता है। जब वे इसके लिए प्रयाण करते हैं तो मर्दल, कांस्यताल आदि की ध्वनि होती है। जय-जय का दुन्दुभि शब्द उच्छलित होता है। विवाहोपरांत इस डोम्बी के साथ सुरतप्रसंग में रात-दिन बीतते जाते हैं। इस प्रकार रजनी प्रभात के रूप में बदल जाती है। सहजोन्मत कृष्णपाद क्षण भर के लिए भी डोम्बी का संग नहीं छोड़ते।[२]

कृष्णपाद के चर्यापदों के उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने को नग्न कापालिक योगी घोषित करते हैं और कापालिक योगी के घंटा, नूपुर, कुण्डल, अस्थिपालिका आदि चिह्नों को भी धारण करते हैं। वे मद्यपान करते हैं, डोम्बी के साथ विवाह कर उसके साथ मैथुन में उन्मत्त होकर विलास करते हैं। इसमें नृत्य, गीत, वाद्यादि का समायोजन भी वे करते हैं। इस प्रकार कापालिक योगी के प्रायः सभी लक्षण कृष्णपाद पर घटित होते हैं यद्यपि वे श्मशान और कपाल का उल्लेख नहीं करते। इनमें से अनेक लक्षणों अथवा तत्त्वों की पुष्टि कृष्णपाद के दोहाकोष और उनकी शिष्या मेखला द्वारा लिखी टीका से भी हो जाता है। अपने दोहों में कृष्णपाद अपने को सुरतबीर के रूप में प्रस्तुत करते हुए अरविंद के मकरंद का आघ्राण करते हैं। मेखला ने इस प्रसंग में हेवज्र का प्रमाण भी प्रस्तुत किया है।[३] कृष्णपाद मंत्रतंत्रादि की भी आवश्यकता इस साधन में नहीं मानते। इसमें तो केवल अपनी गृहिणी (घरनी) को लेकर केलि करने की आवश्यकता है। उनकी दृष्टि में जब तक अपने गृह में अपनी गृहिणी में साधक लीन नहीं होता तब तक पंचवर्णों में विहार व्यर्थ है। इस गृहिणी को मेखला ने महामुद्रारूपा ज्ञानमुद्रा कहा है।[४] निज गृहिणी (दिव्य मुद्रा) को लेकर कृष्णपाद मनरत्न को निश्चल करने की बात करते हैं। ऐसा करने वाला व्यक्ति ही वज्रधर नाथ है। इस गृहिणी को वे उसी प्रकार ग्रहण करने के लिए कहते हैं जिस प्रकार जल में लवण विलीन होता है। मेखला ने टीका में इसे स्पष्ट करते हुए युगनद्ध वज्रसत्व स्थिति की ओर संकेत किया है।[५] कृष्णपाद के चर्यापदों के उक्त उल्लेखों से कृष्णपाद के कापालिक रूप का पूरा रूप प्रकट हो जाता है जबकि दोहाकोष और उसकी टीका से उसके केवल मैथुन तत्त्व का ही परिचय मिलता है। यह मैथुन भी अनेक स्थलों पर दिव्याचारपरक अर्थ में प्रयुक्त

---

१. *चर्यागीतिकोषः*, पृ. ३८, चर्यापद सं. ११, 'अनहा डमरू बाजइ बीरनादे।' 'कान्ह कपाली योगी पइठ अचारे।' 'आलि कालि घण्टा नेउर चरणे। रवि शशि कुण्डल किउ आभरणे। राग द्वेष मोह लाइअ छार। परम मोख लबए मुत्तिहार॥'

२. *वही*, पृ. ६४, चर्यापद सं. १९, 'भवनिर्वाणे पड़ह-मादला। मणपवण बेणि करण्ड-कसाला। जअ-जअ दुन्दुभि साद उछलिला। कान्ह डोम्बी विवाहे चलिला।' 'अहणिसि सुरअ-पसंगे जाअ। जोइणि-रअणि पोहाअ॥ डोम्बीएर संगे जो जोइ रत्तो। खणइ न छाड़अ सहज उन्मत्तो॥'

३. *दोहाकोष*, डॉ. बागची, पृ. १५१-१५२, *कृष्णपादस्य दोहाकोष*, दो. सं. ६।

४. *वही*, पृ. १६२-१६३, दो. सं. २८।

५. *वही*, पृ. १६४, दो. सं. ३१-३२।

दिखाई पड़ता है। हेवज्रतंत्र में हेरुक अथवा हेवज्र के लिए प्रयुक्त 'नाथ' और 'वीर' शब्दों का इन रचनाओं में भी अनेक बार दर्शन होता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सरहपाद के उपदिष्ट मत में तथा उनकी परंपरा में कापालिक तत्त्वों की प्रचुरता है। ऊपर बौद्ध और शैव स्रोतों के आधार पर जिन कापालिक तत्त्वों की विवेचना की गई है, उनमें से बौद्ध स्रोतों में दउड़ीपाद और साधनमाला हैं। चर्यापद की टीका में दउड़ीपाद के उद्धृत किए जाने के कारण उनका समय निश्चय ही मुनिदत्त के पूर्व हो सकता है। मुनिदत्त 'आश्चर्यचर्याचय' के संग्रहकर्ता और टीकाकार हैं। इस ग्रंथ की प्राप्त पोथी के समय के आधार पर मुनिदत्त के समय का अनुमान किया जा सकता है। म. म. हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार इस पांडुलिपि का समय १२वीं ईस्वी शताब्दी है, जबकि श्री राखालदास बनर्जी ने श्रीकृष्णकीर्तन की भूमिका में चर्यापदों की पांडुलिपि का प्राचीनतम समय १४वीं ई. श. माना है।[1] डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस पांडुलिपि का समय लगभग १२५० ई. माना है।[2] एक अन्य मत के अनुसार इन चर्यापदों की रचना ९५० ई. से लेकर १२०० ई. तक के बीच हुई होगी तथा जिन्हें लगभग १४वीं शताब्दी में प्राप्त पांडुलिपि में सुरक्षित रखा गया होगा।[3] इस आधार पर मुनिदत्त की काल-सीमा १२वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी के बीच है। इसी आधार पर दातड़ीपाद का भी समय १४वीं शताब्दी के पूर्व माना जा सकता है। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य साधनमाला का समय १२वीं शताब्दी मानते प्रतीत होते हैं। उन्होंने इस ग्रंथ के संपादन में जिन प्राचीन हस्तलेखों का उपयोग किया है, उनमें से कुछ ११६५ ई., १२वीं शताब्दी के आरंभ और ११०४ ई. के हैं।[4] इन दोनों आधारों पर उपर्युक्त उद्धृत बौद्ध कापालिक तत्त्व अधिक से अधिक १२वीं शताब्दी तक प्राचीन बताए जा सकते हैं। हेवज्रतंत्र का समय उसके संपादक ने ८वीं शताब्दी का अंत्य भाग माना है।[5] इस प्रकार बौद्ध संप्रदायों में कापालिक तत्त्वों के प्रकाशन का काल लिखित एवं प्रकाशित प्रमाणों के आधार पर ८वीं शताब्दी तक सिद्ध किया जा सकता है। हम यह कह चुके हैं कि ५वीं ई. शताब्दी तक महायान में अथवा तांत्रिक महायान में कापालिक चिह्न धारण आदि को मूर्खता में गिना जाता था। इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ५वीं से ७वीं शताब्दी तक कापालिक साधन बौद्ध संप्रदाय में मान्य नहीं था, यद्यपि उसकी सत्ता अवश्य रही होगी। उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यह भी तर्काश्रित अनुमान किया जा सकता है कि बौद्ध समुदाय में उपर्युक्त अवधि में (अर्थात् ५वीं ई. शताब्दी तक) कापालिक तत्त्वों का प्रवेश तो हो चुका था किन्तु उसे मान्यता नहीं मिली थी और उसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता था; किन्तु उपर्युक्त निष्कर्षों के

१. *ओ. डे. बें. लैं., डॉ. चटर्जी, वॉ.* १, पृ. ११०।
२. *वही,* पृ. १२३।
३. *प्राचीन बांगला साहित्येतर इतिहास,* तमोनाशचन्द्र दासगुप्त, पृ. ४६।
४. *साधनमाला,* वॉ. १, प्रीफेस, पृ. ११-१४।
५. *दि हेवज्रतंत्र,* पा. १, इंट्रो., पृ. १३-१४।

विपरीत कुछ ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं जिनके आधार पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि बौद्धों का संबंध शैव कापालिकों से लगभग तीसरी शताब्दी में ही हो गया था। बहुत से ऐसे स्रोतों और प्रमाणों की ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है कि असंग का तांत्रिक बौद्धमत के प्रवर्तन, प्रचार, प्रसार में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके गुरु मैत्रेयनाथ के संबंध में भी इसी प्रकार की बात कही जाती है। डॉ. तुसी ने यह संकेत किया है कि चतुर्थ शताब्दी के लगभग हरिवर्मन के तत्त्वसिद्धिशास्त्र नामक ग्रंथ में नवसोम (संभवत: एक तांत्रिक कापालिक संप्रदाय) का संदर्भ मिलता है जो षोडश वर्गों का विश्वासी था। इन षोडश वर्गों का उल्लेख मैत्रेयनाथ के मध्यान्तानुगमशास्त्र में मिलता है। इस सूची में औषधियों, मंत्रों, नक्षत्रों, देवताओं आदि की अन्तर्गणना है। डॉ. तुसी का निष्कर्ष है कि हरिवर्मन के काल में तांत्रिक सिद्धांतों और साधनों का प्रचलन और इनसे यह भी संकेत होता है कि बौद्धों का शैवों (कापालिकों) से घनिष्ठ संबंध था। यह शैव संप्रदाय संभवत: सोमसिद्धांत था।[१] इससे यह प्रमाणित होता है कि लगभग चौथी शताब्दी में ही कापालिक प्रभाव और तत्त्व बौद्ध साधन एवं दर्शन में विद्यमान थे किन्तु अन्यत्र जैसा कहा गया है, इस कापालिक प्रभाव को सर्वत्र बौद्ध मान्यता प्राप्त नहीं थी।

शैव कापालिकों के संबंध में अपेक्षाकृत बहुत प्राचीन प्रमाण मिलते हैं। मैत्र्युपनिषद् सूत्रपरवर्ती काल की रचना (विक्रमपूर्व २००, लगभग २५७ ई.पू. के कुछ समय बाद) है। इस उपनिषद् में शैव कापालिकों के प्राचीनतम उल्लेख मिलते हैं।[२] इसी प्रकार पुराणों और तांत्रिक ग्रंथों में भी उल्लेख मिलते हैं।[३] इसका तात्पर्य यह है कि शैव कापालिक संदर्भ बौद्ध कापालिक संदर्भों से बहुत प्राचीन हैं। इस संबंध में 'वीर' और 'नाथ' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस साधना का संबंध वामाचार से था, इसे सभी स्वीकार करते हैं। वीराचार के अंतर्गत गृहीत इस साधना के साधक को बौद्ध तांत्रिक समुदाय में 'वीर' विशेषण दिया जाता था। किंबहुना, उपास्य हेवज्र अथवा हेरुक को भी 'वीर' कहा गया है। हेवज्र और हेरुक को 'नाथ' भी कहा गया है, जिसका सीधा संबंध शैव-परंपरा से है, वैसे यह शब्द बौद्ध-परंपरा में भी प्रचलित था। इन सबका निष्कर्ष यह है कि बौद्ध तांत्रिकों में कापालिक संप्रदाय का उदय शैव कापालिक मत का प्रसार है। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि बौद्ध कापालिक मत एवं साधना का उदय बौद्ध-शैव वामाचारी तत्त्वों के सम्मिश्रण का फल है जिसका प्रामाणिक एवं प्रकाशित रूप हमें सरहपाद (८वीं शताब्दी) के समय से मिलने लगता है। सरहपाद, जालंधरिपाद और कृष्णपाद इस आम्नाय के विशेष प्रचारक एवं प्रोषक प्रतीत होते हैं।

●

१. स्ट. बु. क. इं., पृ. ३१८।

२. *शैव कल्ट्स इन नॉर्दर्न इंडिया,* डॉ. वी. एस. पाठक, पृ. १९; *भारतीय दर्शन,* पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. १८-१९।

३. *शैव कल्ट्स इन नॉर्दर्न इंडिया,* पृ. १९ तथा पादटिप्पणी।

चौथा परिच्छेद

तांत्रिक बौद्ध दर्शन और कापालिक विचारधाराएँ

विगत परिच्छेद में साम्प्रदायिक विकास के प्रसंग में असंग, नागार्जुन आदि आचार्यों की बहुश: चर्चा की गई है। बिना किसी दार्शनिक भित्ति के कोई भी संप्रदाय टिक नहीं सकता। इसीलिए महायान तथा उसके परवर्ती विकसित संप्रदायों ने बुद्ध के पूर्वोल्लिखित सिद्धांतों एवं उपदेशों का अपने ढंग से अर्थनिरूपण और दार्शनिक विकास किया। पिछले परिच्छेद में मैत्रेयनाथ के शैव संबंध की ओर, विशेषकर कापालिक शैव संबंध की ओर जो संकेत किया गया है, वह इस प्रसंग में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। परवर्ती तांत्रिक बौद्ध संप्रदायों ने जिस प्रकार पूर्वागत तांत्रिक तत्त्वों का उपवृंहण किया, उसी प्रकार पूर्वाचार्यों की दार्शनिक विचारणाओं का भी तांत्रिक रूपांतर कर उसे एक विशिष्ट रूप प्रदान किया। वज्रयान, कालचक्रयान, सहजयान आदि के अनेक सिद्ध बौद्ध धर्म-दर्शन के प्रबुद्ध एवं प्रतिष्ठित पंडित थे और उन लोगों के द्वारा निरूपित सिद्धांतों को भी इसी प्रकाश में ग्रहण किया जाना चाहिए। सरहपाद, कृष्णपाद, अद्वयवज्र तथा शांतिपा, नारोपा आदि अनके बौद्ध सिद्ध होने के साथ ही साथ आचार्य भी थे। भगवती लक्ष्मींकरा, मेखला जैसी सिद्धाएँ भी संस्कृत एवं बौद्ध शास्त्र में निष्णात थीं। बौद्ध सिद्ध साहित्य के अध्येताओं के लिए ये सर्वविदित और सहजोपलभ्य प्रख्यात तथ्य हैं। अत: बौद्ध सिद्धों, विशेषकर सरहपाद, जालंधरपाद, कृष्णपाद की दार्शनिक विचारणाओं का मूल्यांकन करना परमावश्यक है जिससे कापालिक विचारधाराओं को उचित परिप्रेक्ष्य में समझा जा सके।

महायान धर्म में किस प्रकार तांत्रिक तत्त्वों का विकास हुआ, इसका विचार हम कर चुके हैं। इन विविध तांत्रिक यानों की दार्शनिक अथवा सैद्धांतिक पीठिका लगभग समान है। इसीलिए बौद्ध धर्म के महायानान्तर्गत उन दार्शनिक मतों की उन विचारधाराओं का संक्षेप में संकेत किया जा रहा है जिन्होंने वज्रयानादि तांत्रिक यानों की विचारणा को प्रभावित और अग्रसर किया। आचार्य नरेन्द्रदेव की दृष्टि में संक्षेप में महायान की विशेषताएँ हैं—बोधिसत्व की कल्पना, बोधिचित्तग्रहण, षट्पारमिता की साधना, दशभूमि, त्रिकायवाद और धर्मशून्यता या तथता।[1] इन विशेषताओं के मूल में स्पष्टत: योगाचार और माध्यमिक मत क्रियाशील हैं। परवर्ती विकसित विविध यानों की विचारधाराओं के मूल में जो तीन तत्त्व प्रमुख दिखाई पड़ते हैं और जिनके विकास और पुष्टि के लिए महायान के दार्शनिक मतों का उपयोग किया गया, वे हैं— शक्तिवाद, पिण्डब्रह्माण्डवाद और योग।

१. *बौद्ध धर्म-दर्शन,* आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ. १६४।

उनके मूल में सर्वप्राचीन बौद्ध प्रज्ञा और करुणा की विचारधारा प्रधान थी जिसका तांत्रिक विकास तांत्रिक यानों में विविध नामों और रूपों में दिखाई पड़ता है।

१. भूमिका : अद्वयवादी महायान दर्शन

महायान दर्शन के अन्तर्गत सर्वमान्य रूप से माध्यमिक या शून्यवादी मत और योगाचार अथवा विज्ञानवादी मत की गणना की जाती है। कुछ लोग सौत्रांत्रिक मत को भी महायान दर्शन के अन्तर्भूत मानते हैं।[१] माध्यमिक और योगाचार नामक मतों में वैषम्य का मूलाधार सत्ता विषयक है। निर्वाण के स्वरूप और उसकी उपलब्धि के उपाय के संबंध में भी दोनों में वैभिन्य है। यद्यपि ये दोनों ही मत प्रकारान्तर से ईश्वरवादी हैं तथापि जगत् की सत्ता के विषय में इनमें वैषम्य है। विज्ञानवाद बाह्य भौतिक जगत् को पूर्णतया मिथ्या स्वीकार कर चित्त या विज्ञान को ही एकमात्र सत्य मानता है जबकि शून्यवाद बाह्यार्थ और चित्त या विज्ञान दोनों को असत्य मानने वाला तथा जगतिक पदार्थों की निस्सारता (शून्यता) या सत्भाव की शून्यता को ही सत्य मानता है।[२] इन दार्शनिक मतों के विविध बिंदुओं का विस्तार करने का यहाँ अवसर नहीं है। इन पर पुष्कल साहित्य उपलब्ध है।

दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर नागार्जुन के माध्यमिक मत की प्रमुख विचार-धाराएँ हैं—शून्यवाद, प्रतीत्यसमुत्पादवाद, सांवृतिक और पारमार्थिक सत्य, सत्य की चतुष्कोटिविनिर्मुक्ति आदि। इनमें से अनेक विचारधाराएँ बुद्ध के विचारों का तर्क प्रतिष्ठित रूप हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचारधारा शून्यवाद है जो बुद्ध के प्रतीत्य-समुत्पादवाद का ही तर्क प्रतिष्ठित रूप है।[३] म. म. पं. गोपीनाथ कविराज ने शून्यवाद की विविध विचारधाराओं पर विचार करते हुए स्पष्टतः कहा है कि बौद्ध अद्वैतवादी थे। बुद्धदेव का अद्वयवादी भी एक नाम था, इसका उल्लेख अमरकोष में पाया जाता है। यद्यपि कथावत्थु नामक ग्रंथ में अनेक प्रकार के, विशेषतः अष्टादश भाग में विभक्त बौद्ध संप्रदाय के, दर्शन और धर्म संबंधी मतों का वर्णन है और ये सभी परस्पर-विरोधी मत आगे चलकर सौत्रांत्रिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक इन चार प्रधान श्रेणियों में अन्तर्निहित हो जाते हैं, तथापि इन सभी मतों का तात्पर्य माध्यमिक-प्रदर्शित शून्यवाद में है, इस बात को बोधिचित्त-विवरणकार ने स्पष्ट शब्दों में किया है—'भिन्नापि देशना भिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणा।' यह शून्यवाद कठोर अद्वयवाद है। सत्, असत् प्रभृति कोटि-चतुष्टय से विनिर्मुक्त कर तीक्ष्ण युक्तियों की सहायता से नागार्जुनादि आचार्यगण इस शून्य तत्त्व को द्वैत-विकल्प से सब प्रकार से बचाने का

---

१. *भारतीय दर्शन,* पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. १९७; *बौद्ध दर्शन मीमांसा,* पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. १९३।

२. *मानमेयोदय,* नारायण रचित, सं. सी. कुन्हन राजा तथा एस. एस. सूर्यनारायण शास्त्री, पृ. ३००।

३. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—मूल माध्यमिककारिका तथा उसकी चन्द्रकीर्ति रचित वृत्ति; *मज्झिम निकाय,* भाग १, २४, १८, पृ. २६२-२६३; *बौ. द.,* राहुल सांकृत्यायन, पृ. ३३; *महायान :* शांतिभिक्षु, पृ. ९९; *हि. इं. फि.,* दासगुप्त, वॉ. १, पृ. १४३, १३९; *बौ. द. मी.,* उपाध्याय, पृ. ३५८, २८४, २८८, २९०, ३०९-३१३; *बौ. ध. द.,* नरेन्द्रदेव, पृ. ५५५-५५६, ५६१-५६२।

प्रयास करते हैं। बहुतों का विश्वास है कि स्वयं शंकराचार्य और ब्रह्माद्वैतवाद के लिए विज्ञानाद्वैत अथवा शून्याद्वैत के सामने ऋणी हैं। बौद्धागम की 'संवृति' शंकर के दर्शन में मायारूप में स्थान पाती है।[१]

विज्ञानवाद में भी बुद्ध के प्रतीत्यसमुत्पाद का महत्त्व है। इसकी व्याख्या में आने वाले द्वादश निदानों में से विज्ञान पर विज्ञानवाद का विशेष बल है। द्वादश निदान हैं, ''अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरामरण दु:ख। इनमें से प्रत्येक परवर्ती का कारण है। इसी को भवचक्र कहते हैं। इनमें से प्रथम दो अतीत जन्म में, बाद के आठ (विज्ञान से लेकर भव तक) वर्तमान जीवन के अन्तर्गत तथा जाति और जरामरण भविष्य जन्म के अन्तर्गत आते हैं।[२] उपर्युक्त क्रम से स्पष्ट है कि अविद्या से संस्कार और संस्कार से विज्ञान कार्यरूप में होते हैं। यदि विज्ञान सांसारिक जीवन का द्वार है तो भव भविष्यत् जीवन का। अत: भव के निरोध के लिए विज्ञान का निरोध या संयम आवश्यक है।

विज्ञानवाद विज्ञान या चित को सत् मानता है। संसार के सभी पदार्थ इस मत की दृष्टि में असत् हैं। शून्यवाद जहाँ संसार के सभी पदार्थों, पंचस्कंधों, यहाँ तक कि चित्त को भी शून्य मानता है, वहीं विज्ञानवाद केवल विज्ञान को सत् मानता है। इस मत के अनुसार जिस चित्त के द्वारा जगत् के समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है और जिसके ज्ञान के आधार पर हम बाह्यार्थ (बाह्य पदार्थ) को असत् समझते हैं, कम से कम उस विज्ञान को तो सत्य मानना ही होगा अन्यथा शून्यता की भी सिद्धि नहीं हो पाएगी। इस चित्त को छोड़कर दूसरी वस्तु उत्पन्न नहीं होती और न उसका नाश होता है। चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है।[३] इस प्रकार चित्त ही एकमात्र तत्त्व है। यही एकमात्र परमार्थ है। जगत् के पदार्थ तो वस्तुत: माया-मरीचिका के समान नि:स्वभाव तथा स्वप्न के समान अवास्तविक हैं।[४] इसी चित्त को परमार्थ कहा गया है। इस परमार्थ के तथता, शून्यता, निर्वाण, धर्मधातु आदि विभिन्न पर्यायवाची नाम हैं। यद्यपि चित्त एकाकार है तथापि इस जगत् में वह विचित्र रूपों में दीख पड़ता है, कभी देह के रूप में और कभी भोग (वस्तुओं के उपभोग) के रूप में। जगत् उसी चित्त का परिणाम है।[५] डॉ. दासगुप्त ने इसी आधार पर यह माना है कि यह निर्गुण परम सत्य का सिद्धांत अश्वघोष के तथता सिद्धांत की तरह वेदान्तीय आत्मा अथवा ब्रह्म के समीप है।[६]

आचार्य नरेन्द्रदेव ने असंग के दर्शन को विज्ञानवादी अद्वयवाद कहा है। इसका परमार्थ ही अद्वयार्थ है। असंग ने तथता को बुद्धत्व से अभिन्न माना है। परमात्मा शब्द

---

१. *बौ. द. मी.*, पृ. ३११-३१३ तथा *भारतीय संस्कृति और साधना* (१), पं. गोपीनाथ कविराज, पृ. २-३।
२. *ए. हि. इं. फि.*, दासगुप्त, वॉ. १, पृ. ८४, ९१-९२।
३. *बौद्ध दर्शन मीमांसा*, पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. २३७।
४. *वही*, पृ. २३६-२३८।
५. *वही*, पृ. २३८-२३९।
६. *ए. हि. इं. फि.*, दासगुप्त, वॉ. १, पृ. १४७।

का प्रयोग करते हुए भी यह कहा गया है कि बुद्धों का परमात्मा अग्र नैरात्म्यात्मक है। अग्रनैरात्म्य तथता है और यही बुद्धों की आत्मा है, अर्थात् स्वभाव है। अत: शुद्धात्मा के लाभी होने से बुद्ध आत्म-माहात्म्य को प्राप्त होते हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार इस प्रकार के विचार कतिपय उपनिषदों के वाक्यों का स्मरण दिलाते हैं। विज्ञानवाद की नैरात्मा में विलीन आत्मा बृहदारण्यक की निर्गुण आत्मा के समीप है। अन्तर यह है कि शंकर का अद्वैतवाद आत्मवाद कहा जा सकता है और असंग का अद्वैतवाद विज्ञानवाद। असंग ने इस प्रसंग में जो उपमाएँ दी हैं वे हमें अद्वैतवाद तक पहुँचा देती हैं।[१] यह विज्ञानवादी अद्वैतवाद तांत्रिक महायान साधनाओं और उसके परवर्ती विविध विकासों की विविध प्रवृत्तियों के लिए पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। माध्यमिकों के समान ही विज्ञानवाद भी दो प्रकार की सत्ता मानता है—पारमार्थिक और व्यावहारिक। व्यावहारिक सत्ता भी दो प्रकार की है—परिकल्पित और परतंत्र। रज्जु में सर्प का आरोप अध्यारोप है। सर्प की भ्रांति का ज्ञान परिकल्पित है तथा रज्जु की सत्ता परतंत्र सत्ता है। अद्वैत वेदान्तियों के समान ही योगाचार अथवा विज्ञानवाद मत भी यह मानता है कि जगत् का समस्त व्यवहार आरोप या उपचार के ऊपर अवलम्बित रहता है। पारमार्थिक अथवा परिनिष्पन्न सत्ता तथता है जो भाव, अभाव तथा उनके मिश्रण से भी अतीत है। यह अद्वैतरूप है, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। पं. बलदेव उपाध्याय भी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर विज्ञानवादी को पक्का अद्वैतवादी मानते हैं।[२]

ऊपर विवेचित इन माध्यमिक तथा विज्ञानवादी मतों की परीक्षा करने के उपरांत विद्वानों का स्पष्ट मत है कि ये दोनों ही महायानों दार्शनिक मत अद्वैतवादी थे। बौद्ध शांतरक्षित (निर्वाणकाल ७६२ ई.)[३] ने तत्त्वसंग्रह नामक ग्रंथ में प्राचीन अद्वैतमत का वर्णन किया है। कमलशील ने इन लोगों को 'अद्वैतदर्शनावलम्बिनश्चौपनिषदिका:' कह कर उल्लेख किया। शांतरक्षित शंकराचार्य (जन्म ७८८ ई.)[४] के पूर्ववर्ती थे। म. म. डॉ. गोपीनाथ कविराज ने अनेक दार्शनिक मतवादों के अद्वैत सिद्धांतों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कहा है कि माध्यमिकों का शून्याद्वयवाद, योगाचारों का विज्ञानाद्वयवाद, शाक्तों का शक्त्यद्वयवाद, वैयाकरणों का और मंडन-सम्मत प्राचीन वेदान्तियों का शब्दाद्वयवाद यद्यपि ये सब अद्वैतवाद ही हैं, तथापि इनमें परस्पर कुछ न कुछ वैशिष्ट्य है।[५] कविराजजी ने विस्तार से बौद्ध अद्वयवाद और शांकर अद्वैतवाद की तुलना की है।[६] उनके अनुसार योगाचारों का निर्वाण स्वरूप धर्मधातु परमार्थ सत्य है। यह अद्वय या भेदहीन तत्त्व है। इसमें ज्ञातृ-ज्ञेयरूप अथवा और किसी प्रकार का भेद नहीं है। योगी इसी परिनिष्पन्न

---

१. *बौद्ध धर्म-दर्शन,* आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ. ३८४, ३९०, ३९५-३९७।

२. *बौद्ध धर्म मीमांसा,* पृ. २४७-२५०।

३. *वही,* पृ. २७३।

४. *भारतीय दर्शन,* पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. ३४१।

५. *भारतीय संस्कृति और साधना* (१), म. म. गोपीनाथ कविराज, पृ. १३०-१३१।

६. *वही,* पृ. १३१-१४५।

धर्मधातु का ध्यान करते-करते इसमें समाहित हो जाते हैं और इसके साथ तादात्म्य-लाभ करते हैं, जल के जल में मिलने से जैसे तादात्म्य हो जाता है, यह भी ठीक वैसे ही है। यही विशुद्ध अद्वैत परिस्थिति है।[१] उपर्युक्त विवरण और विवेचन में यह स्पष्ट है कि माध्यमिक और विज्ञानवाद नाम के दोनों ही महायानी दार्शनिक मत अद्वैतवादी थे।

इनके अतिरिक्त महायान दर्शन की कुछ ऐसी सैद्धांतिक विचारधाराएँ भी हैं जिनका तांत्रिक बौद्ध धर्म के वैचारिक एवं सैद्धांतिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान पाया जाता है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि महायान में नागार्जुन ने माध्यमिक मत और शून्यता सिद्धांत की स्थापना की थी तथा मैत्रेयनाथ और असंग ने योगाचार मत और चित्त तत्त्व अथवा विज्ञान तत्त्व को महायान में प्रतिष्ठित किया। असंग के पूर्व और संभवत: नागार्जुन के ही काल में अश्वघोष ने महायान-श्रद्धोत्पाद में तथता सिद्धांत की स्थापना की थी। सुजुकि ने इस महायान को हिन्दू महायान मत के नाम से अभिहित किया है।[२] मैत्रेयनाथ और असंग आदि की रचनाओं की मीमांसा कर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि योगाचार मत पंतजलि प्रणीत योगसूत्रों का बौद्ध रूप है। सर चार्ल्स इलियट ने हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म की तुलना करते हुए अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महायानीय सिद्धांतों और श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के सिद्धांतों में पर्याप्त समानता है। उस समय भक्तिभावना, भक्तिप्रपूरित आचार और वैयक्तिक तथा अपेक्षाकृत अधिक करुण उपास्यदेव की आवश्यकता का अनुभव प्राय: सर्वत्र किया जा रहा था। ये बातें गीता और महायान सूत्रों में समान रूप से पाई जाती हैं। गृहस्थाश्रम की महत्ता का गायन भी दोनों में मिलता है। इसी प्रकार की समानताओं का विचार कर कुछ विद्वानों ने महायान का मूल स्रोत गीता को ही मानने का साहस किया है।[३]

महायान के अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों में एक त्रिकाय (निर्माणकाय, संभोगकाय तथा धर्मकाय) सिद्धांत है जिनमें से अन्तिम धर्मकाय या तथागत काय ही सर्वोच्च है। यही तथता, धर्मधातु अथवा तथागतगर्भ भी है। म. म. डॉ. गोपीनाथ कविराज के अनुसार इन तीनों कायों की तुलना क्रमश: ईश्वर, सदाशिव और शिव से करनी चाहिए।[४] दूसरा सिद्धांत तथता से संबंधित है जो परमतत्त्व की सत्तात्मक कल्पना है। यह अनिर्वचनीय तत्त्व है जिसमें विषय-विषयी, ज्ञान-ज्ञाता, प्रेमय-प्रमाता सभी लीन हो जाते हैं। इसे ही धर्म, बोधि, निर्वाण, प्रज्ञा, धर्मकाय, बोधिचित्त, शून्यता, कुशलम्, परमार्थ, मध्यममार्ग, भूतकोटि, तथागतगर्भ आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है।[५] तीसरी वैचारिक विशेषता कर्मवाद और परलोकवाद की है। बौद्ध मान्यता है कि कुशल कर्मों का अक्षय

१. *भारतीय संस्कृति और साधना* (१), म.म. गोपीनाथ कविराज, पृ. १४४-१४५।
२. *आउटलाइंस ऑव महायान बुद्धिज्म,* डी.टी. सुजुकि, पृ. ६६।
३. *हिन्दुइज्म ऐंड बुद्धिज्म,* सर चार्ल्स इलियट, वॉ. १, इंट्रो. पृ. ३०; *बौद्ध दर्शन मीमांसा,* पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. ४१४-४१८।
४. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—*बौ. द. मी.,* फोरवर्ड, कविराज, पृ. ८; *बौ. द. मी.,* पृ. १३५-१३९।
५. *आ, म. बु.* सुजुकि, पृ. १०२, १०५-१०७, १०९-११३, ११५-१२०, १२५ तक आगे।

भंडार बौद्ध को पुण्यस्कंध बनाता है और अकुशल कर्मों से मनुष्य द्वादश निदान के चक्र में पड़ता है। पंचपारमिताओं के अभ्यास और कुशल कर्म से पुण्यस्कन्धत्व की प्राप्ति बताई गई है। ये दोनों ही महायानी आचारशास्त्र के मूलाधार हैं।[१] महायान की निर्वाण संबंधी कल्पना सत्तात्मक है। यह अनिर्वचनीय तत्त्व जीवन में ही प्राप्त होता है अर्थात् यह एक प्रकार से जीवन्मुक्ति है। यह भावाभावविनिर्मुक्त, संस्कृत-असंस्कृत, विषय-विषयी, ज्ञेय-ज्ञाता सबसे परे है।[२] बोधिसत्व की कल्पना, बोधिचित्तग्रहण, पारमिता सिद्धांत, दशभूमि कल्पना आदि महायान की अन्य महत्त्वपूर्ण विचारधाराएँ हैं। बोधिसत्व के बताए गए कर्तव्य और उद्देश्य परवर्ती तांत्रिक बौद्ध सिद्ध आदर्श के लिए बड़े ही उपयोगी हैं, जैसे—सभी प्राणियों के लिए निर्वाण सुलभ करना, सभी लोगों को सहायता देना, सभी प्रकार की विपत्तियों से बचाना, अनन्त करुणा की वर्षा करना, पाप से तनिक भी न डरना, नरक के द्वार पर भी न रुकना आदि। करुणा प्रसार के लिए यदि बोधिसत्व को निषिद्ध या अकुशल कर्म करना पड़े तो उसे संकुचित नहीं होना चाहिए।[३]

सभी जीवों के समुद्धरण के अभिप्राय से बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सम्यक् संबोधि में चित्त का प्रतिष्ठित होना ही बोधिचित्तग्रहण है। बोधिसत्व की चर्या का आरंभ बोधिचित्तोत्पाद से होता है जिसका मूल तत्त्व करुणा है। सभी प्राणियों में अप्रबुद्ध रूप में स्थित बोधिचित्त का प्रबोधन ही बोधिचित्तोत्पाद है। यह कार्य प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा नाम की दस भूमियों में क्रमिक रूप में संपन्न होता है।[४] बोधिचित्तोत्पाद के बाद दस पारमिताओं (दान, शील, नैष्कर्म्य, वीर्य, शांति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री, उपेक्षा, प्रज्ञा) के साधन का क्रम है। प्रज्ञा प्रधानतम है जिसका दूसरा नाम भूततथता है। शेष पारमिताएँ लौकिक हैं। प्रज्ञा पारमिता का अर्थ है—सब धर्मों की निस्सारता के ज्ञान की परिपूर्णता। यही बोधिसत्व की सर्वोत्कृष्ट साधना है। यह प्रज्ञा पारमिता अक्षया मुद्रा है।[५]

२. तांत्रिक सिद्धाचार्यों के दार्शनिक विचार और अद्वयवाद

महायान दर्शन और सिद्धांत के इस विवेचन में संक्षेप में शून्यता-सिद्धांत, विज्ञानवाद, तथता सिद्धांत, त्रिकाय सिद्धांत, कर्मवाद, निर्वाण, बोधिचित्तोत्पाद, बोधिसत्व सिद्धांत, षट्पारमिता कल्पना आदि का विचार किया गया है। परवर्ती तांत्रिक और बौद्ध दर्शन की विचारधाराओं में इनका स्पष्ट विकास दिखाई पड़ता है। महायान में उपर्युक्त प्रकार की दार्शनिक विचारणा का प्रभुत्व एवं प्रामुख्य था। आचार, चर्या एवं

---

१. *बौ. ध. द.*, पृ. २, १८३-२१४।

२. *बौ. द. मी.*, पृ. १५१ तथा पा. टि.; आ. म. बु., पृ. ३३२-३५३।

३. *ए. हि. इं. लि.*, वॉ. २, विंटरनित्स, पृ. ३०६, ३२६; *बौ. ध. द.*, पृ. ४०९, १०६; *बौ. द. मी.*, पृ. ११९-१२२।

४. *बौ. ध. द.*, पृ. १८५-१८६, ३८८, ४१२-४१४; *आ. म. बु.*, पृ. २१९-२२४, २४५-२४६, २८२-२८३, २९०-२९१, २९४-३०७, ३११-३२६; *बौ. द. मी.*, १४०-१४२।

५. *बौ. द. मी.*, पृ. १२५-१२६, १३१; *बौ. ध. द.*, पृ. २१७-२१८।

साधना की भी प्रवृत्तियों का आधिक्य था; किन्तु महायान का पंडित समाज उपर्युक्त विचारणाओं में तल्लीन था और तत्कालीन प्रचलित साधनाओं, पारमिताओं के साधन, धारणियों के साधन, मंत्रसाधन, बोधिसत्वपूजनादि की क्रियाओं के मूल में ये ही विचारधाराएँ क्रियाशील थीं। आगे के तांत्रिक विकास में यद्यपि साधना और क्रिया का प्राधान्य हो गया, तांत्रिक कर्मकाण्ड और साधनों का वैपुल्य हो गया, दार्शनिक चिन्तन और प्रवर्तन में क्षीणता आई, तथापि मूलतः दार्शनिक विचारधाराओं का प्रवाह बना रहा। कुछ विचारधाराओं में वैशिष्ट्यप्रदर्शन एवं आनुभूतिक आग्रहवश कुछ नए विचार, भाव एवं अनुभूति संबंधी विकास एवं विस्तार हुए, जैसे महासुखकाय अथवा सहजकाय नाम के एक विशेष काय की कल्पना। वस्तुतः साधना एवं क्रिया की इतनी प्रधानता एवं विपुलता हो गई कि शास्त्रीय चिन्तन एवं प्रतिपादन के अवसर कम हो गए और पूर्ववर्ती दार्शनिक एवं चिन्तनात्मक विचारधाराएँ भी स्फुट रूप में अथवा अव्यवस्थित रूप में प्रकाश पा सकीं।

इस संबंध में डॉ. शशिभूषण दासगुप्त का यह कथन सर्वथा संगत है कि बौद्ध तंत्रों में महायानी दार्शनिक विचार सत्य के स्वभावविमर्श के रूप में और मुख्यतः तांत्रिक कर्मकाण्ड और गुह्य साधनात्मक योग-क्रियाओं के संदर्भ में इतस्ततः बिखरे हुए हैं। महायान के दार्शनिक विचारों तथा संबद्ध अद्वैत विचारों को ग्रहण करने में बौद्ध तंत्रों ने समन्वय और व्यवस्थापन दोनों का प्रदर्शन किया है किन्तु इसके साथ ही वैचारिक मिश्रण के अतिरिक्त धारणाओं का दार्शनिक अर्थवत्ता के स्थान पर पारम्परिक अस्पष्टता के साथ प्रयोग हुआ है। उनमें दर्शन की दृष्टि से कोई नाविन्य नहीं है। अतः यह अध्ययन ही महत्त्वपूर्ण हो सकता है कि इन दार्शनिक विचारों का गुह्य तांत्रिक अध्यात्मविज्ञान में रूपान्तर किस प्रकार हुआ।[१] इसकी पुष्टि के लिए तांत्रिक बौद्ध ग्रंथों के उन संदर्भों को देखा जा सकता है जिनसे बौद्ध सिद्धाचार्यों के किसी विशेष महायानी दर्शन से सम्बद्ध होने का प्रमाण मिलता है। उन सिद्धाचार्यों ने अपने ग्रंथों में महायान दर्शन के कुछ सिद्धांतों का उल्लेख तो किया ही है, साथ ही किसी विशेष दर्शन के साथ अपनी संलग्नता की ओर संकेत भी कर दिया है।

डॉ. शशिभूषण दासगुप्त ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार महायान दर्शन से तांत्रिक बौद्ध सिद्धाचार्यों की वैचारिक अथवा सैद्धांतिक संबद्धता है अथवा महायान के दर्शनों से तांत्रिक दर्शन का किस प्रकार विकास हुआ। तांत्रिक बौद्ध सिद्धाचार्यों ने परम्परागत पद्धति से महायान के दार्शनिक मतों का विभाजन कर उनके प्रति अपनी संलग्नता की ओर संकेत किया है। अद्वयवज्र ने योगाचारियों को साकारवादी और निराकारवादी में और माध्यमिक मत को मायोपमाद्वयवाद तथा सर्व-धर्माप्रतिष्ठानवाद में विभाजित किया है। महायान के अन्तर्गत उन्होंने सौत्रांतिक, योगाचार और माध्यमिक की गणना की है। पुनः महायान का विभाजन पारमितानय और मंत्रनय में किया है। अद्वयवज्र ने मंत्रनय की व्याख्या नहीं की, क्योंकि यह यान

१. *ऐन इं. ता. बु.*, डॉ. शशिभूषण दासगुप्त, पृ. ४१।

अति गंभीर और सूक्ष्म है।[१] उन्होंने अपने तत्त्व प्रकाश नाम की रचना में योगाचार की तुलना में माध्यमिक मत को प्रमुखता दी है। इसी प्रकार 'अप्रतिष्ठानप्रकाश' में भी उनका माध्यमिक मत के प्रति विशेष आग्रह है।[२] अनंगवज्र ने प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि में मध्यान्त-विभाग टीका (मैत्रेयनाथ रचित विज्ञानवादी ग्रंथ) की तरह भव की व्याख्या करते हुए अपना विवेचन आरम्भ किया है। उन्होंने जिस प्रकार भावसंकल्प का प्रतिपादन कर अभावप्रकल्पना की अनावश्यकता बताई है और उसे केवल ज्वलित दीप के ही निर्वाण की संभावना से पुष्ट किया है।[३] उससे यह प्रतीत होता है कि अनंगवज्र की विज्ञानवाद से विशेष संलग्नता है। श्रीगुह्यसमाजतंत्र में सर्वधर्मशून्यता के साथ-साथ बोधिचित्त के त्रिधातुकातीतत्त्वय का भी व्याख्यान है। आर्यदेव ने चित्तविशुद्धिप्रकरण में योगाचार और वेदान्त दोनों का अनुसरण करते हुए शुक्तिका में रजत के भ्रम का निराकरण नैरात्म्यदर्शन से बताया गया है।[४] इसी प्रकार के अन्य अनेक आधारों पर श्री प्रभुभाई भीखाभाई पटेल ने शांतिदेव के योगाचारवादी अथवा विज्ञानवादी होने की ओर संकेत किया है।[५] पद्मवज्र ने गुह्यसिद्धि में तथतावाद का पोषण किया है। उनके विवेचन से शून्यवाद का विरोध स्पष्ट भासित होता है।[६]

इन आचार्यों की उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त तांत्रिक बौद्ध कर्मकाण्ड, संस्कार और तांत्रिक योग के प्रसंग में उपर्युक्त दार्शनिक सिद्धांतों एवं मतों के प्रति संलग्नता दिखाई पड़ती है। साधनमाला जैसे बृहत् साधन ग्रंथ में भी साधनों के विभिन्न अंशों में शून्यवाद और योगाचार दोनों के सिद्धांतों के उल्लेख मिलते हैं। उदाहरण के लिए वज्रतारासाधन में चित्त की परमोच्च महिमा बताई गई है। नागार्जुनपाद के पंचक्रम नामक ग्रंथ में शून्यता सिद्धांत के चार विभाग (शून्य, अतिशून्य, महाशून्य, सर्वशून्य) बताए गए हैं।[७] ये नागार्जुनपाद (लगभग ९वीं शती) तांत्रिक थे। महायान का केवल शून्यता सिद्धांत ही नहीं, अपितु करुणा सिद्धांत भी तांत्रिक बौद्धाचार्यों द्वारा पूरी तरह से अंगीकृत हो चुका था। डॉ. शशिभूषण दासगुप्त ने इनका विस्तार से विवेचन किया है।[८]

तांत्रिक बौद्ध धर्म साधना का विस्तृत विवेचन करने वाले ग्रंथों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महायान की विचारधाराओं का तांत्रिक बौद्ध धर्म में विकास हुआ है, उसे स्वयं तांत्रिक बौद्ध सिद्धाचार्यों ने ही स्वीकार किया है। वज्रयान की रचनाओं (जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं) की परीक्षा से इसकी पुष्टि होती है। गुह्यसमाजतंत्र, ज्ञानसिद्धि, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, हेवज्रतंत्र, साधनमाला, अद्वयसिद्धि, चित्तविशुद्धि-

---

१. *ऐन इं. ता. बु.*, पृ. ४१-४२।
२. *वही*, पृ. ४२।
३. टू *वज्रयान वर्क्स*, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धिः, १. ८-१०।
४. *चित्तविशुद्धिप्रकरण*, आर्यदेव, श्लोक ६७, पृ. ५, सं. प्रभुभाई भीखाभाई पटेल; *ऐन इं. ता. बु.*, पृ. ४७-४८।
५. *चित्तविशुद्धिप्रकरण*, सं. प्रभुभाई भीखाभाई पटेल, इंट्रो., पृ. १८।
६. *ऐन इं. ता. बु.*, पृ. ४८-४९।
७. *वही*, पृ. ४९-५४।
८. *ऐन इं. ता. बु.*, पृ. ५४-५९।

प्रकरण, सेकोद्देशटीका, योगरत्नमाला, वसंततिलक, वज्रावली आदि ग्रंथों में इन विचार-धाराओं का तांत्रिक बौद्ध दर्शन की स्पष्ट वैचारिक भूमिका के रूप में वर्णन मिलता है।

तांत्रिक बौद्ध दर्शन में प्रमुख रूप से बोधिचित्त सिद्धांत, अद्वयवाद, बोधिसत्व-वज्रसत्व सिद्धांत, शक्तिवाद, प्रज्ञोपाय-सिद्धांत, त्रिकाय सिद्धांत, तथतावाद आदि के विभिन्न विकसित रूपों का स्फुट विवेचन मिलता है। व्यापक तांत्रिक बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत ही विभिन्न साम्प्रदायिक सिद्धांतों ने अपने-अपने ढंग से उपर्युक्त कुछ सिद्धांतों की व्याख्या कुछ शब्दान्तर से की। इसी के अन्तर्गत बौद्ध कापालिक तत्त्वों का भी विकास हुआ जिसका विचार आगे विशेष रूप से किया गया है। मूलाधार के रूप में उपर्युक्त विचारधाराएँ इस विशेष साधना धारा में भी प्रवाहित दिखाई पड़ती हैं। सरोरुहपाद और कृष्णपाद की रचनाओं में इस साधनाधारा की वैचारिक भूमिका का उल्लेख मिल जाता है। किंबहुना, अपभ्रंश रचनाओं में भी इसी भूमिका का दर्शन होता है।

वज्रयान के संस्कृत ग्रंथों में ये विचार अनेक रूपों में वर्णित मिलते हैं। इनका तांत्रिक विकास बहुत ही रोचक है। गुह्यसमाजतंत्र में काय-वाक्-चित्त के सौस्थित्व से बोधि प्राप्ति, महामुद्रा प्रयोग से बुद्धपद के स्फुरण, बोधिचित्त के वज्रपद के रूप में ग्रहण का उल्लेख मिलता है। प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, ज्ञानसिद्धि आदि के अनुसार बोधिचित्त वज्र है, बिन्दु है, शुक्र है, शून्यता-करुणा की अभिन्नता है, प्रज्ञोपायमय है। सेकोद्देशटीका में तृतीय अभिषेक के अन्त में बिन्दु के स्थिरीकरण का निर्देश है।[१] इस प्रकार महायान का बोधिचित्त विकसित होकर बिन्दु के रूप में परिणित हो गया।

डॉ. शशिभूषण दासगुप्त की मान्यता है कि महायान का बोधिचित्त सिद्धांत ही तांत्रिक बौद्ध विचारणा की मूल भित्ति है। इसी का आगे चलकर शून्यता-करुणा-सिद्धांत, प्रज्ञोपाय सिद्धांत, अद्वयवाद, युगनद्ध सिद्धांत, समरस, महासुखवाद आदि के विभिन्न रूपों में विकास हुआ। यह बोधिचित्त ही तांत्रिक बौद्ध साधना का मध्य बिन्दु है;[२] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि तांत्रिक बौद्ध साधना का मूलाधार महायान का बोधिसत्व सिद्धांत है, जो तत्त्वतः महायान से भी प्राचीन है। प्रज्ञा और करुणा का युगपत् साधन बोधिसत्व के लिए परमावश्यक है। यह भी स्पष्ट ही है कि इस साधन का मूलाधार चित्त ही है किन्तु यह भी निश्चित है कि प्रज्ञोपाय सिद्धांत, युगनद्ध सिद्धांत, शून्यता-करुणा-सिद्धांत आदि का जो विविध रूपात्मक विकास हमें तांत्रिक बौद्ध विचारणा में दिखाई पड़ता है, उसका मूल बोधिसत्व सिद्धांत में ही है। योगाचार अथवा विज्ञानवाद ने उसे दार्शनिक प्रतिष्ठा दी है और आगे चलकर शक्तिवाद के समायोजन से इस बोधिसत्व सिद्धांत का एक

१. उपर्युक्त तथा इसी प्रकार के अन्य विचारों के विस्तार के लिए द्रष्टव्य—*गुह्यसमाजतंत्र,* भट्टाचार्य, पृ. २७, ११०, १३७, १३८, १५३; *ए. हि. इं. लि.,* वॉ. २, पृ. २९७-२९८; *चित्तविशुद्धिप्रकरण,* पटेल, श्लोक ५ तथा अन्य; टू *वज्रयान वर्क्स,* भट्टाचार्य, प्र. वि. सि. २.२९, ४.१७, ५.३३, ज्ञा. सि.—१५.३१, १.१२, १५.५; *ऐन इं. ता. बु.,* पृ. १५९, १८०; *साधनमाला,* भट्टाचार्य, भाग १, २; *सेकोद्देशटीका,* केरेली, इंट्रो. पृ. ३४ आदि।

२. *ऐन इं. ता. बु.,* दासगुप्त, पृ. १२५।

विशिष्ट रूप हमें तांत्रिक देवमंडल के रूप में दिखाई पड़ता है। सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अथवा विज्ञानवादी विचारणा से इस संपूर्ण देवमण्डल का ही नहीं, संपूर्ण चराचर जगत् का विस्तार चित्त का ही विस्तार स्वीकृत हुआ और बोधिचित्त परमतत्त्व के रूप में स्वीकृत हो गया।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि वज्रयान का चित्त, दार्शनिक दृष्टि से योगाचार के चित्त का विकास है। योगाचार का चित्त, चेतना का प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रवाह है। प्रत्येक क्षण (प्रतीत्यसमुत्पादवाद के अनुसार) आगामी क्षण को जन्म देता है। चेतन क्षणों की यह शृंखला अनादि और अनन्त है। अकुशल कर्मों के प्रभाव में यह चित्त स्वभावतः स्मृति, वासना, कल्पना आदि से अशुद्ध हो जाता है। शोधन न करने से चित्त द्वादश निदानों के चक्र में पड़ता है। वासना-कल्पनादि के क्रमशः हट जाने पर यह चित्त ऊर्ध्वमुख होकर आध्यात्मिक स्थितियों को, जिन्हें महायान में भूमि कहा जाता है, पारकर दसवीं भूमि या अंतिम भूमि धर्ममेघा में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है। यह पूर्ण ज्ञानी बोधिचित्त अपने वास्तविक विश्वात्मक रूप में अकनिष्ठ लोक (स्वर्ग) में निवास करता है।[१] ज्ञानसिद्धि में इसी बोधि को प्राप्त कर लेने वाले चित्त को शून्यता और करुणा का अभिन्न रूप कहा गया है। इसी को अनंगवज्र ने प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि में नित्य, शुद्ध, प्रभास्वर आदि विशेषणों में विशिष्ट किया है। डॉ. शशिभूषण दासगुप्त ने बड़े विस्तार से बोधिचित्त के प्रज्ञोपाय और शून्यता-करुणा के पक्षों के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रज्ञा और शून्यता तथा उपाय और करुणा परस्पर पर्याय हैं। शून्यता के लिए प्रज्ञा शब्द का प्रयोग बौद्ध दर्शन और साहित्य में बहुत मिलता है। किन्तु करुणा के लिए उपाय शब्द का प्रयोग कुछ शास्त्रीय और सांकेतिक है। सुजुकि के अनुसार अश्वघोष के महायानश्रद्धोत्पादसूत्र में बोधि की दो उपाधियों के रूप में प्रज्ञा और उपाय (करुणा) का उल्लेख मिलता है।

परवर्ती महायान साहित्य में करुणा के लिए उपाय शब्द का प्रयोग बहुलता से मिलता है। वहाँ उपाय का अर्थ है वह धर्मकार्य जो सत्योपदेश के द्वारा सांसारिक जनों को अपने अविद्या आवरण को हटाकर सत्य साक्षात्कार के लिए प्रेरित करता है।[२] हेवज्रतंत्र में उपाय और प्रज्ञा को योगी और उसकी साधन-सहयोगिनी या महामुद्रा के रूप में कल्पित किया गया है। बोधिचित्त को इन दोनों का जो क्रमशः करुणा और शून्यता है, अद्वयरूप कहा गया है।[३] बौद्धतंत्रों में इन दोनों के योग पर, दार्शनिक और तांत्रिक योगसाधना, दोनों की दृष्टि से, बहुत अधिक जोर दिया गया है। अद्वयवज्रसंग्रह के प्रेमपंचक में इन दोनों के लिए वर और वधू की कल्पना की गई है। एक-दूसरे से वियुक्त होने पर दोनों ही निष्क्रिय और अशक्त हो जाते हैं।[४] अनुभवी

१. *तत्त्वसंग्रह*, सं. डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य, इंट्रो., पृ. ३९।

२. *ऐन इं. तां. बु.*, दासगुप्त, पृ. १०१-१०२।

३. *हेवज्रतंत्र*, स्नेलग्रोव, भाग २, १.१०.४२, पृ. ४०, 'कृपोपायो भवेद्योगी मुद्रा हेतुवियोगतः। शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तं इति स्मृतम्॥'

४. *अद्वयवज्रसंग्रह*, सं. हरप्रसाद शास्त्री, पृ. ५८, 'शून्यतातिवरा कान्ता मूर्त्या निरूपमा तु या। पृथक् यदि कदाचित् स्यात् बुद्धः स्यात् कान्तनायकः।'

गुरु के उपदेश से दीपक और उसके आलोक में समान अद्वयत्व प्राप्त करने में धर्मों (पदार्थों) और आत्मा के स्वभाव के ज्ञान में, साक्षात्कार करने में, सफलता मिल सकती है। प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि में उपाय को नौका के रूप में कल्पित किया गया है। यह करुणा नौका संसार के जीवों को अनुकूल तट तक पहुँचाती है, इसलिए इसे उपाय भी कहते हैं। इसी करुणा को राग भी कहा गया है। जल और दूध की तरह प्रज्ञा और उपाय का अद्वयत्व प्रज्ञोपाय कहलाता है।[१] आर्यदेव के अनुसार जिस प्रकार दो काष्ठों के घर्षण से आद्यंत शुद्ध अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार प्रज्ञा और उपाय के सम्मिलन से शुद्ध और प्रकाशपूर्ण ज्ञान उदित होता है।[२]

प्रज्ञा और उपाय एक ही परमतत्त्व के दो पक्ष हैं। प्रज्ञा निष्क्रिय है और करुणा सक्रिय। वज्रयान के परमोच्च देवता हेरुक उपाय हैं और उनकी शक्ति वाराही प्रज्ञा है। प्रज्ञा या वाराही ज्ञान है और उपाय या हेरुक ज्ञेय। इन दोनों के योग से अवधूतीमंडल का निर्माण होता है। प्रज्ञा नारी है, अभावात्मक है, जबकि उपाय नर सक्रिय और भावात्मक है। इन दोनों को क्रमशः इसी विचार-परम्परा में, निवृत्ति और प्रवृत्ति भी कहा जा सकता है। नेपाल के ऐश्वरिक मत में इन्हें आदि प्रज्ञा और आदि बुद्ध कहा गया है। इस नामकरण में जगद्विकास संबंधी दार्शनिक सिद्धांत स्पष्ट परिलक्षित होता है। बौद्ध धर्म के त्रिरत्नों में धर्म को प्रज्ञा, बुद्ध को उपाय और संघ को संसार कहा जाता है। बुद्ध और धर्म के संयोग से संघ की उत्पत्ति होती है।[३]

अद्वयवज्रसंग्रह में प्रज्ञा को शक्ति और उपाय को शिव कहा गया है और दोनों के समायोग से उत्पन्न तत्त्व को अद्भुत सुख माना गया है।[४] शैवों का शिव-शक्ति-मिथुन-पिंड (अर्द्धनारीश्वर) ही बौद्धों का प्रज्ञोपाय है। बौद्धों के यहाँ प्रज्ञा निवृत्ति पक्ष है और उपाय (करुणा), निवृत्ति या प्रज्ञाप्राप्ति के बाद का प्रवृत्ति पक्ष। इन्हें दूसरे शब्दों में हम क्रमशः निर्वाण और संसार कह सकते हैं। उसी प्रकार शैवों में पूर्णतात्मक मोक्ष को अहं तथा अपूर्णातात्मक संसार को इदं कहा गया है। शक्ति को रक्त और शिव को बिन्दु कहा जाता है। सांख्य में पुरुष को निष्क्रिय, निर्गुण और शांत माना जाता है और प्रकृति को सक्रिय और सगुण (स-गुण) कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि शैव-शाक्त तंत्र और वेदांत में नर और नारी तत्त्व या पक्ष का जो विचार मिलता है, बौद्धों में उसका विपरीत रूप दिखाई देता है। अद्वयवज्र ने जहाँ उच्छुष्मतंत्र को उद्धृत कर शिव-शक्ति-समायोग को परमाद्वय और सत्सुख कहा है, वहाँ निश्चित रूप से उन्होंने शिव-शक्ति को बौद्ध परम्परा के अनुसार ग्रहण किया है।[५] इसी प्रकार क्रियाशील बोधिचित्त को उपाय कहा जाता है और निष्क्रिय बोधिचित्त को प्रज्ञा या नैरात्म्य या शून्यता कहा

---

१. टू *वज्रयान वर्क्स,* प्र. वि. सि., १.१५-१७—......अद्वयाकार योगेन प्रज्ञोपायः स उच्यते।

२. *चित्तविशुद्धिप्रकरण,* पटेल, पृ. ७।

३. *ऐन इं. ता. बु.,* दासगुप्त, पृ. १०६-१०९।

४. *अद्वयवज्रसंग्रह,* पृ. २८ '......शिवशक्तिः समायोगात् जायते चाद्भुतं सुखम्।'

५. *वही,* पृ. २८।

जाता है। जब बोधिचित्त ऊर्ध्वमुख होकर गतिशील होता है तो अंततः वह नैरात्मा या शून्यता या सहजानंद में लीन हो जाता है।[१]

बौद्ध तंत्र संसार के नारी तत्त्व की प्रज्ञा का तथा नर तत्त्व को उपाय या बुद्ध का अवतार मानते हैं। प्रज्ञा को भगवती या मुद्रा तथा उपाय या बुद्ध को भगवान् कहते हैं। प्रज्ञा को ही, साधना की दृष्टि से महामुद्रा, वज्रकन्या, युवती या पद्म भी कहा गया है। हेवज्रतंत्र में प्रज्ञा को जननी, भगिनी, रजकी, नर्तकी, दुहिता, डोम्बी आदि कहा गया है। इन सभी संज्ञाओं की वहाँ पूर्ण व्याख्या मिलती है; किन्तु वह व्याख्या आध्यात्मिक और साधनात्मक दृष्टि से की गई है, न कि सांसारिक या स्मृतियों की दृष्टि से।[२] इसी प्रकार प्रज्ञा को पद्म या नारी और उपाय को वज्र या नर कहा गया है क्योंकि प्रज्ञा या नारी महासुखाश्रय है। वह भगवती है; क्योंकि वह सभी कष्टों का भंजन करने वाली है। उसे योनि भी कहा गया है; क्योंकि उसी से सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है।[३] इसी विचार-परम्परा का अनुसरण करते हुए ज्ञानसिद्धि में स्त्रीन्द्रिय को पद्म तथा पुरुषेन्द्रिय को वज्र कहा गया है।[४]

प्रज्ञा को ललना और उपाय को रसना भी कहा जाता है जिन्हें हिन्दू तंत्रों में इड़ा नाड़ी और पिंगला नाड़ी कहा जाता है। जिस नाड़ी में दोनों नाड़ियाँ समायुक्त होती हैं, उसे अवधूती कहते हैं। इसे हिन्दू तंत्रों में सुषुम्ना कहते हैं। बौद्धों के यहाँ यह नाड़ी निर्वाण मार्ग के रूप में स्वीकार की गई है। यह नाड़ी महासुखाश्रय है। अवधूती का स्थान दोनों नाड़ियों के बीच में है।[५] हिंदू तंत्रों में इड़ा (ललना) चन्द्रमा और शक्ति का प्रतीक है और पिंगला (रसना), सूर्य और शिव का प्रतीक है।[६] प्रज्ञा आलि (स्वर) है और उपालि कालि (व्यंजन)। इन्हीं को क्रमशः वाम और दक्षिण भी कहते हैं। इन्हीं को चन्द्र और

१. *ऐन इं. ता. बु.*, दासगुप्त, पृ. ११२।

२. *ऐन इं. तां. बु.*, दासगुप्त, पृ. ११३-११४। *हेवज्रतंत्र;* स्नेलग्रोव, भाग २, पृ. १६-१८, १.५.१६-१८—'जननी भण्यते प्रज्ञा जनयति यस्माज्जगत्। भगनीति तथा प्रज्ञा विभागं दर्शयेद् यथा। रजकीति दुहिता च नर्तकी च प्रकथ्यते। रञ्जनात् सर्वसत्वानाम् रजकीति तथा स्मृता॥ गुणस्य दुहनात् प्रज्ञा दुहिता च निगद्यते। नर्तकी भण्यते प्रज्ञा चञ्चलत्वान्महाकृपा॥ अप्सरशा भगवती यस्मात् तस्मात् डोम्बी प्रकथ्यते॥'

३. *ऐन इं. तां. बु.*, दासगुप्त, पृ. ११७, 'येन क्लेशोपनिहन्यते प्रज्ञाधिनाश्च ते क्लेशाः सौख्यात् प्रज्ञा भग उच्यते।' 'भञ्जनं भगमाख्यातं क्लेशमारादि भञ्जनात्। प्रज्ञाबध्याश्च ते क्लेशास्तस्मात् प्रज्ञा भग उच्यते।। *हेवज्रतंत्र।*

४. *टू व. व. ज्ञानसिद्धि,* पृ. ४२, 'शुक्रं वैरोचनं ख्यातं वज्रोदकं तथाऽपरम्। स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुसेन्द्रियं तथा॥'

५. *साधनमाला,* भट्टाचार्य, पृ. ४८८, भाग २, 'ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपायेन संस्थिता। अवधूती मध्यदेशे तु महासुखाधाररूपिणी।' तथा *एन. इं. ता. बु.*, पृ. ११८।

६. *षट्चक्रनिरूपण,* तारानाथ विद्यारत्न, रामवल्लभकृत टीका, पृ. ३ पर सम्मोहनतंत्र को उद्धृत कर नाड़ियों के स्वरूप और स्थान का निर्देश किया गया है।

सूर्य भी कहते हैं। प्रज्ञा 'ए' हैं और उपाय 'वं'। दोनों का समायोग एवं है। यही युगनद्ध है। अद्वयवज्र ने बुद्ध को एवं रूपात्मक मान कर उन्हें नमस्कार किया है।[१]

ऊपर प्रज्ञा और उपाय के अद्वयत्व की चर्चा की गई है। प्रज्ञा और उपाय का अभिन्न रूप ही बोधिचित्त है। इसी अभिन्न रूप को अद्वय भी कहा जाता है। साधनमाला में अद्वैतरस की कल्पना की गई है। कहा गया है कि जैसे सिद्धरस के संपर्क से ताम्रपत्र अपनी संपूर्ण कृष्णता को छोड़ देता है, उसी प्रकार शरीर भी अद्वैतरस के संपर्क से रागद्वेषादिक दोषों को छोड़ देता है।[२] शून्यता और करुणा को नमक और जल के समान कल्पित किया गया है। इन दोनों के अभिन्न मिश्रण के समान ही अद्वयता होती है। तांत्रिक बौद्ध देवताओं में प्रज्ञा और उपाय या शून्यता और करुणा के प्रतिनिधि प्रज्ञा (वाराही) और हेरुक हैं जिनका संयुक्त या संपरिष्वक्त रूप युगनद्ध या अद्धय कहलाता है।[३] वज्रसत्व शब्द की व्याख्या से भी इस अद्वय की सिद्धि होती है। अद्वयवज्र ने बतलाया है कि वज्र का अर्थ शून्यता है और सत्व का अर्थ है ज्ञानमात्रता। इन दोनों के तादात्म्य से वज्रसत्व की सिद्धि स्वभावत: होती है। प्रदीप और आलोक की तरह ही शून्यता और करुणा का भेद है। दोनों का उसी प्रकार ऐक्य भी है।[४] कालचक्रयान में आदिबुद्ध की कल्पना करुणा और शून्यता की मूर्ति के रूप में की गई है। उन्हीं की संज्ञा काल है। उनकी शक्ति संवृत्तिरूपिणी है अर्थात् जगत् का यह व्यावहारिक रूप (संवृति) उन्हीं की शक्ति है। चक्र सतत परिवर्तनशील विश्व का प्रतिनिधि है। शक्ति से संवलित रूप कालचक्र है। यह अद्वय (दो होकर भी एक) है तथा कभी उसका विनाश नहीं होने वाला है।[५] इसी अद्वैतवादी विचारधारा के कारण डॉ. विंरनित्स का यह कथन सर्वथा उचित है कि वज्रयान उस अद्वैत दर्शन का उपदेश करता है जिसके अनुसार सभी प्राणी तत्त्वत: वज्रसत्व हैं और केवल वही सभी प्राणियों में अन्त:स्थित है।[६]

तांत्रिक बौद्ध ग्रंथों में इस अद्वयभाव का विविध रूपात्मक प्रसार दिखाई पड़ता है जिसके अनुसार संसार की द्वयता का अद्वैत में तिरोधान ही अद्वय है। यही युगनद्ध है। संसार और निर्वाण की भिन्न भावनाओं के निष्कासन से प्राप्त एकात्मता की अवस्था ही

---

१. *ऐन इं. ता. बु.*, दासगुप्त, पृ. १२२। *अद्वयवज्रसंग्रह,* शास्त्री, पृ. २८। 'एवं' के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—*झा रिसर्च इंस्टिट्यूट जर्नल,* वॉ २, पा. १, १९४४।

२. *साधनमाला,* भट्टाचार्य, भाग १, पृ. ८२—'यथा सिद्धिरसेन विद्धं ताम्रं कृष्णतां त्यजति तथा शरीरमेवाद्वैतरसेन विद्धं रागद्वेषादिकं त्यजति।'

३. *ऐन इं. बु. ए.,* भट्टाचार्य, पृ. १०२-१०३।

४. *अद्वयवज्रसंग्रह,* शास्त्री, पृ. २३-२४, २६—'दृढ़ं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्। अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते। वज्रेण शून्यता प्रोक्ता सत्वेन ज्ञानमात्रता। तादात्म्यमनयो: सिद्धं वज्रसत्वस्वभावत:॥ शून्यता कृपयोर्भेद: प्रदीपालोकयोरिव। शून्यता कृपयोरैक्यं प्रदीपालोकयोरिव॥'

५. *सेकोद्देशटीका,* करेल्ली, पृ. ८, 'करुणाशून्यतामूर्ति: काल संवृतिरूपिणी। शून्यता चक्रमित्युक्तं कालचक्रोऽद्धयोक्षर:॥' तथा *बौद्ध दर्शन मीमांसा,* उपाध्याय, पृ. ३८४।

६. *ए. हि. इं. लि.,* विंटरनित्स, वॉ. २, पृ. ३८७-३८८।

युगनद्ध की अवस्था है। काय, वाक् और चित्त का तथता के आश्रय में प्रवेश करना, इनसे परे होना तथा पुनः क्लेशयुक्त संसार की ओर अभिमुख होना ही युगनद्ध की अवस्था प्राप्त करना है। अर्थात् संसार की ओर उन्मुख होना करुणा है और काय, वाक् और चित्त की तथता में प्रवेश करना शून्यता ज्ञान प्राप्त करना है। संवृत्ति (सांसारिक सत्य) और परमार्थ (अलौकिक सत्य) के स्वभाव को जानना और दोनों को संयुक्त करना युगनद्ध है। यह अवस्था स्मृति-अस्मृति, राग-अराग, उत्पत्ति-उत्पन्न, रूप-अरूप इन सबसे परे है। यह इन सभी द्वैत संपन्न रूपों का अद्वय रूप है। यही बुद्धत्व की अवस्था है। वज्रसत्व, वज्रोपम, अद्वय, अनुत्पन्न सभी इसी अवस्था की ओर संकेत करते हैं। प्रेमपंचक में इसी अद्वय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया गया है, गुरु से सहायता ली गई है। शैवों और शाक्तों के कामकला और कामेश्वर तथा कामेश्वरी के परस्पर समन्वय या सामरस्य के सिद्धांत भी इसी तत्त्व की ओर संकेत करते हैं।[१]

तांत्रिक साधना में परम देवता को 'भुक्ति-मुक्ति-प्रदाता' माना जाता है। बौद्धों में भी इसी को संसार और निर्वाण का अद्वय कहा जाता है। तंत्रों के साधनपरक होने के कारण देवता के परम रूप की प्राप्ति ही साधक का चरम लक्ष्य है। यह परम रूप अद्वय रूप है। इसी का प्रयुक्त या आचरित रूप युगनद्ध है। युगनद्ध का प्रतीक स्त्रीत्व और पुरुषत्व के विलक्षण ऐक्य की ओर संकेत करता है। यह संवृति सत्य और परमार्थ सत्य, करुणा या राग और प्रज्ञा के ऐक्य का प्रतीक है। यह प्रत्येक के जीवन में उत्पन्न होने वाली बुद्धि और हृदय के परस्पर विभेद और वैषम्य की समस्या का समाधान देता है। डॉ. ग्वेंथर की दृष्टि में युगनद्ध मानव के यथार्थ जीवन में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का मानसिक समाधान देता है।[२] यह युगनद्ध या अद्वय संसार के सभी पदार्थों में व्याप्त है। वे पदार्थ केवल देखने में द्वैत या भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं। युगनद्ध चेतनता और अचेतनता (प्रज्ञा और उपाय) का अद्वय रूप है। दोनों ही एक हैं। उनमें भिन्नता नहीं है।[३] इस प्रकार बौद्धतंत्र की दृष्टि से शक्तिमार्ग आत्मा का मार्ग है और शिवमार्ग शरीर का। दोनों के बीच का मार्ग अद्वयमार्ग है। यही मानव-जीवन के संतुलन का मार्ग है।

हिन्दू तांत्रिकों की भाँति वज्रयानियों में समरस की भी भावना प्रचलित है। समरस का अर्थ है, विश्व की अनेकता में एकता की उपलब्धि, सर्वव्यापी सुख के अनूठे प्रवाह में एक परम सत्य का साक्षात्कार। हेवज्रतंत्र के अनुसार सहजावस्था में प्रज्ञा और उपाय की अभेदता रहती है। किसी का पृथक् प्रत्यभिज्ञान उस समय नहीं होता।[४] सम का अर्थ है एकात्मता तथा रस का अर्थ है चक्र।[५] इस संसार-चक्र के पदार्थों की एकात्मता की उपलब्धि ही समरसोपलब्धि है। दार्शनिक दृष्टि से समरस का अर्थ अद्वय और युगनद्ध है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर संपूर्ण संसार एकरसमय,

---

१. *ऐन इं. ता. बु.*, दासगुप्त, पृ. १२५-१२९।
२. *युगनद्धः*, दि तांत्रिक व्यू ऑव लाइफ, हर्बर्ट पी. ग्वेंथर, प्रीफेस, पृ. ३, इंट्रो., पृ. ६।
३. *वही*, पृ. १५७; *गुह्यसमाजतंत्र,* भट्टाचार्य, पृ. १६१, पटल १८।
४. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग २, पृ. २८।
५. *वही*, पृ. ३०, १.८.४०।

एकरागमय हो जाता है। इस अवस्था में पहुँचने पर पर-अपर, सुख-दुःख, राग-विराग आदि का अनुभव नहीं रह जाता। हिंदू तंत्रों का सामरस्य भी संयोग या शिव-शक्ति के भावैकरसत्व की ओर संकेत करता है। बौद्ध तंत्रों में यौनयौगिक साधना से उदित अद्वयत्व को संकेतिक करने के लिए इस शब्द का व्यवहार मिलता है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से समरस का अर्थ अद्वय और युगनद्ध से अभिन्न है।[१]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तांत्रिक बौद्ध ग्रंथों में अद्वय, युगनद्ध, समरस शब्द प्रायः एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए हैं। इसी प्रकार तांत्रिक बौद्धों ने महासुख की भी कल्पना की है। इसका विकास बौद्ध निर्वाण से हुआ है। इसी को सुखराज, सहजानंद, महासुख आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। पहले निर्वाण शब्द का अर्थ था—जन्म-मरण का पूर्ण निरोध, बुझ जाना, सभी वासनाओं और संस्कारों के निरोध से प्राप्त होने वाली परम शांति। निर्वाण भावनात्मक है अथवा अभावनात्मक, इस पर अत्यधिक विवाद है। पालि साहित्य (विशेषकर मिलिन्दपञ्हो) में निर्वाण को भावात्मक ही माना गया है। यद्यपि पालि ग्रंथों में निर्वाण को अनिर्वचनीय कहा गया है तथापि काव्यात्मक वर्णनों में इसे परम संत, विशुद्ध, पनित, संति, अक्खर, ध्रुव, सच्च, अनंत, अजात, असंखत, अकट, केवल, शिव आदि विशेषणों के साथ प्रयुक्त किया गया है।[२] कुछ पालि ग्रंथों में इसे परम सुखावस्था भी कहा गया है।[३] विज्ञानवाद या योगाचार मत में निर्वाण धातु को ज्ञाता-ज्ञेय से परे बताया गया है। वसुबंधु ने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में विज्ञप्ति-मात्रता को अनास्रव, अचिन्त्य, कुशल, ध्रुव, सुख, विमुक्तिकाय, धर्म आदि कहा है।[४] धम्मपद जैसे प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में भी निर्वाण को भावात्मक और सुखात्मक मानकर उसे परम सुख कहा गया है।[५] तांत्रिक बौद्ध दर्शन में महासुख के ही अर्थ में निर्वाण को ग्रहण किया गया। इसे सतत सुखमय कहा गया है। ज्ञानसिद्धि में इन्द्रभूति ने बताया है कि महासुख के अनिर्वचनीय होने के कारण जिनोत्तमों ने उसका प्रवचन नहीं किया।[६] सिद्धाचार्य सरहपाद भी इस संपूर्ण जगत् में उदित सुखराज को कारणसहित मानते हैं। इसके निर्वचन के समय सर्वज्ञ बुद्ध को भी वचनदरिद्र होना पड़ा था।[७] यह तत्त्व भुक्ति और मुक्ति दोनों का आश्रय है। यह अपरिवर्तनशील, परमानन्द, सभी वस्तुओं का बीज, पूर्णता प्राप्त साधकों की अवस्था और परमोच्च स्थान है। यह धर्मकाय, अनादि-अनंत, वज्रसत्व, युगनद्ध, अद्वय,

---

१. *ऐन इं. तां. बु.,* दासगुप्त, पृ. १४०।
२. *आ. रे. क.,* दासगुप्त, पृ. ३५।
३. *मज्झिम निकाय,* १.५०८—'निव्वानं परमं सुखम्।'
४. *त्रिंशिका,* श्लोक ३०।
५. *दि धम्मपद,* राधाकृष्णन्, सुखवग्गो, पृ. १२६, श्लोक २०३-२०४।
६. *टू. व. व.,* भट्टाचार्य, पृ. ५७, ज्ञानसिद्धि, सप्तम परिच्छेद, श्लोक १।
७. *सेकोद्देशटीका,* करेल्ली, पृ. ८३ पर नडपाद द्वारा उद्धृत सरहपाद का वचन 'जयति सुखराजः एकः कारणरहितः सदोदितो जगताम्। यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥'

बोधिचित्त, परमतत्त्व आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। यह प्रज्ञा भी है, उपाय भी है और युगनद्ध भी।[१]

महायान दर्शन का विवेचन करते समय उसकी अनेक विचारधाराओं का भी परिचय दिया गया है। बुद्ध के तीन काव्यों में धर्मकाय, संभोगकाय और निर्माणकाय की गणना की जाती है, जिनमें सर्वोच्च एवं सूक्ष्मतम धर्मकाय है जिसे तथतारूप भी कहा जाता है। इसे स्वभावकाय भी कहते हैं; किन्तु आगे चलकर तांत्रिक दर्शन में इस महायानी धर्मकाय का और विकास हुआ और धर्मकाय से भिन्न एक नवीन स्वभावकाय अथवा वज्रकाय अथवा सहजकाय की कल्पना वज्रयानियों और सहजयानियों द्वारा की गई और उसे ही महासुखकाय कहा गया।[२] इस प्रकार धर्मकाय का स्थान वज्रसत्व अथवा वज्रकाय ने ले लिया। यद्यपि कहीं-कहीं इस वज्रकाय को धर्मकाय से अभिन्न कहा गया है तथापि प्रायः वज्रकाय को चतुर्थकाय के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। इस चतुर्थ काय से नित्यबुद्ध अपनी शक्ति या भगवती का आलिंगन करते हैं। इसी काय से तथागत या भगवान्, शक्ति या भगवती या तारा से सदैव संपरिष्वक्त रहते हैं। इस प्रकार भगवान् तथागत के भगवती में सदैव विहार करने वाले रूप की कल्पना की गई। पुसिं ने इस तत्त्व को अनेक पुस्तकीय प्रमाणों के साथ उपस्थित किया है।[३]

इनके अतिरिक्त तांत्रिक बौद्ध दर्शन में वज्रयान के उपयानों ने अपने कुछ विशेष सिद्धांतों का भी समायोजन किया। कालचक्रयान और सहजयान नाम के उपयानों ने कुछ अपनी विचारधाराएँ पूर्व सिद्धांतों के आधार पर सम्मिलित और विकसित कीं। कालचक्रयान आदिबुद्ध सिद्धांत का प्रतिपादक था जिसके अन्तर्गत ध्यानी बुद्धों, आदि बुद्ध और भयंकरा काली के संयोग से उत्पन्न होने वाली सृष्टि और प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों की व्याख्या स्वीकृत है।[४] म. म. हरप्रसाद शास्त्री ने कालचक्र की व्याख्या प्रस्तुत की है।[५] इस संप्रदाय के प्रमाण ग्रंथ सेकोद्देशटीका में भी इसकी भिन्न व्याख्या मिलती है।[६] वज्रयान के उपास्य वज्रसत्व की तरह आदि बुद्ध की कल्पना करुणा और शून्यता की मूर्ति के रूप में की गई है। उन्हीं की संज्ञा काल है। उनकी शक्ति संवृत्तिरूपिणी है अर्थात् जगत् का व्यावहारिक रूप (संवृति) उन्हीं की शक्ति है। चक्र सतत परिवर्तनशील विश्व का प्रतिनिधि है। शक्ति से संवलित रूप कालचक्र है। यह अद्वय (दो होकर भी एक) है तथा कभी उसका विनाश नहीं होने वाला (अक्षर) है।[७]

---

१. *आ. रे. क.*, दासगुप्त, पृ. ३६-३७।
२. *ऐन इं. तां. बु.*, दासगुप्त, पृ. १२ तथा पादटिप्पणी।
३. *इं. रे. ए.*, वॉ. १२, पृ. १९६।
४. *दि बुद्धिज्म ऑव टिबेट आर लामाइज्म,* वेडेल, पृ. १५।
५. *मॉडर्न बुद्धिज्म ऐंड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा,* नगेन्द्रनाथ वसु, इंट्रो., म.म. हरप्रसाद शास्त्री, पृ. ८।
६. *सेकोद्देशटीका,* करेल्ली, पृ. ८।
७. *वही,* पृ. ८।

सहजयान ने सहज तत्त्व को वज्र के स्थान पर प्रतिष्ठित किया। अद्वयवज्रसंग्रह में सहज तत्त्व को अकृत्रिम, सुखोत्पादक कहा गया है। वह असंगलक्षण है।[१] ज्ञानसिद्धि, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, तथागतगुह्यक आदि ग्रंथों में सहज शब्द की व्याख्या नहीं मिलती। डॉ. शशिभूषण दासगुप्त ने विभिन्न हस्तलेखीय प्रमाणों के आधार पर सहज शब्द के दो अर्थ प्रस्तुत किए हैं, एक तो दर्शनपरक है और दूसरा साधनपरक। सहजयान का परम लक्ष्य आत्मगत और संसारगत पदार्थों के स्वाभाविक धर्म (सहज) का साक्षात्कार या अनुभव करना है। दूसरे यह यान मानव प्रकृति और शरीर को अनुचित कष्ट देने की अपेक्षा अत्यधिक स्वाभाविक मार्ग से सत्यानुभव कराना चाहता है। अर्थात् यह यान उस मार्ग का पथिक है जिस पर मानव स्वभाव उसे ले चले।[२] साधारणतया सहज शब्द का अर्थ जाति या जन्म के साथ ही उत्पन्न होना लिया जा सकता है। धर्मों या पदार्थों में जो स्वभावत: ही रहता है, उसे ही सहज कहना चाहिए। उनके अस्तित्व के साथ ही वह तत्त्व भी रहता है। अर्थात् वह तत्त्व सभी धर्मों का सार है। हेवज्रतंत्र में कहा गया है कि विश्व का स्वभाव सहज है क्योंकि सहज ही सभी का स्वरूप है। यह स्वरूप ही शुद्ध चित्तवालों का निर्वाण है। महासुख रूप सहज मनोशारीरिक क्रिया से प्राप्त होते हुए भी शरीर से संबद्ध नहीं है, यद्यपि यह शरीर में ही रहता है। यह शारीरिक तत्त्व नहीं है।[३] इस प्रकार महासुख की विशेषताएँ सहज में भी निविष्ट हो गईं। हेवज्रतंत्र में सहज का वर्णन उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार और उपयानों में परमतत्त्व तथा परमावस्था का। सहज वह परमावस्था है जिसमें न तो प्रज्ञा की और न उपाय की ही पहचान होती है। उसमें भेदज्ञान या द्वैतज्ञान भी नहीं रहता।[४]

इनके अतिरिक्त दो सिद्धांत और ऐसे हैं जो दार्शनिक सिद्धांत तो नहीं हैं किन्तु जिनका समान महत्त्व वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान में दिखाई पड़ता है और उनकी साधना के मूलाधार सिद्धांत के रूप में प्रतीत होते हैं। ये हैं—अधिकारभेदवाद और पिण्डब्रह्माण्डवाद। श्री पुसिं का विचार है कि वज्रयान में भी, शैव और शाक्त संप्रदायों की तरह, दक्षिणाचार और वामाचार नामक दो आचार जीवित थे। वज्रयानियों में कुछ लोग तो ऐसे थे जो राजयोग को आचरणीय मानते थे। कुछ लोग अँगुलियों से बनाई हुई अनेक मुद्राओं को महत्त्व देते थे और कुछ लोग ज्ञानमुद्रा (मानसिक मुद्रा) की बात करते थे।[५] इस प्रकार की विशेषता से युक्त होने के कारण तथा मंत्र, मुद्रा मंडल, पंचमकार आदि को प्रश्रय देने के कारण अपनी तथा लोक की नैतिक सुरक्षा के लिए साधकों का श्रेणी विभाग स्वीकार करना आवश्यक था। बुद्ध ने लौकिक जनों की संतुष्टि के लिए लौकिक

१. *अद्वयवज्रसंग्रह,* शास्त्री, पृ. ५८।

२. *आ. रे. क.,* दासगुप्त, पृ. ५२।

३. *वही,* पृ. १०; *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग २, पृ. ५०, २.२.४४। पृ. २, १.१.१२। पृ. ४०, १.१०.४१।

४. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग २, पृ. २८, १.८.३७।

५. इं. रे. ए., वॉ. १२, पृ. १९७।

सिद्धि प्रदान करनेवाले मंत्रादि को अपनी अनुज्ञा दी थी। बुद्ध ने, बाद में, धान्यकटक में कुछ चुने हुए लोगों को वज्रयान का उपदेश किया, क्योंकि लौकिक जनों में इसे ग्रहण करने की शक्ति नहीं थी। ऐसा मानने वालों का मंतव्य संभवत: यही था कि इस प्रकार की साधना में साधकों का श्रेणीविभाग आवश्यक है। बौद्ध धर्म में यद्यपि यह दीक्षा तत्त्व और श्रेणीविभाग तत्त्व बहुत स्पष्ट रूप में नहीं दिखाई देता, फिर भी वहाँ आचारादि के नैतिक विधानों में भेद आवश्यक कर दिया गया है। पंचशील और दशशील का भेद इसी दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। भिक्षु तथा सामान्य गृहस्थ के बौद्ध नियमों में अन्तर देखा गया था। बौद्ध के प्रव्रज्या लेने को भी दीक्षा लेने का एक प्रकार ही मानना चाहिए। अनुमान है कि जैसे बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई, उसी के साथ बौद्ध भिक्षु और गृहस्थ के अन्तर भी बढ़ते गए होंगे।

महायान के बौद्ध भिक्षुओं में मंत्रमुद्रादि तत्त्व अन्य तांत्रिक साधकों के प्रभाव से प्रविष्ट हुए होंगे। बाद में प्रव्रज्या और विहार में रहकर भिक्षु जीवन व्यतीत करने के नियम और तत्त्व ने दीक्षा या सेक या अभिषेक का रूप धारण कर लिया होगा। वज्रयान ने इस दीक्षा या अभिषेक तत्त्व को अत्यधिक महत्ता दी; क्योंकि पंचमकारों के सेवन और षट्कर्म या आभिचारिक कर्मसाधन के लिए ऐसा करना आवश्यक था। इसीलिए अद्वयवज्र ने इस वज्रयान को मंत्रनय कहते हुए उसकी साधना को अत्यधिक गंभीर माना है। इसे तीक्ष्णेन्द्रियाधिकार साध्य कहा गया है।[१] इन आधारों पर गुरु-तत्त्व की महती प्रतिष्ठा हुई। पहले ही शास्ता गुरु-रूप में प्रतिष्ठित थे। अब महत्ता और बढ़ गई। यदि मंत्रयान, वज्रयान और सहजयान की सभी रचनाओं का विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मकाण्डीय विधान, पंचमकारों की प्रत्यक्ष साधना और अन्तस्साधनात्मक योगसाधन का एक क्रम हमें इन तांत्रिक ग्रंथों में मिल जाता है। यदि इन्हें शैवों एवं शाक्तों में प्रचलित क्रमश: पश्वाचार, वीराचार और दिव्याचार की कोटि में रखा जाय तो तांत्रिक बौद्धदर्शन के अधिकारभेदभाव का स्वरूप हमारे सामने आ जाता है। इसकी पुष्टि संधाभाषा में लिखित विशिष्ट रचनाओं में भी हो जाती है, जिन्हें आभिप्रायिक वचन कहा जाता है।

तांत्रिक बौद्ध धर्म का क्रियातंत्र, चर्यातंत्र आदि में विभाजन इसी अधिकार-भेदभाव पर आधारित मालूम होता है। डॉ. भट्टाचार्य ने यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार हिन्दू तंत्रों में दक्षिणाचार और वामाचार नामक दो विभाग स्वीकृत किए गए हैं, उसी प्रकार बौद्ध तंत्रों में क्रियातंत्र और चर्यातंत्र को दक्षिणाचार में तथा योगतंत्र और अनुत्तरयोगतंत्र को वामाचार में गिना गया है।[२] दक्षिणाचार में पूर्ण कठोर ब्रह्मचर्य, नियमित भोजन, नियमित पान आदि की प्रधानता होती है। जब साधक इस आचार में पूर्ण कुशल हो जाता है, तभी वह वामाचार में दीक्षित होने का अधिकारी होता है। इस वामाचार में वामा या शक्ति या नारी को आचार साधन का अनिवार्य उपकरण माना जाता है। योगतंत्र में नारी को आवश्यक साधन के रूप में व्यवहृत किया जाता है। अनुत्तरयोगतंत्रयान की साधना, इस क्रम में, भावप्रधान साधना मालूम होती है।

---

१. *अद्वयवज्रसंग्रह*, शास्त्री, पृ. २१ '...तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते।'

२. *इं. बु. ए.*, भट्टाचार्य, पृ. ६५।

ऊपर जो संप्रदाय-विवेचन किया गया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि लगभग ७वीं शताब्दी के पूर्व तक जिस प्रकार की साधना प्रचलित थी, जिसका प्रामाणिक पता महायान के सूत्रों से हमें मिलता है, दक्षिणाचार की थी। अर्थात् उस समय क्रियातंत्र और चर्यातंत्र पर ही विशेष जोर दिया जाता था। यदि वामाचार और दिव्याचार की कोई साधना प्रचलित रही होगी तो उसका कोई प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं है। ७-८वीं शताब्दी के ग्रंथ वामाचार की पंचमकार-समन्वित साधना की ओर संकेत करते हैं। बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं में भावसाधना अथवा दिव्यसाधना का प्रकाश मिलता है। राहुलजी ने इसी तथ्य को अपने ढंग से व्याख्यात करते हुए कहा है कि सिद्धों ने भाषा में कविता करके यद्यपि अपने विचारों को जनता के समझने लायक बना दिया, तथापि डर था कि विरोधी उनके आचारविरोधी कर्मकलाप का खुलेआम विरोध कर कहीं जनता में घृणा का भाव न पैदा कर दें; इसीलिए वह एक तो विशेष योग्यताप्राप्त व्यक्तियों को ही सुनने का अवसर देते थे, दूसरे भाषा भी ऐसी रखते थे, जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार दोनों में लग जाए।[१] प्राचीन बौद्ध धर्म में पृथग्जन के उपरान्त साधक की तीन अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है—स्रोतापन्न, सकृदागामी और अनागामी। ये तीनों ही प्रकारान्तर से अधिकार-भेदभाव की ओर संकेत करते हैं। इससे स्पष्ट है कि तांत्रिक बौद्ध सिद्ध अधिकार-भेदभाव के सर्वसामान्य तांत्रिक सिद्धांत को स्वीकार करते थे।

इस सिद्धांत में क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म साधनाधिकार को आयत्त करने पर विशेष बल दिया गया है। अर्थात् बाह्य साधना से क्रमशः अन्तस्साधना की ओर अग्रसर होने का विधान है। जब तांत्रिक बौद्धों ने अपनी साधना को तीक्ष्णेन्द्रिय—अधिकार-साध्य माना तो उनकी दृष्टि में प्रमुख रूप से अन्तस्साधना ही थी। इस अन्तस्साधना का मूलाधार सिद्धांत है—पिण्डब्रह्माण्डवाद। इसका सामान्य अर्थ है—जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है अथवा पिण्ड या मानव-शरीर ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त रूप है। जो तत्त्व विश्वात्मक हैं, वे ही मानव शरीरगत भी हैं। चित्त को योगाचारमत के अनुसार विश्वात्मक और साथ ही प्रज्ञोपायात्मक माना गया था। यह, तदनुरूप, व्यक्तिचित्तगत भी था। प्रज्ञा और हेरुक के संयुक्त रूप युगनद्ध का मनोशारीरिक रूप भी स्वीकृत हो गया था। यह कहा जा चुका है कि शक्तिमार्ग आत्मा का मार्ग है तथा शिवमार्ग शरीर का। इसी सिद्धांत के अनुसार वज्रयान इस शरीर को सभी सत्यों का आश्रय मानता है। संपूर्ण विश्व के सत्य इसी शरीर में निवास करते हैं।

यह शरीर संसार से विषम नहीं है। नदी, पर्वत, समुद्र आदि शरीर के विभिन्न भागों में स्थित है। इसी सिद्धांत के आधार पर तांत्रिक बौद्धों ने कमलों, चक्रों और नाड़ियों की कल्पना की है। शरीर का मेरुदण्ड बाह्य विश्व में स्थित मेरुपर्वत है। तांत्रिक बौद्धों ने शरीरस्थ निर्माणकायचक्र, संभोगकायचक्र, धर्मकायचक्र और उष्णीष-कमलचक्र या सहस्रारचक्र नाम के चार चक्रों की कल्पना उपर्युक्त वैश्वकायों के अनुरूप की। हेरुकतंत्र

१. *पुरातत्त्व निबन्धावली*, राहुल सांकृत्यायन, पृ० १६०।

के अनुसार महासुखकमल में चार आर्यसत्यों के प्रतीक चार दल हैं।[१] श्री संपुट में चार चक्रों का संबंध इन चार मुद्राओं के साथ जोड़ा गया है—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा तथा समयमुद्रा। ये मुद्राएँ पुनः चार स्कन्धों की अधिष्ठात्री देवियों (लोचना-पृथ्वी, मामकी-जल, पांडरा-अग्नि और तारा-वायु) से संबद्ध कर दी गई हैं।[२]

इसी प्रकार नाड़ियों की भी कल्पना मिलती है। सरहपाद ने यह स्पष्ट घोषणा की थी कि सहजामृत रस या सहजसुख या महासुख अनिर्वचनीय है और सभी प्राणियों और पदार्थों में व्याप्त है।[३] पहले ही यह कहा जा चुका है कि महासुख को धर्मकाय के समान माना गया था। इसी सिद्धांत का परिपालन करते हुए सरहपाद कायातीर्थ की साधना करने के लिए कहते हैं। बाहर के तीर्थ इस शरीर के तीर्थ से निकृष्ट हैं।[४] योगाचारवादी चित्त को स्वीकृति देने के बाद तांत्रिक बौद्ध दर्शन में यह स्वीकार कर लिया कि बाहरी सामग्रियों से बोधिचित्तोत्पाद असंभव है। बाहरी सामग्रियों के स्थान पर शरीर के अन्दर सामग्रियों और साधनों की कल्पना की गई। इसका विस्तृत विवेचन आगे साधनाविवेचन के परिच्छेद में किया गया है। इस प्रकार इस सिद्धांत को ही ध्यान में रखकर काया की महत्ता स्वीकार की गई। हेवज्रतंत्र के अनुसार तो इस देह के अभाव में सौख्य का भी अभाव रहता है।[५] इसी सिद्धांत के आधार पर बौद्ध सिद्धों ने बाह्याडम्बर का घोर विरोध और खण्डन किया। सरहपाद ने कहा था कि इस काया में ही गंगा-यमुना, गंगासागर, प्रयाग, वाराणसी, पीठ, उपपीठ, परमतत्त्व सभी कुछ हैं। बाहर जाने की कोई आवश्यकता नहीं।[६] इस प्रकार महायान के तात्त्विक सिद्धांत वज्रयान में काया में व्यवस्थित कर लिए गए।

तांत्रिक बौद्ध दर्शन में जिन सिद्धांतों और विचारधाराओं का विकास हुआ वे मूल रूप में हमें सरहपाद की संस्कृत और अपभ्रंश रचनाओं में भी दिखाई पड़ती हैं। उन्होंने अपने ग्रंथों में कापालिक तत्त्वों का विस्तार किया है। माध्यमिक मत एक प्रकार से अनिर्वचनीयतावादी है। राहुलजी के अनुसार योगाचार मत अद्वैतवादी है। हम पहले भी इसका प्रतिपादन कर चुके हैं। योगाचार मत विज्ञान और विज्ञान-सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होने वाले संसार को भिन्न नहीं मानता; किन्तु राहुलजी सरह के दार्शनिक मत के विषय में एक स्थिर मत व्यक्त नहीं कर पाते। एक स्थान पर वे उनका संबंध माध्यमिक और योगाचार दोनों से मानते हुए भी अद्वैत तत्त्व की महिमा गाने के कारण उनका झुकाव योगाचार दर्शन की ओर अधिक मानते हैं। दूसरे स्थान पर शून्य और आलय दोनों का

---

१. *ऐन इं. तां. बु.*, पृ. १६१-१६५; *सेकोद्देशटीका*, पृ. २८, 'चतुर्दलोष्णीष...।'

२. *वही*, दासगुप्त, पृ. १६१-१६५।

३. *हिन्दी काव्यधारा*, राहुल सांकृत्यायन, पृ. २; *जर्नल ऑव दि डिपार्टमेंट ऑव लेटर्स*, कलकत्ता विश्वविद्यालय, वॉ. २८, सरहपदीय दोहाकोष, ५.२, ७.३, ५.९, ८.१०।

४. *ज. डि. ले.*, वॉ. २८, पृ. १६, दो. ५६।

५. *हेवज्रतंत्र*, भाग २, पृ. ४८, २.२.३५—'देहाभावे कुतः सौख्यम्।'

६. *आ. रे. क.*, पृ. ८९-९०; सरह का दोहाकोष—'एत्थु से...... गंगा साअरु'।

प्रतिपादन करने के कारण वे सरह को योगाचार—माध्यमिक ही मानते हैं। तीसरे स्थान पर परमपद को शून्य निरंजन कहने के कारण वे उन्हें शून्यवादी मानते हैं।[१] राहुलजी ने इस प्रसंग में शांकर अद्वैत अथवा कश्मीर शैव अद्वैत की चर्चा तक नहीं की।

३. सिद्धाचार्यों का आध्यात्मिक कापालिक चिन्तन

पिछले विवेचन में हमने तांत्रिक बौद्ध विचारधारा का अध्ययन करने के लिए विभिन्न वज्रयानी एवं सहजयानी संस्कृत ग्रंथों को आधार बनाया था किन्तु बौद्ध कापालिक आम्नाय के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हेवज्रतंत्र के अध्ययन से कुछ अन्य निष्कर्ष निकाले गए हैं। राहुलजी के उपर्युक्त मतों से कुछ भिन्न और स्थिर मत स्नेलग्रोव ने व्यक्त किया है। उन्होंने परमतत्त्व संबंधी योगाचार और माध्यमिक मतों के विचारों का पर्यालोचन करने के बाद निष्कर्ष निकाला है। माध्यमिक मत की दृष्टि से शुद्ध अनुभूति की स्थिति में निर्वाण और संसार में तनिक भी भेद नहीं रहता, जबकि योगाचार मत इसे स्वीकार नहीं करता। स्नेलग्रोव की दृष्टि में (बौद्ध) तंत्रों की मूलाधारात्मक दार्शनिक स्थिति माध्यमिक है। यह न तो निर्वाण और संसार में भेद मानता है और न आध्यात्मिक और सांसारिक अनुभूति में ही। सभी साधनों की अनुरूपता साधक की आवश्यकता क अनुरूप होती है। बौद्ध तंत्रों को इन्हीं सिद्धांतों के कारण कुछ सीमा तक गंभीर परिणाम भोगने पड़े; किन्तु इनके नियंत्रण में योगाचार ने अपनी पारम्परिक प्रवृत्तियों से योगदान किया। इस प्रकार विचार करते हुए भी स्नेलग्रोव अन्ततः यह मानते हैं कि यह संपूर्ण तांत्रिक बौद्ध आंदोलन बौद्ध ही रहा। इसका प्रमाण परवर्ती विकास से मिलता है।[२] हेवज्रतंत्र में उपर्युक्त आधारभूत दार्शनिक विचारधाराओं को स्वीकार कर लिया गया है जिसके अनुसार तत्त्व (परमतत्त्व अथवा परमसत्व) न रूप है न द्रष्टा, न शब्द है न श्रोता, न गन्ध है न घ्राता, न रस है न रासक, न स्पर्श है न स्पष्टा, न चित्त है न चैत्तिक।[३] कृष्णपाद ने योगरत्नमाला में इसकी विस्तृत व्याख्या की है जिसमें उन्होंने नागार्जुनपाद के एक श्लोक को उद्धृत किया है—

चित्तमात्रं इदं सर्वं इति या देशना मुनेः।
उत्त्रासपरिहारार्थं बालानां सा न तत्त्वतः॥[४]

इसके आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि 'यह सब चित्तमात्र है' यह वाक्य बालबुद्धि वालों के भय को दूर करने के लिए कहा जाता है, जबकि यह ऐसा नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया प्रतीत होता है कि कृष्णपाद जहाँ तक परमतत्त्व के स्वरूप का प्रश्न है, योगाचार मत को स्वीकार नहीं करते और उन्होंने सरहपाद के वाक्यों को इसी अर्थ में ग्रहण किया है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि कृष्णपाद की दृष्टि में सरहपाद माध्यमिक मत के अनुयायी थे। स्नेलग्रोव ने काय,

---

१. *दोहाकोष,* राहुल सांकृत्यायन, भूमिका, पृ. ३२-३६।
२. *हेवज्रतंत्र,* भाग १, इंट्रो, पृ. १९-२०।
३. *वही,* भाग २, पृ. १४, १.५.१।
४. *वही,* भाग २, पृ. ११६, १.५ की टीका (योगरत्नमाला) में उद्धृत।

वाक् और चित्त की एकता (त्रिभवस्यैकता) तथा निर्वाण और संसार की एकता के सिद्धांत को ध्यान में रखकर आगे स्पष्ट किया है कि इस एकता की अन्य आत्मा संबंधी सिद्धांतों से तथा विशेषकर परवर्ती वेदांत से अभिन्नता स्पष्ट है। इसके साथ ही यह सिद्धांत माध्यमिक सिद्धांत के मूलतत्त्व का भी प्रतिनिधित्व करता है और उनके दार्शनिक पदों का प्रयोग कर उसके साथ अपने सघन संपर्क को सुरक्षित रखता है। कृष्णपाद ने हेवज्रतंत्र के उपर्युक्त श्लोकों पर जो टीका लिखी है, उससे भी इसकी स्थिति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।[१] एक दूसरे स्थल पर हेवज्रतंत्र में स्पष्ट किया गया है—

पौषधं दीयते प्रथमं तदनु शिक्षापदं दशम्।
वैभाष्यं तत्र देशत सूत्रान्तं वै पुनस्तथा॥९॥
योगाचारं ततः पश्चात् तदनु मध्यत्मकं दिशेत्।
सर्वमन्त्रमयं ज्ञात्वा तदनु हेवज्रं आरभेत्।
गृह्णीयात् सादरं शिष्यः साधयते नात्र संशयः॥१०॥[२]

नैरात्म्या के यह पूछने पर कि दुर्दान्त और दुन्दुर (?) प्राणियों को किस प्रकार विनयानुकूल बनाया जाय, भगवान् हेवज्र ने कहा—सर्वप्रथम उन्हें पोषण (उपोसथ) देना चाहिए, तदुपरांत क्रमशः दशशिक्षा (दशशील शिक्षा), वैभाषिकोपदेश, सौत्रांतिकोपदेश, योगाचारोपदेश और अन्त में माध्यमिक का उपदेश करना चाहिए। इसके बाद जब वे सम्पूर्ण मंत्रनय को जान लें, तब उन्हें हेवज्रसाधन का आरम्भ करना चाहिए। इन्हें सादर ग्रहण कर शिष्य निश्चय ही सिद्धि की प्राप्ति करेगा।[३] इसका स्पष्टार्थ यह है कि हेवज्रसाधन में अग्रसर होने वाले व्यक्ति के लिए चारों बौद्ध दर्शनों में और साथ ही मंत्रनय में भी निपुण होना चाहिए। श्लोकों के प्रसंग से स्पष्ट है कि ये विधान पृथग्जन के लिए ही उपदिष्ट हैं। इन चारों दर्शनों में से किसी एक के प्रति, योगाचार अथवा माध्यमिक के प्रति, कम से कम इस प्रसंग में हेवज्रतंत्रकार का कोई आग्रह नहीं है। यह अनुमान किया जा सकता है कि ग्रंथकार ने जो चारों दर्शनों के सर्वान्त में माध्यमिक मत को स्थान दिया है, उससे इस मत की ग्रंथकार की दृष्टि में विशेष आवश्यकता भासित होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से योगाचार मत को ही अन्तिम स्थान मिलना चाहिए था जो ग्रंथकार ने नहीं दिया। अतः माध्यमिक की विशेष उपयोगिता ग्रंथकार को प्रतीत होती है।

इस संबंध में एक बात और कही जा सकती है। तांत्रिक साधन में शक्तितत्त्व की महत्ता सर्वविदित है। अतः शून्यता अथवा प्रज्ञा को परमतत्त्वीय रूप प्रदान करने वाले माध्यमिक मत को यदि महामुद्रासाधन के प्रचारक ग्रंथकार ने प्राधान्य दिया तो वह उसके लिए स्वाभाविक ही था। दूसरी ओर इस महासुखमयी प्रज्ञा को भी प्राप्त करने का उपाय तो चित्त का योगसाधन ही है। इस दृष्टि से योगाचार की भी महत्ता स्वीकार की जानी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त श्लोक में दार्शनिक मतों और सिद्धांतों का उल्लेख

---

१. *हेवज्रतंत्र,* भाग १, इंट्रो., पृ. २८।

२. *वही,* भाग २, पृ. ९०,२.८.९-१०।

३. *वही,* भाग १, पृ. ११६ उपर्युक्त श्लोकों का आंग्लानुवाद।

साधनक्रम को ध्यान में रखते हुए किया गया है इसीलिए चित्तसाधन के बाद प्रज्ञोपलब्धि का क्रम उससे संकेतित होता है। अत: निष्कर्षत: यह कहना ही समीचीन है कि सब मिलाकर हेवज्रतंत्र बौद्ध है और वह माध्यमिक और योगाचार दोनों मतों के सिद्धांतों का साधनात्मक उपयोग समीचीन मानना है। राहुल सांकृत्यायन और स्नेलग्रोव के मतों में जो विरोध और वैभिन्य दिखाई पड़ता है, वह भी अवश्य विचारणीय है। सरह को राहुलजी विज्ञानवादी और माध्यमिक दोनों मानते हैं और उन्हें ही स्नेलग्रोव मुख्यत: माध्यमिक मानते हैं। दोनों ने सरहपाद की रचनाओं को आधार मानकर अपना मत स्थिर किया है। अत: दोनों के मतवैभिन्य का आधार यह प्रतीत होता है कि राहुलजी ने सरहपाद की अपभ्रंश रचनाओं के आधार पर अपना मत स्थिर किया है और स्नेलग्रोव हेवज्रतंत्र (संस्कृत) ग्रंथ के आधार पर अपने निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

हेवज्रतंत्र की कृष्णाचार्यपाद कृत टीका योगरत्नमाला में तांत्रिक बौद्ध दर्शन की अनेक विचारधाराएँ व्याख्यात मिलती हैं। कृष्णाचार्यपाद की कापालिकता की हम अनेकश: चर्चा कर चुके हैं। इस ग्रंथ में बोधिचित्त उसे कहा गया है जिसके द्वारा बोधि की प्राप्ति होती है। इसके द्वारा सभी धर्मों (पदार्थों) के अनुत्पाद का ज्ञान होता है।[१] यह बोधिचित्त प्रज्ञोपायात्मक है। सभी प्राणियों में आत्मवत् समचित्तता कृपा है। इसे ही परमोपाय कहते हैं। यह सम्यक् संबोधि प्राप्त करने का उपाय है। मुद्रा प्रज्ञा है। यह शून्यता है। सभी धर्मों या पदार्थों का अनुत्पाद ही शून्यता है। यह अनुत्पादलक्षणा शून्यता ही परमा प्रज्ञा है। प्रभास्वर लक्षण पारमार्थिक बोधिचित्त इनकी अभिन्नता से अभिन्न है।[२] इस प्रकार बोधिचित्त प्रज्ञोपायात्मक है और विज्ञानवादी बोधिचित्त से अपनी अभिन्नता स्थापित करता है। इसी बोधिचित्त के विवृत और संवृत दो रूप बताए गए हैं। संवृत चित्त कुण्ड सदृश है और विवृत चित्त सुखरूप है। बोधिचित्त में इन दोनों की अभिन्नता है। इसे धर्मसंभोगकाय स्वभाव वाला भी कहा गया है अर्थात् यह बोधिचित्त धर्मकाय और सम्भोगकाय के अद्वयस्वभाव का है। यह संवृत्ति और परमार्थ के अद्वय, उत्पत्ति और उत्पन्नक्रमरूप है।[३] इसे ही हेवज्र भी कहा गया है। हेकार से महाकरुणा का तथा वज्र से प्रज्ञा का द्योतन होता है। इस प्रकार यह प्रज्ञोपायात्मक है। बोधिचित्त की तरह ही हेवज्र अथवा वज्रधर भी धर्मसम्भोग रूप है।[४] वज्रसत्व की भी इसी प्रकार व्याख्या की गई है जिसमें वज्र की व्याख्या में वज्रशेखर के प्रसिद्ध श्लोक 'दृढ़ं सारं असौशीर्यं' को उद्धृत कर सत्ता को त्रिभव की एकता कहा गया है। यहाँ त्रिभव हैं—काय, वाक् और चित्त। इनकी एकता ही अद्वैतभाव है।[५] इसी प्रकार अनेक स्थलों पर कृष्णपाद ने बोधिचित्त का

---

१. *हेवज्रतंत्र,* भाग २, योगरत्नमाला, पृ. १४५, २.३।

२. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, पृ. १३५, १.१०।

३. *वही,* पृ. १०३-१०४।

४. *वही,* पृ. १०४, १०३—'हेकारेण महाकरुणा वज्रं प्रज्ञा च भण्यते। प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं तन्मे निगदितं शृणु।' 'धर्मसम्भोगरूपत्वं वज्रधरस्य लक्षणम्।'

५. *वही,* पृ. १०४-१०५—'दृढ़ं सारमसौशीर्यं अच्छेद्याभेद्यलक्षणम्। अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते।'

स्वभाव शून्यता और करुणा के अद्वयत्व के रूप में बताया है।[१] प्रज्ञा और उपाय के द्वयाभास का राहित्य ही अद्वय है।[२] 'एवं' शब्द की भी इसी प्रकार की यौनयौगिक व्याख्या मिलती है जिसके अनुसार एकार भग है और वंकार कुलिश अथवा वज्र।[३]

सहजयान सहज को परमतत्त्वस्थानीय मानता है। इस तत्त्व की योगरत्नमाला में पर्याप्त प्रतिष्ठा है। आध्यात्मिक प्रज्ञोपाय से सहज ही उत्पन्न अनास्रवलक्षण तत्त्व सहज है। इसे परमार्थ शब्द से अभिहित किया जाता है।[४] सर्वधर्मप्रकृति, तथता, भूतकोटि स्वभाव आदि इसके पर्याय हैं।[५] हेवज्रतंत्र में ही संपूर्ण संसार को सहज कहा गया है; क्योंकि इस जगत् का स्वरूप ही सहज है। यह स्वरूप भी निर्वाण ही है। विशुद्ध चित्त में इसकी स्थिति रहती है। इसी की व्याख्या में योगरत्नमाला में कहा गया है कि सभी धर्मों की प्रकृति सहज है। संपूर्ण जगत् सहजमय है। इस प्रकार विशुद्ध चित्त अथवा बोधिचित्त, सहज और निर्वाण को एक ही कहा गया है।[६] यह सहज तत्त्व अकथनीय है। किसी के द्वारा इसका कथन नहीं किया जा सकता और न किसी में यह प्राप्त किया जा सकता है। इसका तो पुण्य से, अपने से (अथवा आत्मा से) अथवा गुरुचरणों की सेवा से ज्ञान होता है।[७] इस प्रकार हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला दोनों में सहज का परमतत्त्वीय रूप स्वीकृत है।

तांत्रिक बौद्ध दर्शन की और भी अनेक विचारधाराओं का परिचय हमें योगरत्नमाला में मिलता है। ऊपर यह बताया गया है कि विशुद्ध चित्त के लिए यह जगत् सहजमय है किन्तु अशुद्ध चित्तवालों के लिए यह जगत् स्वप्नवत् है और ठीक उसी प्रकार है जैसे स्वप्नवत् चित्त नाना प्रकार से भासित होता है। यह गन्धर्वनगर अथवा हरिश्चन्द्रपुरी है। इससे निष्प्रपंच होने के लिए कहा गया है। यह जगत् आधार-आधेय-लक्षण है अर्थात् आधार और आधेय की नानाप्रकारता, प्रपंचता इसमें बनी रहती है।[८] उपर्युक्त विचारधाराओं का यौन-यौगिक रूपान्तर भी पर्याप्त मात्रा में इस ग्रंथ में मिलता है जिसके अनुसार देहगत नाड़ियाँ बोधिचित्त का वहन करती हैं अर्थात् वे सहजवाहिनी हैं। स्वयं हेवज्रतंत्र में ही कहा गया है कि बोधिचित्त का वहन करने वाली ३२ नाड़ियाँ महासुखस्थान की ओर प्रवाहित होती हैं।[९] उपाय को शुक्राकार एवं प्रज्ञा

१. *हेवज्रतंत्र*, स्नेलग्रोव, पृ. १०९—'शून्यताकरुणाद्वयस्वभावं बोधिचित्तम्।'
२. *वही*, पृ. १४३—'अद्वयं प्रज्ञोपायद्वयाभासरहितम्।'
३. *वही*, पृ. १०३—'एकारं भगमित्युक्तं वंकारं कुलिशस्मृतम्।'
४. *वही*, पृ. १३५—'आध्यात्मिक प्रज्ञोपायाभ्यां सहजाभ्यां यद् उत्पन्नं अनाश्रवलणं तत्सहजम्।' अथवा—'आध्यात्मिक प्रज्ञोपायजनितं सहजम्।'
५. *वही*, पृ. १३५—'सर्वधर्माणां प्रकृतिस्थता, भूतकोटिः स्वभाव इति पर्यायाः।'
६. *वही*, भाग २, पृ. ५०, २.२.४४। *योगरत्नमाला*, पृ. १४०।
७. *वही*, भाग २, *योगरत्नमाला*, पृ. ११०—'नान्येन कथ्यते सहजं न कस्मिन्नपि लभ्यते। आत्मना ज्ञायते पुण्याद् गुरुसेवया।'
८. *वही*, *योगरत्नमाला*, पृ. १३८।
९. *वही*, भाग २, पृ. ४, १.१.१३।

को तज्जनित सुख कहकर हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला दोनों ने यौन-यौगिक साधना के सिद्धांत की ओर संकेत कर दिया है।[१] राग तत्त्व का महायान दर्शन और साथ ही तांत्रिक बौद्ध दर्शन में पर्याप्त महत्त्व स्वीकृत है। हेवज्रतंत्र में इस तत्त्व से संबंधित एक अत्यन्त प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण श्लोक मिलता है जो तांत्रिक बौद्ध साधना के योगभोगैक्य सिद्धांत का मूलाधार है। महायान में चित्त की प्रतिष्ठा है ही और आगे चलकर यह भी सिद्ध कर दिया गया है कि चित्त ही बंधन में पड़ता है, चित्त ही मुक्त होता है। ठीक इसी प्रकार राग के संबंध में भी हेवज्रतंत्र में कहा गया है कि राग से ही लोक बंधन में पड़ता है और राग से ही लोक मुक्त होता है। तांत्रिक दर्शन के इस राग तत्त्व के विपरीत कर्मत्व को बुद्धतीर्थिक लोग नहीं जानते।[२] हेवज्रतंत्र केवल राग के ही विषय में इस प्रकार का विचार व्यक्त नहीं करता अपितु विष, जल, वायु, अग्नि के संबंध में भी उसका यही मत है। किंबहुना, संसार के सभी पदार्थों के संबंध में भी विश्वजनीन साधनात्मक सिद्धांत की घोषणा करता है कि जिन-जिन रौद्र कर्मों से संसार के प्राणी बंधन में पड़ते हैं, उन्हीं उपायों से लोग भवबंधन से मुक्त होते हैं।[३] कृष्णवज्रपाद ने इसकी टीका में इसे विस्तार से स्पष्ट किया है। वस्तुतः धर्मसम्भोगकायवाद या प्रज्ञोपायवाद अथवा शून्यताकरुणावाद की तरह ही यह योगभोगवाद भी है और ये सभी एक ही सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। इसकी व्याख्या में कृष्णपाद का कथन है कि राग का अर्थ क्लेश है। इनकी दग्धता रागाग्नि से ही होती है। प्राणाभिघातादि ही रौद्रकर्म है। इनसे मुक्ति का उपाय है महाकरुणा। सहजराग के द्वारा ही लौकिक राग से मुक्ति होती है। इसकी विपरीतरूपता को श्रावकादि बुद्धतीर्थिक नहीं जानते। इस प्रकार वे महासुखभावना भी नहीं कर पाते। ये बुद्धतीर्थिक भगवान् के शासन (उपदेश) के साररूप वज्रयान से विद्वेष करते हैं।[४] इस प्रकार यह राग सिद्धांत एक प्रकार से महायान का महाकरुणा का सिद्धांत है जिसका योगभोगवादात्मक यौन-यौगिक विकास तांत्रिक बौद्ध दर्शन में हुआ। हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला के इस युगपत दार्शनिक विचार से यह स्पष्ट होता है कि महायानी एवं योगाचारवादी बोधिचित्त का विविधरूपात्मक विकास इस रूप में तांत्रिक बौद्ध दर्शन में हुआ।

कृष्णाचार्यपाद का एक और संस्कृत ग्रंथ है वसंततिलक जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इस ग्रंथ में बुद्ध को निर्विकल्पत्व से और जगत् को सविकल्पत्व से

---

१. *हेवज्रतंत्र,* भाग २, पृ. ३०, १.८.५० तथा *योगरत्नमाला,* पृ. १२९—'भगवान् इति काय-द्वयसंग्राहक उपाय युक्तः तत् सुखं इति यत् तत् सुखं खसमं ज्ञानं उक्तं तत् कामिनी प्रज्ञेत्यर्थः।......उपायभागः शुक्राकारः।'

२. *वही,* भाग २, पृ. ५०, २.२.५१, 'रागेन बध्यते लोको रागेनैव विमुच्यते। विपरीत भावनाह्येषा न ज्ञाता बुद्धतीर्थिकैः॥'

३. *वही,* पृ. ५०, २.२.४६-५०, 'येनैव विषखण्डेन म्रियंते सर्वजन्तवः। तेनैव विषतत्वज्ञो विषेण स्फोटयेद विषम्॥'४६॥ '...येन येन हि बध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा। सोपायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भवबन्धनात्॥५०॥'

४. *वही, योगरत्नमाला,* पृ. १४०-१४१।

जानने को कहा गया है। इनके सुविशुद्ध परिज्ञान से देवत्व एवं मुनीश्वरत्व (बुद्धत्व) की प्राप्ति बताई गई है।[१] इसमें उपास्य के रूप में वसन्ततिलक स्वीकृत है और प्रज्ञोपायात्मक पद्धति से उनका स्वरूप-वर्णन किया गया है। प्राणियों की देह में वसंत (देवता) उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार हुंकारप्रभव बीज होता है और सर्वसार रूप रस होता है। उसी प्रकार वडवानलरूप वाराही तिलका के रूप में स्मरण की जाती है। यह शरीर में नाभिमण्डल में कर्म्ममारुत से निर्द्धूत होकर जलती हुई विद्यमान है। इसके पति हैं वसन्त जिनसे आश्लिष्ट होकर यह अवस्थित रहती है। इसीलिए वीर श्री हेरुक को वसन्ततिलक के रूप में स्मरण किया जाता है।[२] इस ग्रंथ में हेरुक के विराट् रूप की भी कल्पना मिलती है जो अन्यत्र दुर्लभ है, साथ ही पिण्डब्रह्माण्डवाद की स्वीकृति की ओर संकेत करता है। सिर में मलयपीठ, शिखा में जालन्धर पीठ, दक्षिण कर्ण में ओडियान नाम का महापीठ अवस्थित है। इसी प्रकार हेरुककाय में अर्बुद, गोदावरी, रामेश्वर, देवीकोट, कामरूप, कलिंग जैसे पीठोपपीठों की अवस्थिति बताई गई है।[३] यह ग्रंथ यह भी मानता है कि बुद्धत्व अन्यत्र नहीं, इसी शरीर में स्थित है। इसी प्रकार पीठ-उपपीठ, क्षेत्र-उपक्षेत्र, संदोह-उपसंदोह, श्मशान-उपश्मशान सभी सभी इसी शरीर में स्थित हैं। देह से अन्यत्र बुद्धत्व को मानने वाले मत वृथा हैं।[४] इस प्रकार यह वसंततिलक ग्रंथ तांत्रिक बौद्ध दर्शन के प्रज्ञोपायवाद और पिण्डब्रह्माण्डवाद नामक दो प्रधान सिद्धांतों का व्याख्यान करता है। पहले ही कहा गया है प्रज्ञोपायवाद वस्तुतः मूलभूत सिद्धांत है और इसे स्वीकार करने पर बोधिचित्त, शून्यता, महासुख आदि के सिद्धांत भी स्वतः स्वीकृत हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि महायान दर्शन की अनेक विचारधाराएँ तांत्रिक बौद्ध दर्शन की विचारधाराओं के रूप में विकसित हुईं। इन्हीं का विस्तार कापालिक दर्शन में भी हुआ। उपर्युक्त विचारधाराएँ सरहपाद, जालन्धरपाद और कृष्णपाद की अपभ्रंश रचनाओं में भी विकसित एवं प्रकाशित होती दिखाई पड़ती हैं।

अपने प्रतिपाद्य की दृष्टि से सरहपाद का महत्त्व हम पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं। उनके आदिसिद्धत्व का भी हम व्याख्यान कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में उनकी अपभ्रंश रचनाओं का विशेषकर उनके दोहाकोष का महत्त्व, कम-से-कम तांत्रिक बौद्ध दर्शन की दृष्टि से, असंदिग्ध है। सरपाद के अनुसार मंत्र, तंत्र, ध्येय और धारण—ये

---

१. *वसंततिलकम्,* हस्तलेख, रा. अ., सं. ५९८, प्रथम पटल।

२. *वही,* चतुर्थ पटल—'हुंकारप्रभवं बीजं सर्वसाररसं तथा। वसन्तमिति विख्यातं देहिनां हृदिनन्दन॥ वडवारूपाहि वाराहि तिलका स्मृता। कर्म्ममारुत निर्द्धूता ज्वलति नाभिमण्डले। वसन्तेनापि पतिना समाशेष (समाश्लेष) अवस्थिता। तस्माच्छ्री हेरुको वीर वसन्ततिलक स्मृतः।'

३. *वही,* नवम पटल—'शिरोमलयपीठस्तु शिखाजालन्धरस्तथा। ओड्यायन महापीठ दक्षिणे कर्ण उच्यते।' तथा आगे

४. *वही,* दशम पटल—'स्वदेहे चैव बुद्धत्वस्थितं नान्यत्र कुत्रचित्। देहादन्यत्र बुद्धत्वं भेदेन वृथा मतं॥' तथा आगे

सभी विभ्रम उत्पन्न करने वाले हैं। इनसे उत्पन्न भ्रांति के कारण दुःख का अनुभव करना पड़ता है। इसीलिए वे इस निर्मल चित्त को ध्यान से लिप्त करने का निषेध करते हैं। अद्वयवज्र ने टीका में इस प्रसंग में दो प्रकार के चित्तों का उल्लेख किया है—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक चित्त विकल्पलक्षण है और लोकोत्तर चित्त निर्मल है, धर्मकायलक्षण और सहजस्वरूप है। इसे सुखमय ही रहने देना चाहिए।[१] यह चित्त जहाँ विश्राम करता है, वहाँ न तो मन का संचार है न पवन का। वहाँ न तो रवि का प्रवेश है न शशि का।[२] सब का बीज रूप यह एकमात्र चित्त ही है जिसका विस्फुरण भव और निर्वाण के रूप में होता है। इसीलिए यह चिन्तामणि रूप है जो इच्छानुसार फल प्रदान करता है। चित्त के बन्धन से ही सारा संसार बन्धन में पड़ता है और इसके मुक्त होने से ही सारा संसार मुक्त होता है, यह असंदिग्ध है। जड़ लोग जिस वस्तु से बन्धन में पड़ते हैं, बुद्धिमान लोग उसी से मुक्त होते हैं। चित्त ऐसा ही तत्त्व है। अद्वयवज्र ने यहाँ इच्छा का अर्थ जगदर्थसाधिका महाकरुणा किया है। चित्त के बन्धन का अर्थ है विकल्पों में बँधना। इसके परिज्ञान से मुक्ति होती है। मूर्ख और जड़ वे हैं जो कामभोगादि में बधे हुए हैं।[३] उपर्युक्त पंक्तियाँ हेवज्रतंत्र के उपर्युक्त उद्धृत श्लोकों का स्मरण कराती हैं। स्वयं अद्वयवज्र ने ही विषखण्ड-प्रयोग संबंधी हेवज्रतंत्र के श्लोक को इस प्रसंग में अपनी टीका में उद्धृत किया है।

चित्त के इस स्वरूपनिरूपण में यौनयौगिक साधना के संकेत मिलते हैं। सरहपाद ने संधाभाषात्मक शैली में इसे और स्पष्ट करते हुए बताया है कि बँधने पर यह दश दिशाओं में दौड़ता है और मुक्त कर देने पर निश्चल हो जाता है। इस प्रकार यह करभ की तरह विहार करता हुआ दिखाई पड़ता है।[४] चित्त की उक्त बद्धावस्था में जब चित्त विस्फुरण करता है, गमनभक्षणादि कार्य करता है तब तक चित्त की स्वरूपता नहीं है; किन्तु ज्ञान होने पर इस चित्त में भव और खसमरूप निर्वाण में उसी प्रकार अन्तर नहीं रहता जिस प्रकार नदी के जल और उसकी तरंग में।[५] इस चित्त को बोधि की प्राप्ति कहीं भी हो सकती है। घर और वन का कोई भेद इसके लिए नहीं है। चित्त की निर्मलस्वभावता ही प्रमुख है।[६] इस निर्मल स्वभाव वाले चित्त के लिए सब कुछ निरंतर बुद्ध ही है। इस चित्त में अपने और पराए की भावना नहीं रहती। यह परमस्वभावता ही बोधिचितता है। ऐसे ही अद्वय चित्त रूप तरुवर का संपूर्ण त्रिभुवन में विस्तार होता है। अद्वयवज्र ने इस तरुवर को कल्पवृक्ष कहा है। इसकी सर्वत्र अद्वय-भावना रहती है। महाकरुणारूपी पुष्प फलवत्ता को प्राप्त करता है। इस प्रकार सर्वत्र शुद्धत्व परिपूरित हो

१. *दोहाकोष,* बागची, पृ. २०, दो. २३, ए. ९२ टीका।
२. *वही,* बागची, पृ. २०, दो. २५।
३. *वही,* पृ. २४, दो. ४१-४२ तथा टीका।
४. *वही,* बागची, पृ. २४, दो. सं. ४३।
५. *वही,* पृ. ३१, दो. सं. ७२।
६. *वही,* पृ. ३८, दो. सं. १०४।

जाता है।[१] इस प्रकार चित्त का परमोच्च रूप और प्रज्ञोपायात्मक रूप सरह ने प्रस्तुत किया है जिससे यह प्रतीत होता है यह चित्त साधन भी है और साध्य भी। विज्ञानवादी चित्त की तरह सरह का भी चित्त अद्वय है। चित्त की इस महिमा को देखते सरह की विज्ञानवादिता अथवा योगाचारवादिता, जो अपेक्षाकृत अधिक संगत है, भासित होती है।

इस चित्त की प्रज्ञोपायता या अद्वयत्व का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसका प्रतिपादन अनेक स्थलों पर मिलता है। सरह का स्पष्ट कथन है कि शून्य तरुवर यदि निष्करुण हो तो उसमें मूल और शाखा नहीं होगी, उसका विस्तार नहीं होगा।[२] इसके माध्यम से सरह ने महायान के महाकरुणा सिद्धांत की अनिवार्य आवश्यकता को दृढ़ समर्थन प्रदान किया है और साथ ही शून्यता और करुणा के अद्वयत्व को भी अत्यावश्यक बताया है। इस शून्य तरुवर की सार्थकता तो तब है जब वह करुणा के विविध प्रकार के पुष्पों के रूप में विकसित हो। दूसरों को भोग और फल की प्राप्ति हो, इसी में चित्त का परम सौख्य है।[३] स्पष्ट है कि सरह का करुणा सिद्धांत पर, जो चित्त के लिए परमावश्यक है और जिसमें ही उसकी सार्थकता है, विशेष बल है। शून्यता करुणा का साधक है। इससे भी सरह की योगाचारवादिता ही स्पष्ट परिलक्षित होती है। प्रज्ञा और उपाय की, शून्यता और करुणा की, निर्वाण और भव की एकता, उनके अद्वयत्व का प्रतिपादन सरह को अद्वैतवादी सिद्ध करता है। इस बात को उन्होंने पद्म के औपम्यविधान से स्पष्ट किया है। पद्मपत्र, गन्ध, केशर, नाल आदि के समुच्चय को पद्म कहते हैं। इनसे पद्म को पृथक् नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार द्वैतभाव का परित्याग कर, द्वैतभावापन्न चित्त का शोषण कर अद्वयत्व की उपलब्धि करनी चाहिए।[४] भव और निर्वाण की एकता अथवा उनके अद्वयत्व के प्रतिपादन से भी इसे ही स्पष्ट किया गया है। निश्चयत: जो भव है, वही निर्वाण भी है। इन्हें अन्य नहीं मानना चाहिए। अद्वयवज्र ने इसकी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि इनकी एकता एक-स्वभाव है और एकानेकभावविरहित है, परमाद्वय है और प्रतिपन्न है। नागार्जुनपाद के युगनद्धक्रम को उद्धृत कर उसे युगनद्धस्वभाव बताया है।[५] अद्वयवाद और तथता के इस विशिष्ट विकास को हम और रूपों में भी देख सकते हैं।

सरह ने परमतत्त्व का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार वह परम व्यापक है। आगे, पीछे, दश दिशाओं में, सिद्धावस्था में, जो दिखाई पड़ता है वह परमतत्त्व ही होता है। भ्रांतिमुक्तावस्था में ही यह संभव होता है। वह ऐसा तत्त्व है जहाँ इन्द्रियाँ विलीन हो जाती हैं, आत्मस्वभाव भी नहीं रह जाता। वस्तुत: वह तो सहजतनु है। सरहपाद ने ऐसे ही स्थल पर चित्त को विश्राम करने के लिए कहा था, जहाँ मन-

१. *दोहाकोष*, बागची, पृ. ३८, दो. सं. १०६-१०७।

२. *वही*, पृ. ३९, दो. सं. १०९।

३. *वही*, पृ. ३८, दो. सं. १०८।

४. *वही*, पृ. २५, दो. सं. ४९ तथा इसकी टीका पृ. ११४ पर द्रष्टव्य।

५. *दोहाकोष*, पृ. ३७, दो सं. १०२ तथा इसकी टीका पृ. १४४-१४५ पर द्रष्टव्य।

पवन का संचार नहीं है और न रवि-शशि का प्रवेश ही है।[१] जब मन अस्त हो जाता है, शरीर का बन्धन टूट जाता है, तब समरस की स्थिति प्राप्त हो जाती है और सहज ही ब्राह्मण और शूद्र के भेद का वर्जन हो जाता है।[२] यहाँ पहुँच कर बुद्धि का विनाश हो जाता है, मन का मरण हो जाता है तथा अभिमान टूट जाता है। यह मायामय परम कलारूप तत्त्व है। अद्वयवज्र ने इसकी व्याख्या में कहा है कि गुरु के द्वारा सहजोन्मुख कर दिए जाने पर इसकी सिद्धि हो जाती है, तब इसे ध्यान में बाँधने की क्या आवश्यकता है। यह तत्त्व ध्यान में बँधने वाला नहीं है।[३] यह सहज तत्त्व अनुत्तर है, इसका ज्ञानानुभव पापग्रस्त नहीं कर सकता। जब सभी रूपादि विषयों को खसमत्व प्राप्त हो जाता है, मन भी खसमस्वभाव से धारण कर लिया जाता है और उस खसमस्वरूप मन का उसमें अमनीकरण कर दिया जाता है तभी उत्तम पुरुष सहज-स्वभाव में क्रीड़ा करता है।[४] अर्थात् सहजतत्त्व की प्राप्ति की स्थिति सर्वोपरि स्थिति है जिसमें खसमस्वरूप मन का भी अमनसिकार हो जाता है। इसमें जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह चतुर्थक्षण (विलक्षण) में प्राप्त सहजानंद है जिसमें न तो परभाव रहता है न आत्मभाव। इसका ज्ञानानुभव तो स्वसंवेदन से होता है।[५]

यही स्थिति महासुख की भी है जिसमें न तो आदि है न तो अन्त, न मध्य। यह भव और निर्वाण से भी अतीत है। यही वह परम महासुख है जिसमें न तो परभाव रहता है न आत्मभाव। यहाँ मन भी मर जाता है तथा पवन भी क्षय को प्राप्त हो जाता है। यही वह परममहासुख है जो न स्थित रहता है न कहीं जाता है।[६] इस तत्त्व के रस का, स्वानुभव का कथन संभव नहीं है। इसे जो जानता है, वह वही होता है। इसी से यह कल्परहित सुखस्थान है। यहीं श्रेष्ठ जगत् की उत्पत्ति होती है।[७] घनघोर अंधकार में जिस प्रकार चन्द्रमणि प्रकाश करता है उसी प्रकार परम महासुख एक क्षण में अशेष दुरितों (पापों) का हरण कर लेता है।[८] महासुखवाद के इस स्वरूप का उपर्युक्त परमतत्त्व के स्वरूप से घनिष्ठ संबंध है। वस्तुतः इसका संबंध चतुर्थकाय सहजकाय से प्रतिपादित किया गया है जो सरहपाद जैसे महासिद्धाचार्यों के अनुभववैलक्षण्य के परिणामस्वरूप प्रतिष्ठित हुआ है। इसकी परम्परागत त्रिकाय सिद्धांत से भिन्नता पहले ही प्रदर्शित की जा चुकी है। सुखात्मक निर्वाण से इसका किस प्रकार विकास हुआ यह भी विवेचित हो चुका है।

बोधि और बुद्ध को, पीठोपपीठों, संदोहोपसंदोह, क्षेत्रोपक्षेत्रों को पिंडस्थ मानने वाले सरह ने अपने दोहाकोश में इस सिद्धांत को व्यवस्थापित किया है जिसके अनुसार

१. *दोहाकोष*, पृ. २१, दो. सं. २८-२९।
२. *वही*, पृ. २५, दो. सं. ४६।
३. *वही*, पृ. २६, दो. सं. ५३ तथा टीका पृ. १०६।
४. *वही*, पृ. ३२, दो. सं. ६३, ७७।
५. *वही*, पृ. ३६, दो. सं. ९६।
६. *वही*, पृ. २१, दो. सं. २७; पृ. २१, दो. सं. ३०-३१ तथा इनकी टीका।
७. *वही*, पृ. २६, दो. सं. ५२।
८. *वही*, पृ. ३७, दो. सं. ९७।

वे गंगा, यमुना, गंगासागर सभी को यहीं, इसी काया में ही, स्थित मानते हैं। यहीं इसी शरीर में प्रयाग, वाराणसी ही नहीं, चन्द्र और सूर्य भी अवस्थित हैं। क्षेत्र, पीठ, उपपीठ आदि सभी इसी काया में अवस्थित हैं; क्योंकि यह काया सर्वोत्तम तीर्थ है और इसके समान और कोई दूसरा तीर्थ नहीं है। सभी तीर्थों का इसी में निवास है।[१] इतना ही नहीं, उस बुद्ध का भी निवास इस शरीर में ही है जिसका ज्ञान शास्त्रों से, शास्त्रों के व्याख्यान से नहीं हो सकता।[२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सरहपाद ने दोहाकोष में महायान की दार्शनिक विचारधाराओं के रूपान्तर एवं विकास का पुष्कल प्रकाशन किया है। अपने चर्यापदों में भी दोहाकोष की तरह चित्त तत्त्व की महती प्रतिष्ठापना की है। इसके साथ ही उन्होंने भव-निर्वाण, जन्म-मरण आदि की एकता और अद्वयता का भी प्रतिपादन किया है। दोहाकोष की उपर्युक्त विचारधाराएँ चर्यापदों में भी प्रवाहित हैं। सरहपाद मानते हैं कि लोक स्वयं भव और निर्वाण के भेद की रचना कर स्वयं ही अपने को बन्धन में डालता है। जन्म और मरण में भी भव और निर्वाण की तरफ अभेद है। जीवन में मरण से कोई विशेषता नहीं है।[३] चित्तराज तो स्वभावतः मुक्त है। उसमें न तो नाद है न बिन्दु, न रविमण्डल। बोधि भी निकट ही शरीर में ही है। इसके लिए लंका जाने की कोई आवश्यकता नहीं। वाम और दक्षिण तो गर्तागर्त है—खाइयाँ और खड्ढे हैं। अतः संस्कृत टीका के अनुसार मध्यम मार्ग अर्थात् अवधूती मार्ग अथवा अद्वयमार्ग अतीव सुसार एवं अवक्र है। अतः उसी का अनुधावन करना चाहिए।[४] काया की उपर्युक्त प्रकार की महत्ता स्वीकार कर लेने पर यह स्वाभाविक ही है कि इसे सर्वोत्तम साधन के रूप में स्वीकार किया जाय। इसीलिए सरहपाद काया को (भवसागर से पार उतरने के लिए—टीका) नौका रूप में कल्पित करते हैं। चित्त को स्थिर करके ही इस कायारूपी नौका को धारण किया जा सकता है, उसकी रक्षा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसी की सहायता से महासुख द्वीप को जाया जा सकता है।[५] चर्यापदों में भी सरहपाद शून्यता के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसके द्वारा मन के दोषों को शिथिल करने का उपदेश करते हैं। इसी को ज्ञानमुद्रा नैरात्मा के रूप में प्रस्तुत करते हुए उनका स्पष्ट संबोधन है—हे कर्मवश्य चित्त विचारक, सहजानंद रूप अमृत के वर्तमान रहते ही तुम विषयरूप विष का भक्षण कर रहे हो। तूने अपने शरीर में रागद्वेषमोहादि को बुद्धिस्थ कर रखा है। अपनी गृहिणी नैरात्मा का आलिंगन कर इन सब दुष्टों का क्यों नहीं भक्षण कर डालते। इसी प्रसंग में चित्तराज को दुष्टबलद कहा गया है। एक उसी ने त्रैलोक्य को नष्ट कर दिया है। यह दुष्ट इसलिए है कि यह दुष्ट

---

१. *दोहाकोष,* पृ. २५, दो. सं. ४७-४८।

२. *वही,* पृ. ३०, दो. सं. ६८।

३. *चर्यागीतिकोष,* बागची और शास्त्री, पृ. ७५, चर्यापद सं. २२।

४. *चर्यागीतिकोष,* पृ. १०५, च. सं. ३२ तथा उसकी संस्कृत टीका, पृ. १०७।

५. *वही,* पृ. १२४, च. सं. ३८, तथा उसकी संस्कृत टीका, पृ. १२६।

विषयों को बल प्रदान करता है। अतः सरह इन्द्रियों को शून्यावलम्बी बनाकर मुक्त भाव से स्वच्छन्द विचरण करने की बात करते हैं।[१]

इस प्रकार महायान की दार्शनिक विचारधाराओं का विकास हेवज्रतंत्र और सरहपाद की संस्कृत तथा अपभ्रंश रचनाओं में हुआ। कृष्णपाद का इनसे क्या संबंध है, इसका व्याख्या पहले ही हो चुका है। यह देखना समीचीन होगा कि जिस प्रकार महायान दर्शन की उपर्युक्त विचारधाराओं का विकास हेवज्रतंत्र में तथा तदनुसार कृष्णपाद की योगरत्नमाला एवं वसंततिलक जैसी संस्कृत रचनाओं में हुआ उसी प्रकार उनकी अपभ्रंश रचनाओं, दोहाकोष एवं चर्यापदों में भी हुआ है।

कृष्णपाद के अनुसार रजोभूषित बोधिचित्त संवृत स्पंदरूप शुक्र है। वस्तुतः एवं तत्त्वतः चित्तवज्र अक्षोभ्य है। ऐसे अक्षोभ्य चित्तवज्र द्वारा यह संवृत बोधिचित्त आश्लिष्ट होता है अर्थात् चंचल संवृत बोधिचित्त अक्षोभ्यत्व को प्राप्त करता है। अक्षोभ्यत्व को प्राप्त कर लेने पर इस परमार्थ बोधिचित्त की स्थिति ठीक उसी प्रकार की होती है जैसी स्वयं अपने में ही स्वभावसुख का दर्शन या अनुभव करने वाले पुष्कर की होती है।[२] इस बोधिचित्त का परमतत्त्वात्मक रूप भी कृष्णपाद ने स्पष्ट किया है जिसके अनुसार यह अपानवायु के निरोध से नीचे नहीं जाता और न प्राणवायु के निरोध से ऊपर ही जाता है। इन दोनों ऊर्ध्व एवं अधः प्राणपान से यह तथारूप बोधिचित्त रहित है। यह न किसी प्रकार फूटता है और न रुद्ध होता है।[३] यह बोधिचित्त सभी सिद्धियों का निधान है, इस विचार से यह विज्ञानवादी चित्त की परम्परा में है; किन्तु कृष्णपाद ने इसका यौनयौगिक सिद्धांत से विवेचन करते हुए शुक्र रूप में इसे चित्रित किया है। यह बोधिचित्त ही विमल होने पर निवृत्ति के कारण सुखरूप जल होता है; किन्तु चंचल एवं अशुद्ध होने पर यह द्रवाकार रूप में शुक्र होता है। जब कालाग्नि में प्रवेश करता है तब पतित होकर शोषण को प्राप्त होता है; किन्तु अपतितावस्था में यह सम और शुद्ध होता है। कृष्णपाद की शिष्या मेखला ने कृष्णपाद के बोधिचित्त संबंधी इस विचार की पुष्टि शुक्र सिद्धि के एक श्लोक से की है जिसके अनुसार यह बोधिचित्त सभी सिद्धियों का निधान है। इसके पतित होने पर तथा स्कंधविज्ञान के मूर्च्छित होने पर अनिन्दित सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। मेखला के अनुसार अच्युत रहने पर महारागसुख का अनुभव होता है।[४] यह संवृत बोधिचित्त स्पन्दरूप है और

१. *चर्यागीतिकोष,* पृ. १२७, चर्यापद संख्या ३९, तथा उसकी संस्कृत टीका, १२९-१३०। बौद्ध गान ओ दोहा, द्वि. सं., चर्यापदगुलिर पाठ—संस्कार ओ व्याख्या—श्री ताराप्रसन्न भट्टाचार्य, ३९वें चर्यापद की बँगला व्याख्या द्रष्टव्य।

२. *दोहाकोष,* बागची, पृ. ४०, दो. सं. ३ तथा मेखला टीका, पृ. १५०।

३. *वही,* पृ. ४२, दो. सं. १३, तथा मेखला टीका, पृ. १५५-१५६।

४. *वही,* पृ. ४२, दो. सं. १४, तथा मेखला टीका, पृ. १५६-१५७। विमलं निवृत्त्या सुखरूपेण सलिले सांवृत शुक्रद्रवाकारेण विमलरूपं समरूपं बोधिचित्तं शोषं यात्यधः पततीत्याह। तथा च शुक्रसिद्धौ—

पतिते बोधिचित्ते तु सर्व्वसिद्धिनिधानके।
मूर्च्छिते स्कन्धविज्ञाने कुतः सिद्धिरनिन्दिता॥
.........अच्युते महारागसुखमनुभवति।'

चंचल है। जो योगीन्द्र इसे स्थिर कर लेता है, वह कायानन्द और चित्तानन्द के सकल निरविशेष भाव से स्फुरण को समझ लेता है अथवा अनुभव कर लेता है और इस प्रकार वह सुखाभिधान सहजानंद में प्रवेश करता है।[१] कृष्णपाद ने चर्यापदों में भी चित्त का उसी प्रकार चित्रण करते हुए उसे गजेन्द्र रूप में प्रस्तुत किया है जो भगवती नैरात्मा के संग से तथतारूपी मद का वर्षण करता है।[२] इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि जब चित्त भगवती नैरात्मा का संगलाभ करता है अथवा नैरात्मभावसंपन्न हो जाता है तभी तथता से अथवा भव-निर्माण के अद्वय से उत्पन्न होने वाले आनन्द से मत्त हो जाता है। योगिराज का चित्तराज पूर्ण विमलावस्था को तभी प्राप्त करता है, जब षोडशकलात्मक बोधिचित्त रूप चन्द्रमंडल का उदय होता है।[३] इसका जो संवृत रूप है, वह इन्द्रियों के माध्यम से प्रसार करता है। इसीलिए कृष्णाचार्य ने स्वचित्त की तरुरूप में उत्प्रेक्षा की है। इस संसार की वासनारूपी पल्लवों के आश्रयत्व के कारण उसे इस रूप में चित्रित किया है। पाँच इन्द्रियाँ ही उसकी शाखाएँ हैं। आशाएँ ही उसके प्रभूत पत्र एवं फल हैं।[४] इस प्रकार कृष्णाचार्यपाद द्वारा विवेचित चित्त के संबंध में चार बातें स्पष्ट रूप से सामने आती हैं—(१) बोधिचित्त परमतत्त्वात्मक है, (२) यह प्रज्ञोपायात्मक अथवा अद्वयात्मक है, (३) इसके संवृत और परमार्थ दो रूप हैं, और (४) यौनयौगिक दृष्टि से यह शुक्ररूप है और उसके भी संवृत एवं परमार्थ रूप में चंचल एवं अचंचल दो रूप हैं। इन्हें यदि विज्ञानवादी एवं योगाचारी चित्त की परम्परा में देखा जाए तो चित्त से संबंधित ये विचारधाराएँ स्वाभाविक विकास के रूप में दिखाई पड़ती हैं।

बोधिचित्त के अद्वयात्मक रूप की कल्पना में द्वय अथवा द्वयाभास की भी कल्पना सन्निहित है। यह द्वयता विविध रूपों में दिखाई पड़ती है, जैसे ललना और रसना के रूप में, प्रज्ञा और उपाय के रूप में, ए और वं के रूप में, लोकज्ञान एवं लोकाभास के रूप में, शून्यता एवं करुणा के रूप में, रवि-शशि के रूप में, भव और निर्वाण के रूप में। कृष्णपाद ने इस अद्वय सिद्धांत की चरितार्थता के लिए स्पष्टतः कहा है कि ललना और रसना तथा रवि और शशि ये दो पार्श्वों से स्थित हैं। इन दोनों का निकृन्तन परमावश्यक है। मेखला ने इस प्रसंग में इनके अद्वयत्व के प्रतिपादन एवं पोषण के लिए हेवज्रतंत्र का प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट किया है कि ललना प्रज्ञास्वभावा है और रसना उपायस्वभावा। इनके मध्यदेश में ग्राह्यग्राहकवर्जिता अवधूती है।[५] यही अद्वयस्वरूपा है। इसी अद्वयता की व्याख्या एवंकार से भी की जाती है। यह एवं धर्मकरण्डकरूप है और प्रभु हेवज्र का रूपधारक है। इसे ही व्याख्या में शून्यता और करुणा की अभिन्नता के रूपवाली महामुद्रा कहा गया है, जो

---

१. *दोहाकोष,* पृ. ४३, दो. सं. १७, तथा मेखला टीका, पृ. १५७-१५८।
२. *चर्यागीतिकोष,* पृ. ३०, चर्यापद संख्या ९ तथा टीका, पृ. ३२।
३. *वही,* पृ. ८१, चर्यापद संख्या २४, पादटिप्पणी। टीका, पृ. ८२।
४. *वही,* पृ. १४०, चर्यापद संख्या ४५ तथा टीका, पृ. १४८।
५. *दोहाकोष,* बागची, पृ. ४०, दो. सं. ५ तथा टीका, पृ. १५१।

धर्मकरण्डरूपा है। यह वज्रधर का आभरण है और सभी प्रकार के सुखों का या सौख्य का आलय है। मेखला ने इसकी व्याख्या में शास्त्र को उद्धृत कर बताया है कि एकार माता है और वकार रताधिप वज्रधर हैं। बिन्दु (व का अनुस्वार) अनाहत ज्ञान है। इस एवंकार का ज्ञानी अशेष ज्ञान का स्वामी हो जाता है।[१] इस एवं का योगपरक अर्थनिरूपण भी मिलता है। ए और वं दो स्तम्भ हैं। इनका मर्दन अथवा निराभासीकरण ही आवश्यक है। एकार चन्द्राभास है और वंकार सूर्याभास। इन दोनों को निराभासीकृत कर ही महासुखकमल में क्रीड़ा संभव है।[२] यह निराभासीकरण ही उनका ऐक्यसाधन अथवा अद्वयसाधन है। इसी को आलिकालि के दार्शनिक निरूपण से भी स्पष्ट किया जा सकता है। आलि से लोकज्ञान और कालि से लोकाभास व्यक्त होता है। इन दोनों के एकीकरण से अवधूतीमार्ग की सुदृढ़ता होती है।[३]

युगनद्ध भी इसी अद्वयत्व की अभिव्यक्ति करता है। शून्यता और करुणा का स्वशरीर में ही ऐक्य युगनद्ध है।[४] भव और निर्वाण तथा मन और पवन के ऐक्य इसी अद्वयत्व की ओर संकेत करते हैं। भव और निर्वाण पृथक्-पृथक् रूप में विकल्प हैं। उसी प्रकार मन और पवन भी पृथक्भावेन विकल्प द्योतित करते हैं। भव संसार में पुनः-पुनः जन्ममृत्युरूप है। इनसे मुक्ति निर्वाण है। इन दोनों के विकल्पज्ञान को परिशोधित करना चाहिए। ये दोनों ही पटह और मर्दल रूप हैं। सहजाम्नायपंजिका में भी यह व्यक्त किया गया है कि सहजमत में ये दोनों ही विकल्पज्ञान हैं। अतत्त्वदर्शी को ये दोनों ही प्रतिभासित होते हैं, जबकि तत्त्वदर्शी को इनका कोई अस्तित्व ही नहीं मालूम पड़ता।[५] वस्तुतः तत्त्वदर्शी व्यक्ति को इन दोनों में अद्वयत्व का दर्शन होता है। इसी भवनिमीणैक्य का बोधकर भवभोग का निर्देश कृष्णपाद ने किया है। राजहंस जिस प्रकार नीर और क्षीर का विवेक करता है और केवल क्षीर का पान करता है उसी प्रकार भवस्वभाव के भीतर प्रवेश कर, उसके स्वभाव का ज्ञान कर, भव का भोग करना चाहिए। मुनिदत्त ने इसे प्रमाणित करने के लिए बोधिपाद को उद्धृत किया है जिनके अनुसार यथाभूत विचार से न तो भव है और न निर्वाण। अर्थात् इनमें कोई भेद नहीं है।[६] कभी-कभी चित्त को उपायस्वरूप मानते हैं। शून्यता से उसके प्रेम अथवा राग की कल्पना भी मिलती है। चित्त सहज भाव से शून्यता को प्राप्त कर संपूर्ण हो जाता है। यह शून्यता भी षोडशी है जिसके संग को प्राप्त कर योगी रूपादि पंचस्कंध रूप बाह्य

१. *दोहाकोष, बागची* पृ. ४३, दो. सं. २१ तथा टीका पृ. १५९। 'एकाराकृति यद्दिव्यं मध्ये वंकारभूषितम्। आलयः सर्व्वसौख्यानां बुद्धरत्नकरण्डकम्॥ एकारस्तु भवेत् माता वकारस्तु रताधिपः। बिन्दु चानाहतं ज्ञानं तज्जातान्यक्षराणि च।'

२. *चर्यागीतिकोष,* बागची एवं शास्त्री, पृ. ३०, च. सं. ९ तथा टीका, पृ. ३१।

३. *वही,* पृ. २३, च. सं. ७।

४. *वही,* पृ. ४४, च. सं. १३ तथा टीका, पृ. ४५।

५. *चर्यागीतिकोष,* पृ. ६४, च. सं. १९ तथा टीका पृ. ६५। विशेष के लिए द्रष्टव्य *बौ. गा. दो.* चर्यापद १९ की ताराप्रसन्न भट्टाचार्य लिखित बंगला टीका तथा पाद टिप्पणी।

६. *वही,* पृ. ८१, च. सं. २४ तथा संस्कृत टीका, पृ. ८२।

विज्ञान के साथ विच्छिन्न हो जाता है और जिसके परिणामस्वरूप योगी बाह्य शरीर की दृष्टि से मृत हो जाता है। कृष्णाचार्यपाद लोगों को इस मृत्यु से विषण्ण न होने के लिए कहते हैं।[१] और इस प्रकार चित्त (उपाय) और शून्यता के अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं।

पारमार्थिक बोधिचित्त की परमतत्त्वता की ओर हम पहले भी संकेत कर चुके हैं। सहज, समरस, तथता आदि इस परमतत्त्व के पर्याय हैं। कृष्णपाद परमतत्त्व को शास्त्रातीत बताते हैं। वह आगम, वेद, पुराणादि से भी सर्वथा परे है। उसका अनुभव स्वसंवेदन से ही संभव है।[२] इतना ही नहीं, वह सहजरूप, सम एवं निस्तरंग है, सकलकलुषविरहित है, निर्वाण है। वह पाप-पुण्य रहित है एवं कुछ भी नहीं है अर्थात् अनिर्वचनीय है। मेखला ने इसकी व्याख्या महासुखरूप में की है। श्री हेवज्र को उद्धृत कर इसकी महासुखरूपता का प्रतिपादन किया है। यह महासुख सर्वचराचर रूप है।[३] यह महासुख सहज है। यह सहज ही एकमात्र परमतत्त्व है। यह शास्त्रों से, तर्कों से, क्रियाचर्यादिकों से, बहुविध पठन-पाठनादि से श्रवण-श्रावण से भी नहीं जाना जा सकता।[४] यह उत्तर ऊर्ध्वमेरुशिखर है जिसे समविषम प्राण और अपान के प्रवेश और निष्कासन से नहीं प्राप्त किया जा सकता। यह दुर्लक्ष्य और दुराग्रह है। इसका मन में परिभावन नहीं हो सकता।[५]

सामान्यतया यौनयौगिक सिद्धांत का समर्थन करने वाले सिद्धों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे भोगवादी हैं किन्तु कृष्णपाद ने स्पष्ट ही यह प्रतिपादित किया है कि भोग का योगात्मक विनियोजन ही प्रधान है। केवल भोग सिद्धि प्राप्त कराने में असमर्थ है। इसलिए वे प्रतिपादित करते हैं कि जो योगी कुलिशाब्जसंयोग से अच्युति रूप, अहर्निश सहज स्वभाव वाले परिस्फुट बोधिचित्त का संवेदन करता है वही परम योगीन्द्र धर्म की यथाभूतगति को जानता है। इन्द्रियों के घर्षण के लक्षण वाले सुख से अभिनिविष्ट व्यक्ति इसे नहीं जान सकते।[६] इस तरह कृष्णपाद ने बोधिचित्त के संवेदन से धर्म की यथाभूतगति (शून्यता, तथता) के ज्ञान का प्रतिपादन किया है। चित्त का यह संवेदन भी कुलिशाब्जसंयोग अथवा शून्यता-करुणा के अद्वय से ही संभव है। सहजयान की दृष्टि में यह धर्म की यथाभूतगति ही सहज है। यह सहज ही परमतत्त्व है, समरस है। इस तत्त्व में जो अपने चित्तराज को निश्चल कर लेता है, वह जरामरणयुक्त होकर तत्क्षण सिद्धि प्राप्त कर लेता है। टीका में मेखला ने कहा है कि कायानन्दात्मक बोधिचित्त स्खलित होता है किन्तु महासुखोपाय से निश्चलीकृत वह

---

१. *चर्यागीतिकोष,* पृ. १३७, चर्यापद संख्या ४२।
२. *दोहाकोष,* बागची, पृ. ४०, दो. सं. २।
३. *वही,* पृ. ४१, दो. सं. १०, टीका पृ. १५४।
४. *वही,* पृ. ४२, दो. सं. १२।
५. *वही,* पृ. ४२, दो. सं. १५ तथा टीका, पृ. १५७।
६. *वही,* पृ. ४२, दो. सं. १६ तथा टीका, पृ. १५७।

चित्त सहज तत्त्व में, चतुर्थ ज्ञानानंद में एकरसीभूत कर लिया जाता है। इस प्रकार प्राप्त होने वाली सिद्धि को मेखला ने महामुद्रा सिद्धि घोषित किया है।[१] इस सहज की उपलब्धि के क्षण को संवेदित सहजक्षण कहा गया है। यह महामुद्रास्वरूप है[२] यही समरस है। जैसे नमक पानी में विलीन होता है, वैसे ही ज्ञानरूपिणी गृहिणी में चित्त की एकलोलीभूतता ही समरसता है। यही युगनद्ध है।[३]

इस अद्वयरूप परमतत्त्व के मूर्तरूप वज्रधर, वज्री या वज्रधरनाथ हैं। इसे ही मेखला ने कायवाक्चित्तप्रभु कहा है। जो व्यक्ति निजगृहिणी दिव्यमुद्रा का ग्रहण कर चित्तरत्न बोधिचित्त को एवंकार में या महासुखस्थान में स्थिर कर लेता है, वही वज्री या वज्रधरनाथ है। कृष्णपाद ने इसी परमार्थ की ओर संकेत किया है।[४] यह परमार्थ, सहज, महासुख, अद्वय मनोगोचर जगत् से अतीत है। जगत् तो इन्द्रजालमय एवं विकल्प-जालात्मक है, निर्वचनीय है। सहज तत्त्व अनिर्वचनीय है। यह सहज अनुत्तर ज्ञान है। वहाँ पृथग्जनों के काय-वाक्-चित्त का प्रवेश नहीं है। मुनिदत्त ने इस चर्यापद की टीका में कृष्णपाद की इस विचारणा का पोषण तिल्लोपाद के दोहे से किया है जिसके अनुसार तत्त्वफल स्वसंवेद्य है। जो कुछ भी मनोगोचर है, वह परमार्थ नहीं है। इसीलिए कृष्णपाद ने इस तत्त्व को वाक्पथातीत कहा है।[५] योगरत्नमाला में भी कृष्णपाद ने स्वसंवेद्य सहज महासुख को वाक्पथातीत रूप में व्याख्यात किया है।

कृष्णपाद ने इस प्रकार बोधिचित्त, प्रज्ञोपाय, अद्वय, समरस, सहज आदि दार्शनिक तत्त्वों का व्याख्यान किया है। उपर्युक्त स्वरूप विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विज्ञानवादी बोधिचित्त, महायानी बोधिसत्व, माध्यमिक शून्यवाद का समन्वयात्मक यौनयोगपरक दार्शनिक विकास कृष्णपाद की रचनाओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सब मिलाकर इसे हम समग्र महायानी दर्शन का तांत्रिक बौद्ध दर्शन के रूप में विकास कह सकते हैं।

संप्रदाय-विचार के अन्तर्गत हम इसकी ओर संकेत कर चुके हैं कि सरहपाद ने हेवज्रतंत्र में जिस कापालिक साधना का विवेचन विस्तार से किया था, उसका पल्लवन एवं विकास हमें कृष्णपाद में दिखाई पड़ता है और इसकी पुष्टि भी उनकी रचनाओं से होती है। अधिक संभव यह है कि कृष्णपाद ने हेवज्रतंत्र के कापालिक तत्त्वों का विशेष रूप से ग्रहण कर उनका विकास किया हो। उक्त प्रकरण में विवेचित कापालिक तत्त्वों के प्रसंग में जिन कापालिक सिद्धांतों का प्रकाश होता है, वे वज्रयान की उक्त दार्शनिक विचारधाराओं से कथमपि भिन्न नहीं हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर बौद्ध कापालिक

१. *दोहाकोष*, बागची, पृ. ४३, दो. सं. १९ तथा टीका पृ. १५८।
२. *वही*, पृ. ४६, दो. सं. ३० तथा टीका पृ. १६४।
३. वही, पृ. ४६, दो. सं. ३२ तथा टीका पृ. १६४।
४. *वही*, पृ. ४६, दो. सं. ३१ तथा टीका पृ. १६४।
५. *वही*, द. *चर्यागीतिकोष*, पृ. १३१, च. सं. ४० तथा टीका पृ. १३२-१३३, हेवज्रतंत्र की कृष्णपादकृत टीका योगरत्नमाला में वाक्पथातीत शब्द की व्याख्या में कहा गया है— वाक्पथ इति वाचः पंथा प्रतिपत्तिर्वाक्पथस्यातीतगोचरः—*हेवज्रतंत्र*, भाग २, पृ. १२९ *योगरत्नमाला*, १.८।

भी अद्वयवादी, महासुखवादी, सहजवादी कहे जा सकते हैं। हेवज्रतंत्र में मुद्रा को प्रज्ञास्वभावा कहा गया है। वह सहजानंदरूपिणी है। ऐसी स्थिति में ये कापालिक स्पष्ट ही अद्वयवादी एवं युगनद्धवादी हैं। विभिन्न नाड़ियों और तत्त्वों का पिण्डस्थ योगसाधन करने के कारण उन्हें अन्तस्साधनावादी कहा जाना चाहिए। हेवज्रतंत्र तथा अन्य ग्रंथों में कापालिक तत्त्वों से संबंधित वैचारिक सिद्धांतों का जो उल्लेख मिलता है, उनका परिचय यहाँ समीचीन होगा।

हेवज्रतंत्र में उपास्य को हेरुक के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो सदैव वज्रवाराही भगवद्रूपिणी प्रज्ञा से संपरिष्वक्त रहते हैं। उनका जो रूप प्रस्तुत किया गया है, उसके अनुसार उनकी प्रथम वामभुजा में देवताओं और असुरों के रक्त से पूरित नरकपाल, प्रथम दक्षिण भुजा में वज्रस्थित है तथा शेष दो भुजाओं से वज्रवाराही भगवद्रूपिणी प्रज्ञा से वे आलिंगित रहते हैं।[१] यही उनका युगनद्ध रूप अथवा अद्वयरूप है। इस तंत्र में यौनयौगिक सिद्धांतवाद का विशेष व्याख्यान है और प्राय: संधाभाषात्मक शैली से उनके दो अर्थ प्रकट होते हैं। कृष्णपाद ने योगरत्नमाला में उनके परमार्थ को प्राय: उद्घाटित किया है। कपाल शब्द कापालिकों के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना वज्रयानियों के लिए वज्र; किन्तु हेवज्रतंत्र में उपास्य वज्र के साथ कपाल भी धारण करते हैं। इसके कई अर्थ हेवज्रतंत्र में मिलते हैं। कपाल पद्मभाजन है।[२] इसे पद्म भी कहा गया है जो नारी-शक्ति का प्रतीक है। यौनयौगिक सिद्धांतानुसार उपाय और प्रज्ञा के प्रतीकों के परस्पर सम्मिलन और समरसत्व का साधन ही अद्वय साधन है। इसी प्रकरण में वज्र पुरुष का प्रतीक है। नैरात्मा ही प्रज्ञा-शक्ति है। इसीलिए हेवज्रतंत्र में नैरात्मा का चुम्बन कर कपाल में वज्र के निक्षेप का निर्देश मिलता है।[३] इसी प्रकार बोल शब्द भी वज्र का द्योतन करता है तथा कक्कोल शब्द पद्म अथवा कपाल का। ठीक इसी प्रकार बोल के कपाल में निक्षेप का निर्देश मिलता है।[४]

ये सभी प्रयोग यौनयौगिक अद्वयवाद का प्रतिपादन करते हैं। हेवज्रतंत्र का आरम्भ संगीति पद्धति से किया गया है जिसका आदि वाक्य इस प्रकार है—'ओं नम: श्री हेवज्राय। एवं मया श्रुतं एकस्मिन् समये भगवान् सर्वतथागतकायवाक्चित्तहृदयवज्र-योषिद्भगेषु विजहार।' योगरत्नमाला में इसके गूढ़ार्थ की विस्तृत व्याख्या उपलब्ध है जिसके अनुसार उसके उपास्य हैं भगवान् हेवज्र। भगवान् में भग शब्द ऐश्वर्यों की ओर संकेत करता है। जिसमें ये ऐश्वर्य विद्यमान रहते हैं, वह भगवान् है। इसकी पुष्टि में शास्त्र को उद्धृत कर कहा गया है कि समस्त ऐश्वर्यों, यश, श्री, रूप, प्रयत्न आदि सबका सन्नाम भग है। भगवान् वज्रधर कायवाक्चित्तहृदय हैं अर्थात् वे इस त्रितय के

---

१. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग २, १.३.१७—'प्रथमवामभुजे नरकपालं देवासुराणां रक्तेन पूरितं प्रथमदक्षिणभुजे वज्रं शेषद्विभुजाभ्यां प्रज्ञालिङ्गिता प्रज्ञा भगवद्रूपिणी।'

२. *वही,* पृ. ६०, २.३.५८—'कपालं पद्मभाजनम्'।

३. *वही,* भाग २, पृ. ७६, २.५.५—'चुम्बित्वा तु नैरात्म्यां क्षिप्त्व वज्रं कपालके।'

४. *वही,* पृ. ८६, २.६.१—'देवीं वै गाढं आलिङ्ग्य क्षिप्त्वा बोलं कपालके।'

सार रूप हैं और परमदैवत हैं। वे ही इन उपर्युक्त ऐश्वर्यों में विहार करते हैं।[१] भगवान् वज्रधर नाथ हैं और परमानन्दमय होकर श्मशान में विहार करते हैं। यहाँ भी श्मशान का वैचारिक एवं दार्शनिक निरूपण करते हुए उसे 'नैरात्मक देह' कहा गया है। तात्पर्य यह है कि भगवान् वज्रधरनाथ सदैव नैरात्म स्थिति में विहार करते रहते हैं।[२] इन उद्धरणों से यह प्रकट होता है कि वज्रयान की तरह ही बौद्ध कापालिक मत भी महासुखवादी और अद्वयवादी है। मुद्रा शब्द, जो शब्दान्तर से कपालवनिता है, की व्याख्या से भी इसकी पुष्टि होती है। यदि वज्र और मुद्रा की योगरत्नमालागत व्याख्या को ध्यान में रखा जाए तो वज्र अभेद्य ज्ञान है और मुद्रा का अर्थ है वह तत्त्व जिसके द्वारा मुद या हर्ष अथवा महासुख उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार यह सिद्धांतवाद ज्ञान और महासुख का प्रतिपादन करता हुआ एक विलक्षण जीवन दर्शन प्रस्तुत करता है।[३]

इस अद्वयवाद और प्रज्ञोपायवाद का समर्थन साधनमाला जैसे ग्रंथों से भी मिलता है। वज्रयान में वज्रधर का कापालिक साधन प्रचलित था और उन्हें महाकापालिक के रूप में चित्रित भी किया जाता था। उसका निश्चय तो हेवज्रतंत्र में प्राप्य हेवज्रस्वरूपवर्णन से ही हो जाता है; किन्तु बुद्ध की महाकापालिक के रूप में साधना प्रचलित थी तथा उनका एक वैचारिक रूप भी था, इसका दूसरा प्रमाण हमें साधनमाला के भगवान् बुद्धकपाल साधन में मिलता है। यहाँ भी हेरुक, हेवज्रतंत्र की तरह ही प्रज्ञालिंगत हैं और पचीस योगिनियों के साथ दिखाई पड़ते हैं।[४] ये हेरुक 'द्वेष' कुल के एक देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं क्योंकि अपने मुकुट के शिरोभाग में ये अक्षोभ्य को धारण करते हैं। इनका पूरा कापालिक का वेश इस साधन में वर्णित है।[५] डॉ. भट्टाचार्य ने इनका विस्तृत विवेचन किया है।[६] ये प्रज्ञालिंगित हेरुक अद्वयज्ञान रूप हैं।[७] (चित्र द्रष्टव्य) चर्यापदों की टीका में कापालिक शब्द की जो व्याख्याएँ मिलती हैं उनसे बौद्ध कापालिक मत की महासुखवादी विचारधारा का प्रमाण मिलता है। साथ ही चित्त के यौनयौगिक निरूपण की भी सिद्धि होती है।

---

१. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग २, *योगरत्नमाला,* पृ. १०३-१०४—'भगवान् इति हेवज्रमूर्तिधरः। भगा ऐश्वर्यादयो गुणा विद्यन्ते यस्य स भगवान्। तथा चोक्तम्—ऐश्वर्यस्य समग्रस्य ज्ञानस्य यशसः श्रियः। रूपस्यार्थप्रयत्नस्य सन्नाम भगं इति श्रुतम्॥' सर्वतथागतकायवाक्चित्तहृदयं सारं वज्रधरभट्टारकं परमदैवतं अतएव सर्वतथागतानां गुह्यं वज्रधरः॥

२. *वही,* पृ. ११५—'श्मशाने नैरात्मके देहे नाथः परमानन्दमयो विहरति।'

३. *वही,* पृ. ११७—'वज्रं अभेद्यं ज्ञानम्। तेनानेन मुद्रयते। मुदं हर्षं महासुखं जन्यते तेन हेतुना मुद्रेत्युच्यते।'

४. *साधनमाला,* भट्टाचार्य, भाग २, पृ. ५००, सा. सं. २५४, 'भगवतो बुद्धकपालस्यसाधनम्' तथा पृ. ५०२।

५. *वही,* पृ. ५०१—'नीलवर्णो महावपुः अस्थ्याभरणमर्द्धपर्यङ्कनृत्यस्थं मुण्डमाला—विभूषितं मुकुटे अक्षोभ्यधारिणं।'

६. *इं. बु. ए.,* भट्टाचार्य, पृ. १३१-१३२।

७. *साधनमाला,* भट्टाचार्य, भाग २, पृ. ५०३—'अद्वययोगज्ञानं तु प्रज्ञालिंगितहेरुकम्।'

कृष्णपाद अपने को कापालिक घोषित करते हैं; किन्तु कपाल धारण करने के कारण उन्हें कापालिक होना पसंद नहीं है, जैसा शैव कापालिक संप्रदाय में मिलता है। अन्तस्साधनावादी होने के कारण वे उसकी सैद्धांतिक और वैचारिक व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। इसीलिए मुनिदत्त ने कापालिक शब्द के क का अर्थ सुख अथवा महासुख किया है। इस महासुख का पालन करने में समर्थ व्यक्ति ही कापालिक हो सकता है।[१] दूसरे अर्थ के अनुसार कापालिक वह है जो 'संवृति बोधिचित्त' का पालन करता है, शुक्र का रक्षण करता है अथवा इस प्रकार चित्तवज्र का आधान करता है।[२] यह व्याख्या भी महासुखवादपरक है। यह पहले ही देखा जा चुका है कि वज्रयान के महासुख का किस प्रकार निर्वाण से विकास हुआ है। कापालिक सिद्धांत संबंधी दउड़ीपाद का उद्धरण पुनः यहाँ ध्यान में रखा जा सकता है जिसके अनुसार प्राणी वज्रधर है और जगत् की स्त्रियाँ कपालवनिता के तुल्य हैं। कापालिक 'मैं भगवान् हेरुक का मूर्तिरूप हूँ', 'अभिन्न हूँ' ऐसी भावना करता है।[३]

इन सारे विवेचनों का सार यह है कि वज्रयान के अन्तर्गत बौद्ध कापालिक मत का विकास हुआ जिसने महायान बौद्ध दर्शन के प्रज्ञोपायवाद, बोधिचित्त सिद्धांत अद्वयवाद आदि के सिद्धांतों को ग्रहण किया और अपने मुख्य सिद्धांतों के रूप में अद्वयवाद, महासुखवाद, प्रज्ञोपायवाद को स्वीकार किया। इस प्रकार बुद्ध के दर्शन से लेकर बौद्ध तांत्रिक विचारधारा के विकास तक हमें एक बौद्ध परम्परा का क्रमागत विकास दिखाई पड़ता है जिसमें बौद्धेतर तांत्रिक संप्रदायों का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

दर्शन और विचारधारा की दृष्टि से इस परिच्छेद के अन्त में यह विचार भी समीचीन होगा कि तांत्रिक दर्शन और तांत्रिक बौद्ध दर्शन की क्या तारतम्यता है। तंत्र में मुख्य रूप से तीन प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं जिन्हें हम शक्तिवाद, मंत्रवाद और योगसिद्धांत के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।[४] शक्तिवाद का बहुविधि अर्थनिरूपणात्मक प्रयोग मिलता है—दार्शनिक दृष्टि से परमतत्त्व की शक्ति के रूप में, उपासना अथवा साधना की दृष्टि से उपास्य की शक्ति के रूप में (यथा वाराही जो सदैव नित्य भाव से हेरुक को संपरिष्वक्त रखती हैं), साधक की शक्ति या मुद्रा के रूप में जिसके साथ गुरु शिष्य का अभिषेक करता है, साधक की आन्तरिक शक्ति (यथा चंडाली आदि)। इन चारों रूपों में शक्ति की कल्पना तंत्र का वैशिष्ट्य है। मंत्र की साधना वाक् की साधना है, नाद की साधना है। परमदैवत, देवता, देवी अथवा शक्तियों की नादात्मक कल्पना और उनकी नादात्मक प्रतीकोपासना इसमें सम्मिलित है। इसी प्रकरण में प्रणव अथवा

---

१. *चर्यागीतिकोष,* पृ. ३३, च. सं. १०।

२. *वही,* पृ. ६१, च. सं. १८। टीका, पृ. ६३—'कं संवृत्तिबोधिचित्त पालयतीति कृत्वा कापालिकश्च चित्तवज्राधानं कृतमिति।'

३. *चर्यागीतिकोष,* च. सं. ११, टीका, पृ. ४०—'प्राणी वज्रधरः कपालवनिता तुल्यो जगत्स्त्रीजनः सोऽहं हेरुकमूर्तिरेष भगवान् यो न प्रभिन्नोऽपि च॥'

४. *प्रिंसिपुल्स ऑव तंत्र,* आर्थर एवेलेन (१९५२), पृ. २९।

ओं से बावन वर्णों के विकास का पूरा एक दर्शन है। यह विकास ही वर्णमाला है जिसे बावन कपालों के रूप में, नरमुण्डों के रूप में शक्ति धारण करती है। यह नादात्मक सृष्टि का विकास है। चक्रों के वर्णों के न्यास, देवियों और देवताओं के बीजाक्षरों का निर्णय और मंत्ररचना आदि का पूरा एक सैद्धांतिक विज्ञान है। योगसिद्धांत में प्राण, मन और शुक्र संबंधी विचारधाराओं का प्रायोगिक व्याख्यान है जिसका मूलाधार शिवशक्तिवाद और सामरस्य अथवा अद्वैतवाद है। इसी के अन्तर्गत पिण्डब्रह्माण्डवाद, अधिकारभेदभाव, गुरुशिष्यवाद आदि की भी गणना होती है। सृष्टि संबंधी दार्शनिक विचारधाराओं का नियोजन पिण्डब्रह्माण्डवाद में स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

हम पहले ही डॉ. शशिभूषण दासगुप्त के विचारों का उल्लेख कर चुके हैं जिसके अनुसार बौद्ध तंत्रों का विश्लेषण करने पर उनमें तीन तत्त्व स्पष्ट परिलक्षित होते हैं—(१) महायान बौद्ध मत तथा सजातीय हिन्दू विचारों से ग्रहण किए गए तत्त्व, (२) तांत्रिक धर्म विज्ञान, जो तत्त्वतः हिन्दू तंत्रों के समान है और जिसमें महायानी विचारों का भी उपयोग किया गया है। (३) क्रियाएँ।[१] इसके साथ ही उन्होंने औपनिषद विचारधारा तथा अद्वैतवाद का भी प्रभाव परिलक्षित किया है। हमने ऊपर तांत्रिक मत की जिन तीन विशेषताओं की ओर संकेत किया है, उनमें से सभी तांत्रिक बौद्ध मत में भी दिखाई पड़ते हैं। डॉ. शशिभूषण दासगुप्त ने जिन सजातीय हिन्दू तत्त्वों तथा उनके समान अन्य तत्त्वों की ओर संकेत किया है, उससे उनका अभिप्राय उपर्युक्त तीन तत्त्व ही प्रतीत होते हैं। श्री आर्थर एवेलेन ने भी वैदिक अद्वैतवाद के तंत्र में गृहीत होने की बात स्वीकार की है। उनका मत है कि तंत्र ने वैदिक अद्वैतवाद और द्वैतवाद का समन्वय किया है। द्वैतग्रस्त संसार के माध्यम से एक पद्धति विशेष के द्वारा अद्वैतात्मक सत्य का साक्षात्कार कराकर जीव को मुक्ति प्रदान करना इसका लक्ष्य है। द्वैत को एकात्म में परिवर्तित कर यह साधक को दिव्यानन्द की धारा में निमग्न कर देता है। यह इस एकात्म से द्वयात्मक लीला का विकास करता है और इस प्रकार जड़ और चैतन्य के प्रेमालिंगन में परमशिव की प्रिया की विचित्र महिमा की घोषणा करता है। श्री आर्थर एवेलेन ने इस प्रसंग में द्वैताद्वैतोपरि अवस्था की ओर संकेत किया है।[२] इससे स्पष्ट है कि तंत्र भी परमतत्त्व के अद्वयस्वरूप के साथ ही साधक की अद्वयावस्था को भी स्वीकार करते हैं। इसकी और भी विस्तृत व्याख्या करते हुए उन्होंने द्वैत के माध्यम से अद्वैत की उपलब्धि को तंत्रशास्त्रीय दृष्टि से समीचीन बताया है।[३] इतना ही नहीं, शाक्त तंत्र भुक्ति और मुक्ति दोनों को एक साथ प्रदान करने की प्रतिज्ञा करते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि एक ही परमतत्त्व दो रूपों में स्थित है। प्रथम है, सभी प्रकार के रूपों से मुक्ति के रूप में आत्मा का अचल मौन आनन्दोपभोग। दूसरा है विषयों का क्रियात्मक उपभोग। ये दोनों ही रूप शुद्धशक्ति और भूतशक्ति के रूप में प्रकट हैं। तांत्रिक दृष्टि से इन दोनों रूपों में एकात्म होना

१. *ऐन इं. तां. बु.*, पृ. ४।

२. *प्रिंसिपुल्स ऑव तंत्र*, पृ. १०१-१०२।

३. *वही*, पृ. २०५-२०६।

आवश्यक है। वस्तुतः दोनों लोकों में भी कोई विषमता नहीं है।[१] तांत्रिक सिद्धांत की दृष्टि से व्यष्टि जीवन और समष्टि जीवन में भी एकात्म है। परमावस्था में वह यह अद्वैतानुभूति ही करता है कि 'मैं शिव हूँ', 'मैं भैरव हूँ', मैं देवी शक्ति हूँ।[२] कौल दर्शनानुसार तो योग भोग है और भोग ही योग है। इस दृष्टि से यह संसार ही मुक्ति-स्थान है और तदनुरूप मुक्ति और संसार में अभिन्नता है।[३]

उपर्युक्त विचारों को बौद्ध तंत्रों के प्रसंग में परीक्षित करते हुए डॉ. शशिभूषण दासगुप्त ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे हमारे लिए परम उपयोगी इसलिए हैं कि इनसे यह भ्रम बहुत सीमा तक दूर हो जाता है कि बौद्ध तंत्र और हिन्दू तंत्र परस्पर सैद्धांतिक वैषम्य से पीड़ित हैं तथा बौद्ध तंत्र हिन्दू तंत्रों को हीन दृष्टि से देखता है। इन दोनों में वैचारिक साम्य के बिन्दु पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इनका साधनात्मक विकास भी इन्हीं बिन्दुओं के आधार पर हुआ है। ये दोनों ही द्वैत में अद्वैत की सिद्धि को आवश्यक मानते हैं। दोनों ही परम अद्वय तत्त्व में प्रवृत्ति और निवृत्ति जैसे दोनों पक्षों अथवा युग्म को स्वीकार करते हैं जिसे शब्दान्तर से शिव-शक्ति, उपाय-प्रज्ञा आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। दोनों ही इन दोनों का जागतिक प्रकाशन पुरुष एवं स्त्री के रूप में स्वीकार करते हैं। दोनों ही परमाद्वयावस्था को पूर्णावस्था मानते हैं।[४] इन्हीं निष्कर्षों में यह भी जोड़ा जा सकता है कि दोनों ही शक्तिवाद, पिण्डब्रह्माण्डवाद और अधिकारभेदवाद जैसे सिद्धांतों को स्वीकार करते हैं। दोनों ही साधक के चित्त को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं और उसकी भावना की साधनात्मक महत्ता मानते हैं। इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि हिन्दू तांत्रिक दर्शन और बौद्ध तांत्रिक दर्शन में आश्चर्यजनक समानताएँ हैं और उनमें यदि विभिन्नता है तो केवल उनके विवरणों में। इनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषमता शिवशक्ति और उपाय-प्रज्ञा की प्रकृति के विषय में है। हिन्दू तंत्रशास्त्र में शिव निवृत्तिपरक है और शक्ति प्रवृत्तिपरक, जबकि बौद्धतंत्र में शिव तत्त्व (उपाय) प्रवृत्तिपरक है और शक्तितत्त्व (प्रज्ञा) निवृत्तिपरक। इस भेद का मूल उनके आधारभूत दर्शन की प्रवृत्तियों में दिखाई पड़ता है जहाँ शक्ति तत्त्व का विकास प्रज्ञापारमिता से हुआ है और शिव तत्त्व का बुद्ध से। ऐसी स्थिति में इन दोनों में दार्शनिक स्रोतों की भिन्नता के होते हुए भी यदि वैचारिक एवं साधनात्मक आदान-प्रदान होता रहा हो, तो यह आश्चर्य का विषय नहीं हो सकता।

४. कापालिक प्रमाणमीमांसा

इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि सरहपाद, कृष्णपादादि सिद्धि स्वसंवेदन को ही प्रमाण मानते हैं। तंत्रशास्त्र को अथवा आगम को प्रमाण मानते हैं किन्तु बौद्ध सिद्ध अपनी अपभ्रंश रचनाओं में आगमों को भी प्रमाण नहीं मानते। वे

---

१. *दि सर्पेंट पॉवर,* सर जान उडरफ, पृ. २९०-२९१।

२. *वही,* पृ. २९१-२९३।

३. *वही,* पृ. २९३।

४. *ऐन इं. ता. बु.,* दासगुप्त, पृ. ३।

केवल आप्त के रूप में गुरु को तथा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष या योगि प्रत्यक्ष या स्वसंवेद अथवा रहस्यवाद की दृष्टि से प्रातिभ ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। इन साधनों से प्राप्त ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान और परमोच्च ज्ञान कहते हैं। किन्तु टीकाकारों ने ही नहीं, इनकी अपभ्रंश रचनाओं के संस्कृत टीकाकार बौद्ध सिद्धों (जैसे सरहपाद के दोहाकोष के टीकाकार अद्वयवज्र अथवा सिद्ध अवधूतिपा और कृष्णपाद के दोहाकोष की टीकाकार सिद्धा मेखला) ने भी तंत्रों और आगमों को व्यर्थ मानने वाली अपभ्रंश रचनाओं के विचारों एवं अनुभवों को तंत्रों और आगमों से ही प्रमाणित किया है। इन अपभ्रंश रचनाओं में अनुमान, तर्क, हेत्वाभास आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। यहाँ तक कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष को भी कहीं-कहीं अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की तुलना में हेय और त्याज्य बताया है।

सरहपाद के अनुसार ब्राह्मण का चतुर्वेदों का पढ़ना व्यर्थ है क्योंकि उसे पढ़कर भी वह भेद अर्थात् रहस्य को नहीं जान पाता। अद्वयवज्र ने यहाँ प्रथमतः जातिभेद अथवा ब्राह्मणवर्ण की सर्वश्रेष्ठता के रहस्य का उल्लेख किया है जिसे ब्राह्मण वेदपाठ करके भी नहीं जान पाता।[१] सरह ने केवल ब्राह्मणों के वेदपाठ का ही नहीं, बौद्ध महायानोपलब्ध ज्ञान का भी खंडन किया है। महायान में दौड़ना, आगम, तर्कशास्त्रादि का अनुगमन करना भी व्यर्थ है। महायान का बोधिसत्वयान बहुत बड़ा यान है। महायान में ही आगमों और दार्शनिक संप्रदायों के तर्कबहुल ज्ञानविवेचन को भी सरह व्यर्थ मानते हैं। तदुपरांत मंत्रयान और वज्रयान के मंडलों और चक्रों की भी व्यर्थता उन्होंने घोषित की।[२] इसीलिए वे केवल गुरूपदेश को वरेण्य मानते हैं। यदि गुरु का उपदेश हृदय में प्रवेश कर जाए तो वह परम स्वभाव अथवा ज्ञान निश्चित रूप से हाथ पर रखे हुए (पदार्थ) के समान दिखाई पड़ता है किन्तु जो जगत् प्रवाह में बहे जा रहे हैं ऐसे मूर्खों को निजस्वभाव नहीं दिखाई पड़ता।[३]

सरह की दृष्टि में तत्त्वदर्शन में अभिमान सबसे बड़ी बाधा है। यह मिथ्या ज्ञान का अभिमान है। इसी से सकल मार्ग दूषित दिखाई पड़ता है। सारा संसार तो ध्यान से मोहित है। इसी से किसी को निजस्वभाव दिखाई नहीं पड़ता।[४] इसका कारण यह है कि लोग तत्त्व को बाहर ढूँढ़ते हैं, शास्त्रों में ढूँढ़ते हैं जबकि वह स्वभावतः शरीर में ही निवास करता है। बिना इस तत्त्व को जाने आवागमन विखंडित नहीं हो सकता। बिना इसे जाने ही, निर्लज्ज लोग अपने को पंडित कहते हैं।[५] इस प्रकार शास्त्रों से अज्ञेय महासुखात्मक तत्त्व मात्र स्वसंवेद्य है। सत्य का कथन तो घर-घर में होता है पर महासुख का उपलब्धि स्थान कहीं सुनाई नहीं पड़ता। अक्षरज्ञान अथवा शास्त्रज्ञान तो संसार में बहुत बढ़ गया है किन्तु वस्तुतः वही निरक्षर है जो अक्षर तत्त्व में घुल गया है। इसीलिए

१. *दोहाकोष*, बागची, पृ. १४, दो. सं. १ तथा टीका पृ. ७३।
२. *वही*, पृ. १६, दो. सं. ११।
३. *वही*, पृ. १८, दो. सं. १८।
४. *वही*, पृ. २२, दो. सं. ३५।
५. *वही*, पृ. ३०, दो. सं. ६८।

शास्त्रवचन की अपेक्षा गुरुवचन को ही प्रमाण मानने के कारण वे विकल्पग्रस्त पंडितों से क्षमायाचना कर लेते हैं। इसी गुरुवचन से शंकाओं के पाशों का छेदन हो सकता है।[१] यह तत्त्व ऐसा है जिसे न तो गुरु कह सकता है, न उसे शिष्य समझ ही सकता है। यह सहजामृत रस कहने-सुनने की चीज नहीं है। इसे किससे और कैसे कहा जा सकता है? यह तत्त्वफल केवल स्वसंवेद्य है। यह मनोगोचर भी नहीं है क्योंकि जो कुछ भी मनोगोचर होता है, वह परमार्थ नहीं होता।[२]

इन विचारों का प्रमाण हमें कृष्णपाद की भी अपभ्रंश रचनाओं में मिलता है अथवा यों कहा जा सकता है कि सरहपाद के उक्त विचारों की पुष्टि कृष्णपाद की अपभ्रंश रचनाओं से होती है। आगम, वेद, पुराणादि के अध्ययन से पंडितों को अभिमान हो जाता है कि वे तत्त्वफल के ज्ञानी हैं किन्तु वस्तुतः उनकी स्थिति तो पके श्रीफल के बाहर ही घूमते रहने वाले भ्रमर जैसी है। बहुत-सा शास्त्रागम पढ़ने-सुनने से एकमात्र परम तत्त्व सहज नहीं जाना जा सकता। इस सहज क्षण को जिसने अनुभूत कर लिया है, उसके लिए वेद-पुराण क्या है? वही व्यक्ति जगत् के अशेष परिमाण वाले विषय-विकल्पों को उन्मूलित कर सकता है।[३] चर्यापदों में कृष्णपाद ने इन ज्ञान और ज्ञेय संबंधी विचारों को अनुभूति की कसौटी पर कस कर अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से व्यक्त किया है। अविद्या को कृष्णपाद करीन्द्र रूप में कल्पित करते हैं और तथतारत्न के प्रभाव से उसका दमन करते हैं।[४] जिस प्रकार सूर्योदय से रात्रि का अंधकार दूर हो जाता है उसी प्रकार सद्गुरु के चरण-रज की राशि को प्रणाम कर उत्पन्न होने वाले प्रविवेकात्मक दर्शन के स्वभाव के प्रसाद से संसाररूपी समुद्र के रागद्वेषमोहादि दूर हो जाते हैं।[५] कृष्णपाद के इस प्रकार के पक्ष को पंडिताचार्य लोग नहीं देख-समझ पाते। इस बात को कृष्णपाद ने जालंधरपाद की साक्षी देकर कहा है।[६] सहज तत्त्व अथवा अनुत्तर ज्ञान अकथनीय है क्योंकि काय, वाक् और चित्त का वहाँ प्रवेश नहीं है। मुनिदत्त ने इसकी पुष्टि तिल्लोपाद के वचन से की है जिसके अनुसार तत्त्वफल स्वसंवेदनात्मक है। जो मनोगोचर है वह परमार्थ नहीं है।[७] सरहपाद ने भी ठीक इसी रूप में तत्त्वफल की ओर संकेत किया है। इसीलिए कृष्णपाद भी सरहपाद

१. *दोहाकोष*, पृ. ३२, दो. सं. ७६; पृ. ३२-३३, दो. सं. ७७-७८; पृ. ३५, दो. सं. ८८; पृ. ३६, दो. सं. ९३; पृ. १२, दो. सं. ३।
२. *वही*, पृ. १३, दो. सं. ९-१०।
३. *वही*, पृ. ४०, दो. सं. २; पृ. ४२, दो. सं. १२; पृ. ४६, दो. सं. ३०।
४. *चर्यागीतिकोष*, पृ. ३०, चर्यापद संख्या ९ तथा टीका पृ. ३२।
५. *वही*, पृ. ८१, चर्यापद संख्या २४।
६. *वही*, पृ. ११८, चर्यापद संख्या ३६।
७. *चर्यागीतिकोष*, पृ. १३१, चर्यापद संख्या ४० तथा टीका, पृ. १३२—'अतएव वेदः कथं सहजमनुत्तरज्ञानं वक्तुं शक्यते। पृथग्जनानां कायवाक्चित्त यस्मिन् सहजे नान्तर्भवति। तथा च तिल्लोपादः—सअ संवेअण तत्तफल तिलोपाए भणन्ति। जो मणगोचर गोइआ सो परमथे ण होन्ति।'

की तरह ही इस सहज अथवा अनुत्तर ज्ञान का उपदेश व्यर्थ मानते हैं क्योंकि यह तो वाक्पथातीत है। इसमें तो वज्रगुरु भी वचनदरिद्र हो जाता है। इसके कथन के समय गुरु मूक और शिष्य बधिर हो जाता है।[१]

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सरहपाद और कृष्णपाद दोनों ही परमतत्त्व और परमज्ञान दोनों को मात्र स्वसंवेद्य मानते हैं और केवल दो को ही प्रमाण मानते हैं—गुरुवचन अर्थात् आप्त और स्वानुभव अथवा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष या योगिप्रत्यक्ष। बौद्ध कापालिकों में अग्रगण्य कृष्णपाद ने इन दोनों प्रमाणों को पूर्ण समर्थन प्रदान किया है।

इन सिद्धों के आचार संबंधी विचारों का सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वे सहजानुगामी ही होंगे। कापालिक आचार मीमांसा का सीधा संबंध कापालिक साधना से है। अतः इसका सविस्तर विवेचन हम आगे के साधना संबंधी परिच्छेद में करेंगे। वस्तुतः यह कहना अनुचित न होगा कि आचार पक्ष और साधना के वैशिष्ट्य के कारण ही मुख्य रूप से बौद्ध कापालिकों का वैशिष्ट्य और पार्थक्य प्रमाणित किया जा सकता है, जिसका प्रयास आगे किया गया है।

●

१. *चर्यागीतिकोष*, पृ. १३१, च. सं. ४० तथा टीका पृ. १३३।

पाँचवाँ परिच्छेद

तांत्रिक बौद्ध साधना और बौद्ध कापालिक साधना-पद्धति

१. साधन, समय और चर्या

दर्शन, साधना और आचार का अभिन्न संबंध है। साधन और साधना भी एकार्थक शब्द है, किसी भी लक्ष्य अथवा फल की प्राप्ति के लिए किया गया कार्य अथवा उपाय अथवा उपकरण साधन है। किसी उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए काय, वाक् और चित्त अथवा शुक्र, प्राण और मन का विनियोग कर इनकी संपन्नता अथवा शुद्धि के लिए अथवा इनके माध्यम से इनसे अतीत किसी तत्त्व के संराधन के लिए जो क्रिया अथवा उपाय का अवलंबन किया जाए, वह साधना है।[1] इन उपर्युक्त छह तत्त्वों की अथवा उपकरणों की सिद्धि के लिए अथवा इनसे अतीत किसी तत्त्व की इनके माध्यम से उपलब्धि के लिए जिन निर्दिष्ट नियमों, विधानों, निर्देशों अथवा जीवनगत क्रियाओं और पद्धतियों का अनुपालन किया जाता है, उन्हें साधनागत आचार कहा जाता है। इसका सीधा संबंध शील से है। म. म. डॉ. गोपीनाथ कविराज ने आचार, चर्या और समय का संबंध-निर्वचन करते हुए स्पष्ट किया है कि 'समय' शब्द से आगमशास्त्रीय मर्यादा का पालन समझना चाहिए। प्रथम दीक्षा प्राप्त होने पर, अर्थात् समयी अवस्था में उस शास्त्र के वाचन, श्रवण और निरन्तर पाठ में तथा होम, जप, पूजन, ध्यानादि में योग्यता प्राप्त होती है। समयी का आत्मा चर्या तथा ध्यान से शुद्ध होता है। गुरु के द्वारा किए हुए अपने शास्त्रविहित आचारादि का पालन करना ही चर्या है।[2]

समय और चर्या शब्दों का बहुशः प्रयोग सरहपाद और कृष्णपाद की अपभ्रंश रचनाओं और उनकी संस्कृत टीकाओं में हुआ है। पाश्चात्य दर्शन के आचारविज्ञान के अन्तर्गत जिन विषयों का विचार किया जाता है उनमें आचार अथवा कर्तव्य की मीमांसा ही प्रधान है। मानव-जीवन के स्वरूप और उसके सर्वोच्च लक्ष्य के साथ ही करणीय और अकरणीय अथवा कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार इसमें समाहित है। दूसरे शब्दों में मानव के लक्ष्यानुरूप कर्तव्यों के स्तर, स्वरूप एवं उनके औचित्यानौचित्य का विचार यह विज्ञान करता है। इनसे संबंधित सजातीय अन्य समस्याओं पर भी इसमें विचार किया जाता है। यदि भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों को सामने रखकर युगपत भाव से विचार किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि मानव-जीवन के लक्ष्य हैं—धर्म, अर्थ,

---

१. विशेष विस्तार के लिए द्रष्टव्य—*ऐन इंट्रोडक्शन टु तंत्रशास्त्र,* सर जान उडरफ, पृ. ७२-७३।

२. *भारतीय संस्कृति और साधना* (१), कविराज, पृ. २७४।

काम और मोक्ष जिन्हें पुरुषार्थ भी कहते हैं। इनमें से धर्म और मोक्ष उच्चस्तरीय लक्ष्य हैं और अलौकिक साधनान्तर्गत हैं। इनके लिए काय, वाक् और चित्त का साधन किया जाता है और इनके नियंत्रण एवं संयम के लिए प्राण, शुक्र और मन को उपकरण के रूप में व्यवहृत किया जाता है। वस्तुतः ये छह शक्तियाँ हैं जिनमें संयम-नियमन से मानव-जीवन को उपयुक्त पुरुषार्थों की ओर यथाविधि अभिप्रेरित किया जा सकता है। इनके साधन के लिए कर्तव्याकर्तव्य के निर्देशों का यथाविधि पालन आचार अथवा चर्या है। इस प्रकार इस प्रकरण में लक्ष्यस्वरूप, अनुरूप साधना और अनुरूप आचार के विधि-निषेधों के साथ उनकी पद्धतियों एवं क्रियाओं पर विचार समीचीन होगा।

२. तांत्रिक आचार और भाव

तांत्रिक साधना में सामान्य रूप से आचार का विभाजन दक्षिणाचार और वामाचार में मिलता है। इस विभाजन का मूलाधार साधनगत क्रिया का स्वरूप है। इसी प्रकार मुख्य रूप से साधक की योग्यता, पात्रता अथवा अधिकार अथवा भाव को आधार मान कर पशु, वीर और दिव्य में तथा उनके आचार को क्रमशः पश्वाचार, वीराचार और दिव्याचार में विभाजित किया जाता है। पं. बलदेव उपाध्याय ने तीन भावों और सात आचारों का परिचय दिया है और उनका शाक्तमत में अन्तर्भाव किया है। उनके अनुसार तीन भाव हैं—पशु, वीर और दिव्य। सात आचार हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धांताचार तथा कौलाचार। ये सात आचार पूर्वोक्त तीन भावों से संबद्ध हैं। भाव मानसिक अवस्था है और आचार बाह्य आचरण। आचारों में से वेद, वैष्णव, शैव और दक्षिण नाम के आचार पशुभाज के लिए, वाम तथा सिद्धांत वीरभाव के लिए तथा आचारों में सर्वश्रेष्ठ कौलाचार दिव्य भाव के लिए है। यह पूर्ण अद्वैत की भावना से युक्त है। पशु वह है जिसमें अद्वैतज्ञान का लेशमात्र भी उदित नहीं हुआ रहता। ये अज्ञान की रज्जु के द्वारा संसार से दृढ़ रूप में बँधे रहते हैं। वीर वह है जो अद्वैतज्ञान का यत्किंचित् आस्वादन कर अज्ञानरज्जु को काटने में थोड़ा भी सफल होता है किन्तु दिव्य साधक वीरभाव की पुष्टि कर द्वैतभाव का पूर्णतया निरसन कर देता है और अन्ततः उपास्य देवता की सत्ता में अपनी सत्ता को पूर्णातया निमग्न कर अद्वैतानन्द का आस्वादन करता है।[१]

सर जान उडरफ ने स्पष्ट किया है कि पशु वह है जो दया, मोह, भय, लज्जा, घृणा, कुल, शील और वर्ण के बन्धनों या पाशों से बँधा हुआ है। इनका विमोचन करने के कारण ही देवी को 'पशुपाशविमोचिनी' कहा जाता है।[२] कुब्जिका तंत्र के अनुसार पशु यंत्रस्पर्श नहीं करता, न मंत्रजप करता है और मंत्रों को वर्ण-मात्र समझता है, उसमें गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं होती और प्रतिमा को पाषाण-मात्र समझता है। देवता में भेदभाव रखता हुए मत्स्य-मांसरहित पूजा करता है, तीर्थस्थान-प्रेमी होता है। नित्यातंत्र के अनुसार न तो वह निशापूजा करता है, न सायंकाल और न दिन में ही। वेदाचार, वैष्णवाचार और शैवाचार का

---

१. *भारतीय दर्शन,* पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. ४३०।

२. *इं. तं. शा.,* सर जान उडरफ, पृ. ५८-५९।

अनुगमन करने वाले वैदिक विधानों से बँधे हैं वे पशु हैं।[१] इस भावावस्था में रजस् गुण मुख्य रूप से तमस् गुण पर शासन करता है और भ्रान्ति, तन्द्रा और आलस्य की उत्पत्ति करता है।[२] पशु स्वयं अपने हाथ से पत्रों, पुष्पों, फलों, जल की पूजा के लिए संग्रह करता है और शूद्र को नहीं देखता तथा नारी की कल्पना तक नहीं करता। महानिर्वाणतंत्र के इस कथन की व्याख्या में आर्थर एवेलेन ने स्पष्ट किया है कि स्मार्त पूजक अथवा उसकी पत्नी इसी प्रकार के आचार करती है। अपने हाथ से भोज्य तैयार कर वे उसे अपने देवता को अर्पित करते हैं। ये सभी कर्म इस कलियुग में असंभव हैं। स्मृतियों का अनुपालक ही पशु है और उसके लिए शूद्रदर्शन और नारी-चिंतन भी निषिद्ध है क्योंकि उसकी मानसिक शक्ति दुर्बल होती है। विशेषकर इसका संबंध पंचतत्त्व सेवन से है जिसमें नारी की पूजा की जाती है। इसमें पशु असमर्थ होता है।[३] बिन्दुसाधन की दृष्टि से तांत्रिकों के रहस्यसाधन के क्रम में सबसे पहले पशु-भाव में संयम, ब्रह्मचर्य, यम, नियमादि आवश्यक रहते हैं। इस भूमि में बिन्दु की शुद्धि तथा स्थिरता सिद्ध हो जाती है।[४]

वीरभाव श्रेष्ठतर भाव है। वीरभाव में रजस् गुण प्रभूत मात्रा में सत्वगुण पर क्रियाशील होता है।[५] इस साधन में पंचतत्त्वों (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) का प्रयोग होता है। आर्थर एवेलेन ने महानिर्वाणतंत्र के इस कथन की व्याख्या में बताया है कि इस भाव का साधन वामाचारियों और कुछ कौलों के द्वारा किया जाता है। सात्विक साधन में इनके अर्थ भिन्न हैं तथा वैष्णवों में मैथुन का एक भिन्न रूप किशोरी साधन के रूप में प्रचलित है।[६] महानिर्वाणतंत्र ने इस भाव के साधन के तत्त्वों के कलि में दुरुपयोग की बहुत आशंका व्यक्त की है। दिव्यभाव श्रेष्ठतम है। नित्यातंत्र के अनुसार दिव्यभाव सर्वोत्तम है जिसका जागरण वीरभाव के माध्यम से होता है। वीर और दिव्य में अन्तर यह है कि वीर अति उद्धत होता है क्योंकि उसमें रजोगुण स्वतंत्रभाव से क्रियाशील रहता है। सात्विक भाव अपेक्षाकृत शांत है। स्वयं श्री सर जान उडरफ ने इन वाक्यों को उसी अर्थ में ग्रहण न करने का संकेत किया है। उन्होंने कुब्जिकातंत्र में वर्णित दिव्यभाव-साधक के सभी लक्षणों के सभी दिव्य साधकों पर घटित होने में संदेह व्यक्त किया है, किन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लक्षण ऐसे अवश्य हैं जो सभी दिव्य साधकों पर घटित हो सकते हैं। कुब्जिकातंत्र द्वारा वर्णित कुछ लक्षण (जैसे स्त्री को गुरु मानकर उसके चरणों में नत होना, देवी की निशापूजा, रात्रि में ताम्बूलपूर्ण मुख से जप, प्रत्येक वस्तु का देवी को समर्पण, देवतारूपा स्त्री (शक्ति) द्वारा व्याप्त

---

१. *इं. तं. शा.*, सर जान उडरफ, पृ. ५९-६०।

२. *वही*, पृ. ५८।

३. *दि ग्रेट लिबरेशन (महानिर्वाणतंत्र)*, पृ. १४-१५ तथा पादटिप्पणी। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं स्वयमेवाहरेत् पशुः। न शूद्रदर्शनं कुर्यात् मनसा न स्त्रियं स्मरेत्।'—*महानिर्वाणतंत्र*, हरिहरानन्दनाथ भारती विरचितया 'टीकया सहितम्', ५५-५६, प्रथम पटल।

४. *भा. सं. सा.* (१), कविराज, पृ. ५५३।

५. *इं. तं. शा.*, पृ. ६०।

६. *दि ग्रेट लिबरेशन*, पृ. १६ तथा पाद टिप्पणियाँ, प्रथम उल्लास, श्लोक ५८-५९— 'वीरसाधनकर्म्माणि पञ्चतत्त्वोदितानि च। मद्यं मांसं तथा मत्स्यमुद्रामैथुनमेव च।'

विश्व की भावना, संपूर्ण ब्रह्मांड की शिव-शक्ति से व्याप्त रूप में भावना, देवताभाव के नित्यत्व और रक्षण का सदैव प्रयत्न तथा स्वयं अपने को देवतात्मक प्रकृति के रूप में भावित करना) अवश्य ही इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं।[१] स्वयं उडरफ ने यह स्वीकार किया है कि कलि में पशु, वीर और दिव्य भावों में से किसी एक या दो के प्रगल्भ होने और शेष के लुप्त होने के विषय में तंत्रों में मतभेद है।[२]

बिन्दुसाधना की दृष्टि से विचार करने पर वीरसाधन और दिव्यसाधन में एक तारतम्य दिखाई पड़ता है। म. म. गोपीनाथ कविराज के अनुसार वीरभाव में प्रकृति-संयोग या प्रकृतिसंभोग का अधिकार आता है। ''ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम का जो स्थान है, पशुभाव के बाद वीरभाव का स्थान भी प्रायः वैसा ही है। वीरभाव का प्रयोजन है। इस अवस्था में प्रकृति के साथ पुरुष का संबंध होता है, जिसमें वीरत्व की आवश्यकता होती है। वस्तुतः प्रकृति को पराजित कर ही वीरत्व सिद्ध होता है। जो वीर है, वह प्रकृति का स्वामी, भर्ता या अधिष्ठाता होता है। प्रकृति वीर के अधीन रहती है। प्रकृति की पराजय न होने पर प्रकृति अपने बल से साधक को गिरा देती है। तब साधक भ्रष्ट हो जाता है। वीरभाव के अनन्तर प्रकृति के साथ सहयोग करते हुए साधक क्रमशः दिव्य भाव की ओर अग्रसर होता है। दिव्य भाव ही महाभाव है। यहाँ अद्वैत को छोड़कर द्वैत का कुछ भी संस्कार नहीं रहता। पहली दशा में प्रकृति का त्याग जैसे आवश्यक है, दूसरी दशा में योग्यता लाभ होने पर प्रकृति का ग्रहण भी वैसे ही आवश्यक है। तृतीय अवस्था में न त्याग होता है, न ग्रहण। उस समय प्रकृति के अधीन होने पर पुरुष और प्रकृति दोनों सम्मिलित होकर एक अखंड सत्ता में प्रवेश करते हैं। इस परमभाव में पुरुष और प्रकृति का भेद नहीं रहता। यह शिवशक्ति का सामरस्य है।''[३]

भावों के साधन का यह विवेचन सप्रयोजन है। इसके पूर्व हमने महायान में विकसित होने वाले मंत्रयान का उल्लेख किया है। इसी महायान में पारमितानय, वज्रयान, काल चक्रयान और सहजयान का भी विकास माना जाता है। कुछ लोग मंत्रयान के अन्तर्गत ही पारमितायान को छोड़कर शेष यानों को विकसित मानते हैं। पारमितानय भी तांत्रिक यान माना जा सकता है। म. म. गोपीनाथ कविराज का कथन है कि यदि महाशक्ति की आराधना ही तांत्रिक साधना का वैशिष्ट्य माना जाए तो इसमें संदेह नहीं कि पारमितानय भी तांत्रिक कोटि में गिना जाएगा।[४] उन्होंने उपर्युक्त तीनों उपयानों को मंत्र-मार्ग के प्रकार भेद मानकर भी यह स्वीकार किया है कि एक ही साधनधारा विभक्त होकर भाव के गौण एवं प्रधान भाव से विभिन्न रूप में व्याप्त हो गई। वज्रयान काल चक्रयान और सहजयान के भेदक तत्त्वों को स्पष्ट करते हुए उनकी मान्यता है कि वज्रयान की साधना में मंत्र का प्राधान्य रहता है। इसी कारण कभी-कभी

---

१. *इं. तं. शा.*, पृ. ६२।

२. *वही*, पृ. ६४।

३. *भा. सं. सा.* (१), पृ. ५५३-५५४।

४. *वही*, पृ. ५२८।

वज्रयान को मंत्रयान भी कहते हैं। सहजयान में मंत्र पर जोर नहीं दिया गया है। परन्तु वज्रयान तथा कालचक्रयान की योग साधना में मंत्र का ही प्राधान्य माना जाता है।[१] इस मान्यता के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि पूर्व विवेचन के प्रकाश में यद्यपि दर्शन और वैचारिक आधार की दृष्टि से इन उपयानों में भेद प्रायः नहीं है किन्तु साधना-स्वरूप की दृष्टि से इनमें भेद मिलता है। भाव और आचार की दृष्टि से इनमें भेद देखा जा सकता है। इसे कविराजजी जैसे महापंडितों ने इंगित कर दिया है।

३. वज्रयान और सहजयान में भाव एवं आचार

भारतीय साधना-पद्धति, आचार, भाव आदि के क्रम और अवस्थाओं के भेदादि का जिन विद्वानों को ज्ञान नहीं है, वे वज्रयान और सहजयान में भेद नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि केवल वज्र की नवीन कल्पना को छोड़कर और कोई नई बात वज्रयान में मंत्रयान से नहीं दिखाई पड़ती।[२] मंत्रयान की तुलना में वज्रयान संयमपरक न बनकर भोग और सुख से समन्वित धर्म हो गया, निवृत्तिमूलक धर्म न रहकर प्रवृत्तिमूलक धर्म बन गया।[३] देहवाद, गुरुवाद, मंत्रतंत्रादि, मंडल अनुष्ठानादि सभी विशेषताएँ मंत्रयान और वज्रयान दोनों में समान रूप से पाई जाती हैं।[४] डॉ. धर्मवीर भारती ने वज्रयान की अन्य अनेक विशेषताओं और प्रवृत्तियों का परिचय देकर वज्रयान और सहजयान में अभेद मानते हुए भी अन्ततः उन्होंने एक ऐसा संकेत कर दिया जिससे सहजयान की पृथकता एवं विशेषता प्रतिपादित होती है। उनका कथन है कि इन सभी बाह्य अनुष्ठानों से ऊपर उठकर अनुत्तर सम्यक् संबोधि की भी साधना थी जिसका विकास सहज पद्धति में हुआ।[५] आगे चलकर डॉ. भारती ने सहज और कालचक्र को बौद्ध तंत्रों की पद्धति विशेष मान लिया है। फिर भी उनका निष्कर्ष है कि अनुत्तर में आस्था रखने वाले सिद्ध अन्य पद्धतियों का तिरस्कार नहीं करते थे। केवल वे सहज स्वभाव की साधना करने वाले के लिए मंत्र-तंत्र आदि का कोई महत्त्व नहीं मानते थे। इसीलिए वे सहज पर अधिक बल देते थे। इस प्रकार सहजयान को वज्रयान से अलग कोई शाखा मानना अथवा सहजयान को वज्रयान के अन्तर्गत कोई स्वतंत्र शाखा मानना अथवा सहज साधना में देवता, मंत्र, तंत्र, योग, मैथुन तथा अतिचारों का अभाव मानना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि वज्रयान, मंत्रयान, तंत्रयान आदि नामों का तो बौद्ध तांत्रिक ग्रंथों में तो प्रचुर प्रयोग है किन्तु एक विशेष सम्प्रदाय के रूप में सहजयान नाम का प्रयोग नहीं मिलता।[६] वे यह अवश्य मानते हैं कि सरह आदि कुछ आचार्य ऐसे हुए जिन्होंने उच्चकोटि के अनुत्तर साधकों के लिए तंत्र-मंत्र का निषेध कर केवल सहज में

१. *भा. सं. सा.* (१), पृ. ५२८।

२. *सिद्ध साहित्य,* डॉ. धर्मवीर भारती, पृ. १४१।

३. *वही,* पृ. १४४।

४. *वही,* पृ. १४६।

५. *वही।*

६. *वही,* पृ. १४६-१४९।

भावाभावविनिर्मुक्त होकर महासुख की साधना का विधान किया है फिर भी वे उन्हें वज्राचार्य कहते हैं और उनकी चिन्तना को सहजयान कहने के तर्कों को युक्तिसंगत नहीं मानते।[१] उनकी दृष्टि में सहज एक आम्नाय या पद्धति थी जिसमें हठयोग द्वारा प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य स्थापित कर अनुत्तर ज्ञान, महासुख की अनुभूति और सहज स्वभाव सिद्ध कर महामुद्रा के साथ रहते हुए समस्त बाह्य अनुष्ठानों से मुक्त होने पर विशेष बल दिया जाता था। यद्यपि अनुष्ठानों का सर्वथा बहिष्कार नहीं था क्योंकि महामुद्रा की साधना में हठयोग के बहुत ही सूक्ष्म और गहन मार्ग का विधान था जिसमें कभी-कभी प्रारम्भ में मंडल, चक्र, अभिषेक आदि बाह्य अनुष्ठानों को सम्पन्न करना पड़ता था। साधना के उपरान्त अनुष्ठानों से मुक्त होने का विधान था। अतः इस सहज को आम्नाय या पद्धति ही मानना उचित है।[२] बौद्धों का यह सहज तत्त्व और पद्धति वैष्णवों से भी सम्बद्ध है। वैष्णवों में बहुत प्राचीनकाल से एक सहज पद्धति चली आ रही थी जो भावसाधना पर बल देती थी। सिद्धों ने उसी सहज में बौद्ध प्रज्ञोपाय के अंश को भी सम्मिलित कर लिया है।[३]

डॉ. धर्मवीर भारती के उपर्युक्त तर्कों और प्रमाणों से सम्पुष्ट विवेचन को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे किसी न किसी रूप में वज्रयान से सहजयान की पृथक्ता अवश्य देखते हैं फिर भी वे सहजयान की पृथक् सत्ता स्वीकार करते नहीं दिखाई पड़ते। उन्होंने सहजाम्नाय अथवा सहज पद्धति के पक्ष में जिन प्रमाणों का उपयोग किया है उनका सहजयान की पृथक्ता के पक्ष में भली-भाँति उपयोग किया जा सकता है। उन्होंने कालचक्र को विशेष पद्धति ही कहा है तब भी इस पद्धति विशेष के लिए कालचक्रयान शब्द का व्यवहार करते उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। जिस प्रकार मंत्रयान के अन्तर्गत वज्र की प्रतिष्ठा के कारण वज्रयान जैसे एक विशेषयान की सत्ता वे स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार सहज तत्त्व की प्रतिष्ठा के कारण एक विशेष यान सहजयान की पृथक् सत्ता स्वीकार करने में क्यों आपत्ति होती है? यदि संस्कृत तांत्रिक ग्रंथों में इसे सहजयान कह कर पृथक् रूप से नहीं पुकारा गया तो उसका कारण यह हो सकता है कि यह यान स्वयं शास्त्रादि को, तंत्र-मंत्र को तिरस्कृत करता था तो उसे एक पृथक् अस्तित्त्व देकर महत्त्व देना उनके पक्ष में नहीं था। वे वज्राचार्य, बराबर संस्कृत टीकाओं और शास्त्रीय विधि-निषेधों के माध्यम से उन्हें अपने ही धर्म का अंश मानकर उनका संपोषण करते रहे और इस प्रकार लोक जीवन की ओर अग्रसर होने वाले जनभाषा-भाषी बौद्ध सिद्धों की लोकप्रियता का लाभ धर्मप्रचार में उठाते रहे। इसीलिए शास्त्रीय ग्रंथों में उनके अपभ्रंश में व्यक्त विचारों एवं कथनों को उद्धृत कर अपने ही मत का संपोषण करते रहे। इसी प्रकार अपभ्रंश रचनाओं की संस्कृत टीकाओं में शास्त्रीय ग्रंथों के उद्धरण दिए जाते रहे और यह व्यक्त किया जाता

१. *सिद्ध साहित्य,* डॉ. धर्मवीर भारती, पृ. १४८-१४९।

२. *वही,* पृ. १४८-१५०।

३. *वही,* पृ. १५३-१५४।

रहा कि इस प्रकार के वाक्य अथवा विचार बुद्ध वचन के अनुकूल ही हैं और बुद्ध द्वारा उपदिष्ट हैं। ये अन्य तीर्थिक संप्रदायों के विचार नहीं हैं। अन्य शैव, वैष्णव, शाक्तादि तांत्रिक संप्रदायों जैसा औदार्य बुद्ध के धर्म में भी है—यह उनका प्रयोजन था। यह भी हो सकता है कि बौद्धेतर साधना-पद्धतियों से वे ग्रहण किए गए तत्त्वों को भी प्राचीन सिद्ध करने के लिए शास्त्रज्ञ बौद्धों ने इस उपाय का अवलंबन किया हो।

इस संबंध में भाव एवं आचार संबंधी उपर्युक्त विचारणा का उपयोग किया जा सकता है और इस प्रकरण के समर्थन में कुछ और तर्क और प्रमाण भी दिए जा सकते हैं। डॉ. शशिभूषण दासगुप्त ने मंत्रयान के विकास का विवेचन करते हुए यह माना है कि मंत्र, मुद्रा, मंडल का बौद्ध धर्म में प्रवर्तन सामान्य जनों के लिए किया गया था। यह प्रयत्न सभी प्रकार के लोगों को बौद्ध सीमा में आकर्षित करने के लिए किया गया था। इसके लिए बौद्धों ने तत्कालीन प्रचलित धार्मिक क्रियाओं और पद्धतियों को बौद्ध साधना में स्थान दिया।[१] वज्रयान में अभिचारों के साथ-साथ पंचमकारों का प्रयोग आरम्भ हुआ किन्तु इनका प्रयोग प्रमुख रूप से बोधिचित्तोत्पाद अथवा बोधिचित्त की उपलब्धि के लिए ही किया गया जिससे पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो तथा प्राणियों का उद्धार हो। इसी यान से आगे चलकर सहजयान का विकास हुआ।[२] यदि वज्रयानी साहित्य का पर्यवेक्षण किया जाय तो उसमें निम्नलिखित साधनागत विशेषताएँ मिलती हैं—अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण, वशीकरण) जिनका प्रयोग स्वार्थगत उपलब्धियों के लिए किया जाता था), देवी-देवताओं के पूजन, मूर्ति-चित्र निर्माणादि के विस्तृत विधान, गाथाओं का उच्चारण, मंत्रों का उच्चारण, पारमिता-साधन, मुद्राप्रयोग, मंडल-रचना, हठयोग साधना, चिन्तनात्मक योग और सबसे अधिक यौनयौगिक साधन।

इन्द्रभूति ने ज्ञानसिद्धि में बताया है कि इस यान की व्याख्या योगतंत्रों में विस्तार से की गई है। वज्रयान के साधनमाला जैसे ग्रंथों की समीक्षा करने से यह स्पष्ट होता है कि वज्रयान में बहुदेवोपासना का आधिक्य था।[३] इस प्रकार के यान से ही सहजयान का विकास हुआ जिसका अपना कोई पृथक् प्रमाण ग्रंथ नहीं था। अपितु इसके चर्यापद एवं दोहों के रचयिता वज्रयान के ही प्रसिद्ध ग्रंथों को प्रमाण मानते थे। इन सहजिया प्रवर्तकों ने जीवन और धर्म के आडम्बरों के विरोध में अपनी सारी शक्ति लगा दी और यह माना कि इन वज्रयानी वाह्याचारों से सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसका प्रातिभ साक्षात्कार तत्त्वदीक्षा और योग से ही हो सकता है। इससे इन सहजयानियों का वज्रयान से पृथक् अस्तित्त्व सिद्ध हो जाता है। इसका लक्ष्य भी वज्रयान से भिन्न है। यह आत्मगत और धर्मगत सहज प्रकृति के साक्षात्कार को ही लक्ष्य मानता है। यह मनुष्य प्रकृति पर अनावश्यक दबाव न डालकर उसे सहज गति और विधि से सत्य के साक्षात्कार में प्रयुक्त करता है।[४]

१. *ऐन इं. तां. बु.*, पृ. ६१-६२, ६३-७०।
२. *वही*, पृ. ७०-७१।
३. *वही*, पृ. ७८-८०।
४. *वही*, पृ. ७७-७८।

डॉ. शशिभूषण दासगुप्त ने मुद्रा का जो अर्थ दिया है, वह वज्रयान में नहीं रह गया। इस वज्रयान में दो चीजें और बढ़ गईं—पंचमकार और यौनयौगिक साधना। इनके कारण मुद्रा का अर्थ हो गया यौनयौगिक साधना में सहयोग करने वाली स्त्रीशक्ति। योगसाधना के कारण विशेषकर हठयोग के कारण यत्किंचित् अन्तस्साधना का भी प्रवेश हो गया। इस वज्रयान में भी मंत्र, मंडल आदि के विधान थे किन्तु इनका विनियोग उपर्युक्त यौनयौगिक साधना के लिए उपकारक के रूप में था। इन मंडल, मंत्र, देवी-देवता और आदि के विधायक शास्त्रों और उनके पांडित्य का होना आवश्यक था। कर्मकाण्डीय क्रियाबाहुल्य का होना भी स्वाभाविक था। इस प्रकार देव-देवी-बाहुल्य, क्रियाबाहुल्य आदि ने वाह्याचार का बाहुल्य कर दिया। क्रियाएँ और कर्मकाण्ड तो मंत्रयान में भी थे किन्तु वज्रयान में अपेक्षाकृत सूक्ष्म साधनों को विकासक्रम से प्राधान्य मिला। यौनयौगिक साधना और योगसाधन से यह सूक्ष्मता आई। इस प्रसंग में कविराजजी के क्रमिक विन्दुसाधन विकास संबंधी विचारों को ध्यान में रखा जा सकता है। इसीलिए इन्द्रभूति ने इसे योगतंत्र में स्थान दिया है जो क्रियातंत्र और चर्यातंत्र से श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म है। सहजयान में इन वाह्य क्रियाविधानों को व्यर्थ बताया गया है और योग तथा तत्त्वदीक्षा को प्राधान्य दिया गया है। इसमें अभिचारादि के लिए कोई स्थान नहीं है। पिण्डब्रह्माण्डवाद के सिद्धांत के आधार पर वाह्याचारों का तिरस्कार करते हुए सहजयान अन्तस्साधना का समर्थन करता है। इसी से इसे अनुत्तरयोगतंत्र में स्थान दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि मंत्रयान से लेकर सहजयान तक के साधन में क्रमिक विकास की अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कविराजजी के जिन विचारों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उससे दिव्यभाव साधनावस्था में शुद्ध अद्वैत की ओर संकेत होता है तथा दूसरे सहजयान में मंत्र तत्त्व के पूर्ण अभाव की ओर भी इंगित होता है। डॉ. शशिभूषण दासगुप्त के भी विचारों को यदि इसमें सम्मिलित कर लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वज्रयान वीरभाव साधना है और सहजयान दिव्यभावसाधना।

हम पहले तांत्रिक बौद्ध धर्म के विभाजन की चर्चा कर चुके हैं जिसमें काजी दवासम दुप और डॉ. शशिभूषण दासगुप्त के द्वारा प्रस्तुत विभाजनों का भी उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार निम्न तंत्र अनेक प्रकार के विधि-विधानों से युक्त होते हैं तथा उनमें देवी-देवताओं की बाह्य पूजाविधानों की ही प्रधानता रहती है। उत्तमतंत्र में परमतत्त्व का साक्षात्कार करने के लिए यौगिक साधना की प्रधानता रहती है तथा परमतत्त्व की प्रकृति पर विचार और ध्यान का प्रामुख्य रहता है।[१] तारानाथ के प्रमाण पर श्री एच. कर्न ने भी अनुत्तरयोगतंत्रयान को बाद में प्रभावशाली होना बताया है।[२] इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि निम्नतंत्र और उत्तमतंत्र में बाह्य और अन्तस्साधना का अंतर है। इस पर यह अनुमान किया जा सकता है कि अनुत्तरयोगतंत्रयान का पूर्ण प्रकृष्ट अन्तस्साधना का रूप सहजयान के रूप में प्रस्फुटित हुआ। इस प्रकार वज्रयान और सहजयान दोनों ही उत्तमतंत्र हैं और

१. *आ. रे. क.*, दासगुप्त, पृ. २४।
२. *मै. इं. बु.*, एच. कर्न, पृ. १३३।

उनमें भी वज्रयान योगतंत्रयान है और सहजयान अनुत्तरयोगतंत्रयान। श्री किमुर ने विस्तार से इस नाम की ऐतिहासिकता और उसकी प्रवृत्ति पर विचार किया है।[१] नामजप, नामस्मरण और नामगायन की साधना का मार्ग सहज मार्ग है। नागार्जुन ने इसके अनुगमन का उपदेश दिया था।[२] यह जनसामान्य के लिए साधन मार्ग था किन्तु परवर्ती सहजयान में यद्यपि साधना की दृष्टि से शीघ्र सिद्धि-प्राप्ति को ध्यान में रखा गया किन्तु दीक्षा तत्त्व का प्राधान्य होने के कारण इस परवर्ती सहजयान को हम जनसामान्य का साधन नहीं कह सकते। दूसरे, इसमें सहज तत्त्व परम तत्त्व के रूप में कल्पित कर लिया गया था। डॉ. शशिभूषण दासगुप्त के अनुसार सहजयान में गुरुशिष्यवाद, पिण्ड-ब्रह्माण्डवाद, बाह्याडंबरविरोध, अन्तस्साधनावाद, कमलकुलिश या प्रज्ञोपायसाधना, युगनद्ध और महासुखवाद, ध्यान, वाम-दक्षिणाद्वैत साधना के लक्षण स्वीकार किए जा सकते हैं। वाह्याचार का जो विरोध इस यान में दिखाई पड़ता है, वह वज्रयान या तंत्र-मंत्र-मुद्रा-मंडल-प्रधान यान में नहीं मिलता। यहाँ वज्रसत्व या अन्य किसी देवता की पूजा तथा उपासना भी नहीं है। निर्गुण, निराकार, सहजतत्त्व या महासुखतत्त्व की मानसी आराधना है, उपासना है। वास्तव में तंत्र का वास्तविक सूक्ष्म रूप और उसकी दिव्य साधना सहजयान में भी प्रस्फुटित हुई। डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों के औपम्य विधानों एवं उत्प्रेक्षाओं की जो रहस्यात्मक व्याख्या की है,[३] उससे इस सहजयान की अन्तस्साधना-परकता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार सहजयान दिव्य सिद्धावस्था का यान है। इस पर विचार तांत्रिक भावों और आचारों को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। इसकी सुस्पष्ट व्याख्या और विवेचन तो साधनसाध्य और अनुभवसापेक्ष है।

वज्रयान और सहजयान के भेदक और सहजयान प्रतिपादक कुछ और तथ्य एवं प्रमाण भी उपलब्ध हैं। राहुलजी ने इस संबंध में दूसरी दृष्टि से विचार किया है। उनके अनुसार सिद्धों का लोक भाषा में (अपभ्रंश) में रचना करना पर्याप्त क्रांतिकारिता की ओर संकेत करता है। सरहपाद की जिन विशेषताओं की ओर उन्होंने संकेत किया है, वे सहजयान की पृथक्ता का प्रतिपादन करने में पर्याप्त सक्षम हैं।[४] राहुलजी के विचारों में स्ववदतोव्याघात है किन्तु हमारा प्रयोजन केवल इतना ही है कि इस प्रकरण में राहुलजी यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि चर्यापदों और दोहों की रचनाओं में वज्रयान भिन्न सहजयान की साधना मिलती है और दूसरे इन रचनाओं से वामाचार (वज्रयान) और योगाचार (सहजयान) दोनों के साधनगत अर्थों तक पहुँचा जा सकता है। सहजयान के विचार ऊपर से उतने अधिक आचार-विरोधी नहीं थे जितने वज्रयान के। बंगाल और बंगला साहित्य के सहजिया आंदोलन और साधन को दृष्टिगत रखकर इस साहित्य एवं साधन का विचार करने वाले प्राय: सभी विद्वानों ने सहजयान की पृथक्

१. *हि. स्ट. ही. म.*, किमुर, इंट्रोडक्टरी नोट, पृ. १।

२. *वही*, पृ. २०-२२।

३. *स्ट. इन तं.* (१), बागची, पृ. ७६-८४।

४. *पुरातत्त्व निबन्धावली*, राहुल सांकृत्यायन, पृ. १६०।

सत्ता स्वीकार की है। म. म. हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार ९वीं शताब्दी में लुयीपा ने सहजिया मत का प्रचार किया।[१] डॉ. विंटरनित्स के कथनानुसार लक्ष्मींकरा ने 'अद्वयसिद्धि' में नवीन अद्वैतवादी मत सहजयान का प्रवर्तन किया। उन्होंने संन्यास, धार्मिक शिष्टाचारों, मूर्ति-पूजा आदि का खंडन किया और सभी देवताओं के आश्रय केवल इस शरीर पर ही ध्यान लगाने को कहा।[२] डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य भी प्रकारान्तर से इसे स्वीकार करते हैं और प्रमाण में लक्ष्मींकरा के विचार प्रस्तुत करते हैं।[३]

हम यह कह चुके हैं कि गुरुवाद और अधिकारभेदवाद के सिद्धांत बौद्ध सिद्धों को भी सर्वथा मान्य हैं। हिन्दू तांत्रिक साधना-पद्धति वैदिक साधना और क्रिया का सरल संक्षेप है। तांत्रिक साधना और साहित्य वैदिक क्रियाओं के आंतरिक अर्थों पर जोर देते हैं और उन्हें थोड़े में सुरक्षित रखते हैं जिससे वे शब्द उसमें सुरक्षित रहस्यों के लिए प्रतीक जैसा कार्य करने लगते हैं। यदि वैदिक साधना में प्रतीकों के आंतरिक अर्थों पर ध्यान न दें तो वे सारी क्रियाएँ शिशु-क्रीड़ा हो जाएँगी। इसका तात्पर्य यह है कि हिन्दू तांत्रिक साहित्य में वैदिक साहित्य के बहुत-से प्रतीक सुरक्षित हैं। अनेक स्थानों पर वैदिक प्रतीकों का विकास भी मिलता है।[४] ठीक इसी प्रकार साधनात्मक विकास की दृष्टि से वैदिक साहित्य से लेकर बौद्ध तांत्रिक साहित्य के काल तक साधनात्मक भाषा का प्रयोग मिलता है। तांत्रिक बौद्धों का मूल बौद्ध साधना ही है जिसके प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त क्रियाओं का विकास प्रतीक के रूप में हमें तांत्रिक बौद्ध साधनों और रचनाओं में दिखाई पड़ता है।

तांत्रिक रचनाओं में विशेषकर स्तोत्रों में वीरभाव और दिव्यभाव के साधन के अनुसार अलग-अलग अर्थ किए जाते हैं। हिन्दू तांत्रिकों के कर्पूरादिस्तोत्र जैसे ग्रंथों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। ठीक यही बात हमें बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों में आचरित होती दिखाई पड़ती है अर्थात् उनका अर्थ वामाचार और योगाचार अथवा वज्रयान और सहजयान दोनों में घटित होता दिखाई पड़ता है। पंचमकारों के भी अर्थ पशु, वीर और दिव्य के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। पशु भाव में उनका नैतिकतापरक और प्रतीकात्मक अर्थ होता है तथा बाह्य पदार्थों से उनकी सिद्धि होती है, जैसे मुद्रा का अर्थ देवता को समर्पित किया जाने वाला एक विशेष प्रकार का पक्वान्न अथवा अँगुलियों या हाथों से बनाए जाने वाले अनेक आकार हैं। वीर भाव में मुद्रा का अर्थ साधन में सहयोग करने वाली नारी है, जिसके साथ प्रत्यक्ष मैथुन का भी विधान मिलता है तथा जिसकी पूजा भी उपदिष्ट है। दिव्यभाव में यह मुद्रा अवधूतिपा है, कुंडलिनी है, मध्यमार्गानुगामिनी आन्तरिक शक्ति है। इसी प्रकार अन्य मकारों का भी अर्थनिरूपण

१. *बौ. गा. दो.*, मुखबन्ध, पृ. १६।
२. *ए. हि. इं. लि.*, विंटरनित्स, वॉ. २, पृ. ३९३।
३. *एन. इं. बु. ए.*, भट्टाचार्य, पृ. ७६-७७; अद्वयसिद्धि, कु. मालती जे. शेंड्जे, श्लोक, १३, १४, १९, २१, ३१, पृ. १७, १९, २१; संप्रदाय विवेचन में विस्तार द्रष्टव्य।
४. *फिलासफी ऑव हिन्दू साधन,* श्री नलिनीकांत ब्रह्म, पृ. २७८-२७९।

मिलता है। विशेषकर मैथुन को लेकर सबसे अधिक विवाद है। इन मकारों के प्रयोग की बात जब भी बौद्ध सिद्ध करते हैं, तब सामान्य जन उनका केवल बाह्यार्थ ही ग्रहण करते हैं और फिर बौद्ध सिद्धों को भला-बुरा कहते हैं। इसीलिए बौद्ध सिद्ध ऐसे लोगों को अज्ञ, 'बाल', मूर्ख आदि कहते हैं और पोथियों के पंडितों को इनका दिव्यार्थ समझने के लिए ललकारते हैं। तात्पर्य यह कि बौद्ध सिद्धों के साधन को भाव-साधन के भेदों और उनके लक्षणों को ध्यान में रखकर समझना चाहिए तभी उनके मर्म तक पहुँचा जा सकता है।

कृष्णपाद की रचनाओं में प्रायः कौल शब्द का प्रयोग मिल जाता है। इसे ध्यान में रखते हुए यदि पं. बलदेव उपाध्याय के आचार संबंधी विभाजन पर दृष्टिपात किया जाए तो वामाचार और सिद्धान्ताचार वीरभावसाधक के लिए हैं और इसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ कौलाचार दिव्यभाव साधक के लिए विहित है। इस दृष्टि से वज्रयान में वामाचार और सिद्धान्ताचार विहित हैं और सहजयान में कौलाचार विहित है। वस्तुतः सिद्धांताचार भी एक प्रकार से मानसिक उपासना है जिसमें साधक मानसिक दृष्ट्या दुर्गा में लीन होता है।[1]

पं. बलदेव उपाध्याय और मोनियर विलियम्स के कथनों को दृष्टिगत रखकर विचार करने पर वज्रयान के अन्तर्गत केवल वामाचार को स्थान दिया जा सकता है तथा सिद्धांताचार को दिव्यभाव की उपासना मानते हुए उसे सहजयान के अन्तर्गत मानना चाहिए। कौलाचार को पं. बलदेव उपाध्याय दिव्यभाव के अन्तर्गत मानते हैं जो उचित नहीं मालूम पड़ता। इसका कारण यह है कि कौलाचारादि का निर्णय पंचतत्त्वों अथवा पंचमकारों के रूप प्रयोग पर निर्भर करता है। कौलाचार को वीरभाव के अन्तर्गत ही स्थान देना चाहिए, क्योंकि उसमें पंचमकारों का प्रत्यक्ष एवं यथार्थ प्रयोग ही विहित है। इस प्रकार वज्रयान वीरभाव की उपासना है और उसमें वामाचार एवं कौलाचार को ग्रहण करना चाहिए तथा सहजयान के दिव्यभाव की उपासना मानकर उसमें सिद्धांताचार की ही परीक्षा करनी चाहिए। यह भी सत्य है कि व्यवहार में भिन्नता दिखाई पड़ने पर कौलाचार के श्रेणी विभाग में भी अन्तर दिखाई पड़ सकता है। यहाँ बौद्ध दृष्टि से ही विचार किया गया है।

४. प्राचीन बौद्ध साधना

प्राचीन बौद्ध धर्म की साधना का लक्ष्य था निर्वाण। निर्वाण दुःख का आत्यन्तिक निरोध है, शान्ति है, लोकोत्तरदशा है। निर्वाणप्राप्त व्यक्ति की स्थिति जीवन्मुक्त जैसी होती है। निर्वाण वह मानसिक दशा है जिसमें भिक्षुजगत् के अनन्त प्राणियों के साथ अपना विभेद नहीं कर सकता। उसके व्यक्तित्व का लोप हो जाता है तथा सब प्राणियों के एकत्व की भावना उसके हृदय में जाग्रत् हो जाती है। यह दुःखाभाव रूप है और प्राप्त करने की वस्तु है।[2] किन्तु महायान का चरम लक्ष्य है बुद्धत्वपद की उपलब्धि। हीनयान के समान यह मत बुद्ध को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानता अपितु लोकोत्तर मानता है और

१. *संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी*, मोनियर विलियम्स, पृ. १२१६।

२. *बौ. द. मी.*, पृ. ११८, ११९, १५३-१५४, तथा *बौ. ध. द.*, नरेन्द्रदेव, पृ. ३०७।

गुरुतत्त्व का प्रतीक भी। इसीलिए उनका नाम शास्ता अर्थात् मार्गदर्शक गुरु है जिसके लिए प्रज्ञा के साथ-साथ महाकरुणा की महती आवश्यकता है। इस मत के अनुसार निर्वाण केवल दु:खाभाव ही नहीं, वह सुखरूप भी है। दोनों ही महायानी दार्शनिक मत इसे अनिर्वचनीय और अप्राप्य मानते हैं। इस निर्वाण की स्थिति में धर्मकाय और सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है। दोनों ही मत इसे अद्वैत मानते हैं और हीनयान से भिन्न यह मानते हैं कि इसमें केवल क्लेशावरण ही नहीं, ज्ञेयावरण से भी मुक्ति होती है।[१] महायान में एक अधिक अवस्था मान्य है जिसे अप्रतिष्ठित निर्वाण की अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में महाकरुणा से प्रेरित बोधिसत्व परम शान्ति को प्राप्त कर तथा परिनिर्वृत्त होकर भी शून्यता में विलीन नहीं होते अपितु संसरण करने वाले जीवों की रक्षा के निमित्त संसार के तट पर स्थित रहना चाहते हैं।[२] महायान ने इससे और आगे बढ़कर इसे लोकोत्तरतम कहा। सूत्रालंकार के अनुसार यह अप्रतिष्ठित निर्वाण बुद्धों के द्वारा ही प्राप्य है। यह अर्हत् से भी बढ़कर अवस्था है। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि के अनुसार इस दशा में बुद्ध संसार एवं निर्वाण दोनों की कल्पना से बहुत ऊँचे रहते हैं।[३]

निर्वाण संबंधी इस संक्षिप्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि महायान सुखात्मक, क्लेशावरण-ज्ञेयावरणरहित, लोकोत्तरतम, धर्मकाय एवं सर्वज्ञत्व से सम्पन्न अप्रतिष्ठित निर्वाण को चरम लक्ष्य मानता था। इसी सुखात्मक निर्वाण का विकास आगे चलकर महासुख के रूप में हुआ और वज्रयान-सहजयान का चरम लक्ष्य बना। तांत्रिक महायान धर्म में वज्रयान और सहजयान ने इसकी उपलब्धि के लिए अपने योगसाधन और आचार का स्वरूपनिरूपण किया है। महायान में बोधिचित्तोत्पाद और पारमितासाधन का और बाद में मंत्रसाधन का विधान मिलता है। वज्रयान और सहजयान ने इसकी उपलब्धि के लिए किस योगस्वरूप का विधान किया है, किस साधन का निरूपण किया है, इसका विचार आगे किया जा रहा है।

तांत्रिक बौद्ध धर्म की साधना में प्राचीन बौद्ध समाधि और प्रज्ञा की साधना किसी न किसी रूप में अवश्य प्रचलित रही। अत: प्राचीन बौद्ध साधना का संक्षिप्त विचार आवश्यक है। बुद्ध के साधनात्मक उपदेशों में आचार की दृष्टि से सर्वप्रथम स्थान शील का है, जिसका संक्षेप में अर्थ है—सभी पापों या पापकर्मों को न करना, सभी अकुशल कर्मों को न करना, अकुशल कर्मों की ओर प्रवृत्त करने वाली पापमयी तृष्णाओं का निरोध करना। इस शील के आचरण से भिक्षु अर्हत् पद की प्रथम दो अवस्थाओं—स्रोतापन्न (पहली ही सीढ़ी में लोभ, मोह, द्वेष को दूर करने वाली अवस्था) और सकृदागामी (काम, राग और व्यापाद दोषों को दुर्बल बनाने वाली) अवस्था की प्राप्ति होती है। यह शील अर्थात् संयम पाँच प्रकार का है—प्राणातिपात से विरति, अदत्तादान से विरति, काममिथ्याचार से विरति, मृषावाद से विरति, सुरामेरयमद्य से विरति, प्राणातिपातादि अकुशल कर्म है और इनसे चित्त की विरति ही शील है।

---

१. *बौ. द. मी.*, पृ. १२२, *भा. द.*, पृ. १६७-१६९। पं. बलदेव उपाध्याय।

२. *बौ. ध. द.*, पृ. ३०७।

३. *बौ. द. मी.*, पृ. १५३-१५४।

इसके अनुसरण से मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओं में समाधान, उपधारण और प्रतिष्ठा आती है।[१] विसुद्धिमग्ग में भोजन, आसन, वेश आदि के संयम-नियम दिए गए हैं, जिन्हें धूतंग कहते हैं।[२] उत्तर एवं अनुत्तरयोगतंत्र में शील की अनावश्यकता का स्पष्ट निर्देश है।

समाधि का अर्थ है—कुशल की ओर चित्त की एकाग्रता। इस समाधि में चित्त केवल एक विषय पर स्थिर हो जाता है। उसमें सभी प्रकार की चंचलता और परिवर्तन स्थगित हो जाते हैं।[३] कुशल कर्मों की ओर चित्त को एकाग्र कर लेने पर प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। समाधि के चार सोपानों में क्रमशः वितर्क, विचार, प्रीति और सुख का अपसारण होता है। बौद्ध समाधि को दो भागों या दो सोपानों में विभाजित किया गया है—उपचार समाधि और अप्पना (अर्पणा) समाधि। प्रथम में भिक्षु बुभुक्षा, पिपासा संबंधी तृष्णा, तज्जनित दुःख, क्षिति, जल, पावक और समीर से निर्मित, कसाई की दूकान पर पड़े गाय के शव के समान अपने शरीर पर तथा बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग, उपशम आदि की श्रेष्ठता पर अपने चित्त को एकाग्र करता है।[४] दूसरी समाधि अर्पणा में भिक्षु श्मशानभूमि में जाकर मानव-शरीर के शव के घृणास्पदत्व की भावना करता हुआ अपने शरीर को भी उसी प्रकार समझता है। इस प्रकार भिक्षु अपने शरीर से परे जाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार की एकाग्रता के लिए भिक्षु को चाहिए वह एक एकान्त एवं शान्त स्थान में बैठकर अपने श्वास के प्रश्वास (पस्सास) और आश्वास (आस्सास) पर अपने चित्त को केन्द्रित करे जिससे वह अपने श्वास की तीव्र अथवा मन्दगति से परिचित हो सके। इसके लिए उसे श्वासों की गणना करनी चाहिए जिससे वह अपनी सम्पूर्ण श्वास क्रिया पर अपने चित्त को एकाग्र कर सके। इसी को 'आनपानसति' कहते हैं। यह क्रिया चित्त की एकाग्रता में सहायक होती है।[५] तांत्रिक बौद्ध साधना में इस पद्धति का स्पष्ट विकास मिलता है। बुद्ध के आर्यमार्ग की अन्तिम अवस्था ही अर्हत् है। इस चतुर्थ अवस्था तक पहुँचने के लिए ध्यानयोग की सहायता अपेक्षित है। इन अवस्थाओं का कामधातु-रूपधातु, अरूपधातु से सीधा संबंध है। अर्हत् पद पर आरूढ़ भिक्षु रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या नाम के पाँच बन्धनों को तोड़ देता है और मृत्यु होने पर फिर कभी भी जन्म-मृत्यु के चक्र में नहीं पड़ता। इस पद तक पहुँचने में ध्यानयोग सहायक है। बिना समाधि के साधक कामधातु (वासनामय जगत्) का अतिक्रमण कर रूपधातु में नहीं जा सकता। समाधि साधक को रूपधातु में ही ले जाने में प्रधान सहायक है। इसके बाद अरूपधातु का क्षेत्र

---

१. *विसुद्धिमग्ग,* शीलनिद्देसो, पृ. ७-८ *हि. इं. फि.,* वॉ. १, दासगुप्त, पृ. १०१; *बुद्धिज्म इन ट्रांसलेशन,* वारेन, विशुद्धिमग्ग, परिच्छेद १७, पृ. १७५।

२. *हि. एं. फि.,* वॉ. १, पृ. १०१।

३. *विसुद्धिमग्ग,* पृ. ८४-८५, *हि. इं. फि.,* वॉ. १, पृ. १०१। 'कुसलचित्रेकाग्गता समाधिः', 'एकारम्मणम् सम्मा च अविक्खिपमाणा।'

४. *हि. इं. फि.,* वॉ. १, पृ. १०२, विसुद्धिमग्ग, पथवीकसण निद्देसो, कोसांबी, पृ. ८५।

५. *हि. इं. फि.,* दासगुप्त, पृ. २०३। दीघनिकाय, २२-महासतिपट्ठानसुत्त (२।९); हिं. अनुवाद, पृ. १९०-१९१।

है।[१] इसी रूपधातु से चार ध्यानों का संबंध है। इस ध्यान की विभिन्न अवस्थाओं, निमित्तों (आलंबनों) का विसुद्धिमग्ग में विस्तार से वर्णन मिलता है। ध्यान की इन अवस्थाओं को वितर्क, विचार, प्रीति और उपेक्षा की अवस्था कहा जाता है।[२] ध्यान की अंतिम अवस्था में सुख-दु:ख दोनों ही लुप्त हो सकते हैं तथा राग और द्वेष के सभी बीज नष्ट हो जाते हैं। इस स्थिति तक पहुँचने पर उपेक्षा और एकाग्रता की उपलब्धि हो जाती है। इसी समय 'चेतोविमुत्ति' की प्राप्ति होती है और भिक्षु तब पूर्णतया अर्हत् हो जाता है।[३] फिर स्कन्धों की उत्पत्ति, पुनर्जन्म नहीं होते, दु:ख तथा पीड़ा से आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है।[४] इन साधनावस्थाओं का रूपान्तर एवं परिवर्द्धन बौद्धचक्र साधना में दृष्टिगोचर होता है।

ऊपर शील और समाधि का जो विवेचन किया गया है, उसका फल प्रज्ञा है। प्रज्ञा की उपलब्धि से अविद्या का नाश होता है। अभिधर्मकोश में प्रज्ञा तीन प्रकार की बताई गई है। श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी।[५] अंतिम प्रज्ञा समाधिजन्य और श्रेष्ठतम है। प्रथम और द्वितीय प्रज्ञा से भिक्षु भावना या ध्यान का अधिकारी होता है। दीघनिकाय के 'सामञ्ञफल सुत्त' में प्रज्ञाप्राप्त व्यक्ति की अनेक ऋद्धियों एवं सिद्धियों का वर्णन है।[६] ये शील और समाधि सात बोध्यंगो (बोधिप्राप्ति में सहायक अंगों) में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।[७] इस रूप में जिस प्राचीन बौद्धयोग का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, उसका चरम लक्ष्य चित्त के क्षोभ को हटाकर, तृष्णा को दूरकर, दु:ख से आत्यंतिक निवृत्ति प्राप्त करना अथवा निर्वाण प्राप्त करना है। यहाँ यह ध्यान रखना परमावश्यक है कि यह अनात्मवादी बौद्धयोग साधन है।

इस प्राचीन बौद्ध साधना की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका महत्त्व आगे के विकास एवं विवेचन के लिए असंदिग्ध है। संयम और सदाचार का महत्त्व शील (पंचशील और दशशील) के रूप में स्वीकृत था। समाधि बौद्ध ध्यानयोग की चरम परिणति है जिसका फल है निर्वाण। शील से काया की साधना एवं शोधन एवं समाधि से चित्त की साधना एवं शोधन विहित है। सब मिलाकर इसमें संयम एवं सदाचार का प्रामुख्य था यद्यपि इस क्रम में श्मशान, शव आदि को भी ध्यान के आलंबन के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। इस साधन में काम से भी विरति निर्दिष्ट है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात साधक की अवस्थाओं अथवा साधनक्रम के अधिकार के संबंध में दिखाई पड़ती है। पृथग्जन साधनमार्ग में कोई अधिकार नहीं रखते। स्रोतापन्न,

---

१. *बौ. द. मी.,* उपाध्याय, पृ. ११७-११८, ३३३-३३४, विशुद्धिमार्ग, प्रथम भाग, हिं. अनु., भिक्षु धर्मरक्षित, पृ. ११५, ११८-१५९ आदि।

२. *हि. इं. फि.,* दासगुप्त, वॉ. १, पृ. १०४-१०६; विसुद्धिमग्ग, पृ. १६३।

३. *हि. इं. फि.,* दासगुप्त, वॉ १, पृ. १०६।

४. *वही,* पृ. १०६।

५. *अभिधर्मकोष,* वसुबन्धु, टीका-राहुल सांकृत्यायन, ६, ५, पृ. १६१।

६. *दीघनिकाय,* सामञ्ञफलसुत्त, हिन्दी अनुवाद, पृ. ३०-३२।

७. *महायान,* भदन्त शान्तिभिक्षु, पृ. ६।

सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् क्रमिक अधिकार वृद्धि की ओर संकेत करते हैं। आगे चलकर अधिकार-भेदभाव और दीक्षा अथवा अभिषेक का जो विस्तार हमें तांत्रिक साधना में मिलता है, उसकी भूमिका के लिए यह वैशिष्ट्य महत्त्वपूर्ण है। धूतंग में जिस प्रकार भिक्षु के भोजन, आसन, वेश आदि का पूरा विधान मिलता है, उसी प्रकार आगे चलकर बौद्ध कापालिक साधन में विविध निर्देश मिलते हैं जिसकी ओर किंचित् संकेत हम संप्रदायनिर्वचन के प्रसंग में कर चुके हैं। समाधि के प्रसंग में प्राणायाम को 'आनपानसति' के रूप में स्वीकृति दी जा चुकी है। आगे चलकर इसका क्रम बिंदुसाधन के रूप में बदल गया। प्राण के स्थान पर बिन्दु को चरम साध्य तत्त्व स्वीकार कर लिया गया। स्रोतापन्न अवस्था में ही शीलव्रतपरामर्श अथवा व्रतोपवासादि में आसक्ति के क्षय को स्वीकार किया गया है। वस्तुतः यह तो बाह्याचार है जिसे स्रोतापन्न त्याग देता है। आगे तांत्रिक बौद्ध सिद्धाचार्यों ने भी इनके त्याग की घोषणा की थी। त्रिधातुओं की ओर जो संकेत इस प्रसंग में किए गए हैं, आगे चलकर बौद्ध सिद्धों ने परात्परत्व की भावना से चार धातुओं की कल्पना की।

५. महायान में साधना और तांत्रिकता

महायान में जिस योगसाधना का विकास हुआ, उसके लिए योगाचार अथवा विज्ञानवादी संप्रदाय विशेष रूप से उत्तरदायी है। विद्वानों ने इस योगाचार शब्द की ही व्याख्या की है। प्रायः यह माना जाता है कि यह योगाचार नामकरण असंग के 'योगाचारभूमिशास्त्र' नामक ग्रंथ के नाम के आधार पर ही हुआ।[१] डॉ. राधाकृष्णन् का कथन है कि योगाचार मत ने प्रकटतः बौद्ध सिद्धांतों और योग का समन्वय किया है।[२] दूसरे मत से योग का अभ्यास करने के कारण ही इन्हें योगाचारी कहा जाता है।[३] इसी से वे आलय विज्ञान का स्वानुभव करते थे।

योगाचार शब्द को कुछ लोग योगावचर (योगी) शब्द से निकला हुआ मानते हैं। इसका पिटकों में भी संकेत मिलता है।[४] राहुलजी ने योगाचारभूमिशास्त्र की विषय सामग्री के आधार पर कहा है कि इसमें ज्यादातर बौद्ध सदाचार, योग तथा धर्मतत्त्व का विस्तृत विवेचन मिलता है।[५] कुछ लोगों का कहना है कि इस ग्रंथ में विज्ञानवाद के साधनामार्ग का वर्णन उपलब्ध होता है। आध्यात्मिक सिद्धांत के कारण यह मत विज्ञानवाद और व्यावहारिक, साधनात्मक और धार्मिक दृष्टि से यह योगाचार नाम से प्रसिद्ध है।[६] डॉ. ग्विसप तुसी ने असंग के गुरु मैत्रेयनाथ के अलंकार (अभिसमयालंकार और सूत्रालंकार) ग्रंथों का विवेचन करते हुए कहा है कि इनका उद्देश्य योग का विवरण उपस्थित करना है। 'भूमि', ध्यान, समापत्ति, शमथ और विपश्यना आदि का विस्तृत

---

१. *बौ. द. मी.*, उपाध्याय, पृ. २२८।
२. *इंडियन फिलॉसॉफी*, डॉ. एस. राधाकृष्णन्, वॉ. २, पृ. ३४०।
३. *सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्ट थॉट*, यामाकामि सोजन, पृ. २१३।
४. *बौद्ध दर्शन*, राहुल सांकृत्यायन, पृ. ९०।
५. *वही*, पृ. १०५।
६. *बौ. द. मी.*, पृ. २२५-२२८।

विवेचन इन ग्रंथों में मिलता है। इन आधारों पर अभिसमयालंकार को ब्राह्मण योगसूत्रों (पतंजलिकृत) का बौद्ध प्रतिरूप समझना चाहिए।[१] इससे यह स्पष्ट होता है कि मैत्रेयनाथ और असंग दोनों ने ही योग-साधन पर जोर दिया है। राहुलजी ने असंगकृत योगाचारभूमिशास्त्र (अथवा सप्तदशभूमिशास्त्र) की जो रूपरेखा उपस्थित की है, उससे पता चलता है कि उसकी पृष्ठभूमि में ध्यान, विमोक्ष, समाधि तथा समापत्ति का वर्णन है। दसवीं भूमि में इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष तथा लोकप्रत्यक्ष के साथ ही शुद्धप्रत्यक्ष या योगिप्रत्यक्ष का भी वर्णन है। बारहवीं भूमि अथवा भावनामयी भूमि में योगभावना का वर्णन है।[२] विन्टरनित्स का कथन है कि विज्ञानवाद के अनुसार बोधि की प्राप्ति योगी योग का अभ्यास करते हुए ही कर सकता है। इस अभ्यासावस्था में ही वह दश भूमियों को पार करता है।[३]

दार्शनिक और वैचारिक विवेचन के प्रसंग में हम योगाचार के दार्शनिक पक्ष का उद्‌घाटन कर चुके हैं। हम कह चुके हैं कि इस मत के अनुसार चित्त ही सत्य है। वस्तुतः प्राणी का उद्देश्य है—प्रज्ञा की उपलब्धि करना, जागतिक पदार्थों या धर्मों का स्वभाव जानना। यही विज्ञानमात्र के सत्य की उपलब्धि है। यही धर्मकाय की एकात्मता है। बोधिसत्व दस भूमियों को पार करता हुआ अंत में इसी एकात्मकता की प्राप्ति करता है। इसी प्रकार अनानार्थ का ज्ञान भी है। भाव-अभाव, सत-असत्, संसार-निर्वाण, आत्म-अनात्म ये सभी नानार्थ हैं। बोधिसत्व इन सबसे परे होता है। वह इनसे परे परमतत्त्व का, परमज्ञान का साक्षात्कार करता है। वह दोनों को समान दृष्टि से देखता है। एक में दूसरे का दर्शन करता है। इस प्रकार वह परमतत्त्व तथता की उपलब्धि करता है। इस तथता के स्वरूप का निर्वचन पहले किया जा चुका है।

धार्मिक दृष्टि से महायान में किसी परमतत्त्व के लिए ईश्वर या किसी अन्य समानार्थी शब्द का प्रयोग किया गया नहीं मिलता। इसकी धार्मिक उपासना का लक्ष्य धर्मकाय बुद्ध या वैरोचन, धर्मकाय बुद्ध तथा अमिताभ बुद्ध या अमितायुस बुद्ध है। धर्मकाय, वास्तव में शुद्ध धार्मिक और उपासनात्मक तत्त्व है। उसके दार्शनिक पक्ष पर हम पहले विचार कर चुके हैं जिसके अनुसार यह निर्वाण से अभिन्न है। यह साधक की आध्यात्मिक एवं धार्मिक चेतना का विषय है। साधक इस धर्मकाय से अपने बोधि की पूर्ण अभिन्नता स्थापित करता है। यह धर्मकाय करुणावतार है। बोधिसत्व इसी की साधना करता है। शाक्यमुनि भी बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व बोधिसत्व ही थे। वस्तुतः महायान मत के अनुसार हम सभी बोधिसत्व हैं अर्थात् हम सभी प्रसुप्त बुद्ध हैं। अप्रबुद्ध बौद्ध अपने बुद्धत्व का प्रत्यभिज्ञान नहीं कर पाता। इस प्रकार महायान की साधना बोधिसत्व की साधना है। यह साधना बोधिचित्त की साधना है। चित्त का

---

१. *ऑन सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ दि डॉक्ट्रिंस ऑव मैत्रेय (नाथ) ऐंड असंग,* डॉ. जी.सी. तुसी, पृ. २५-२६।

२. *बौद्ध दर्शन,* राहुल सांकृत्यायन, पृ. ९४, १०४।

३. *ए. हि. इं. लि.,* विंटरनित्स, वॉ. २, पृ. २६४, पादटिप्पणी।

सारतत्त्व करुणा है। बोधियुक्त करुणा ही बोधिचित्त है। इस प्रकार बोधिचित्त परमोच्च तत्त्व है और बोधिचित्त की साधना ही बोधिसत्व की साधना है। यह बोधिचित्त भी सभी व्यक्तियों के हृदय में अप्रबुद्ध रूप में रहता है। केवल बुद्धों में यह पूर्ण प्रबुद्ध और क्रियाशील रूप में रहता है। अतः महायान की साधना के अनुसार प्राणी को इस अप्रबुद्ध चित्त का प्रबोधन करना चाहिए। इसी को बोधिचित्तोत्पाद कहते हैं। यह उत्पाद कार्य बुद्धों के विषय में तथा प्राणियों की शोचनीय दशा के विषय में सतत चिन्तन करने से तथा तथागत द्वारा प्राप्त किए गए गुणों के लिए प्रयत्नशील रहने से संपन्न होता है। बोधिसत्व की जिन दस भूमियों की परिगणना की जाती है, वे वास्तव में बोधिचित्तोत्पाद की ही भूमियाँ हैं या क्रमागत उन्नतिशील दशाएँ हैं।[१] इन भूमियों से होकर अंततः साधक प्रज्ञा और करुणा दोनों से संपन्न हो जाता है। ये दोनों ही एक-दूसरे के बिना निरर्थक, जड़ और निष्फल हैं। इसका विस्तृत विचार दर्शन प्रकरण में किया जा चुका है। इसे ही महायानियों का दार्शनिक एवं साधनात्मक पंग्वंधन्याय कहते हैं। आदर्श प्राणी बुद्ध में इन दोनों का आदर्श समन्वय एव परिपाक है किन्तु निर्वाण-प्राप्ति के लिए सबसे पहले करुणाप्रसार आवश्यक है, क्योंकि वह प्राणियों को दुःख से मुक्त करती है तथा साधक में बोधि उत्पन्न करती है।[२] इसी उद्देश्यसिद्धि के लिए प्रारम्भ में बुद्धभक्ति, अनेक देवताओं और देवियों की कल्पना एवं उपासना का विधान, मंत्र, धारणी, पूजा आदि के विनियोग संबंधी निर्देश महायान में मिलते हैं।

महायान ने भी योगसाधना का विकास किया। विज्ञानवाद ने जिस चित्त को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार किया था, उसके सांवृत्तिक और पारमार्थिक दो रूप उन्हें मान्य थे। पातंजल चित्तवृत्तिनिरोध को प्रकारान्तर से महायान में विकसित किया गया। इसमें दो प्रकार की समाधियों (मायोपम समाधि और वज्रबिंबोपम समाधि) के उल्लेख मिलते हैं। वज्रबिंबोपम समाधि के आयत्त होने पर साधक चित्त की एक आध्यात्मिक विराग की स्थिति में पहुँच जाता है। उसे पारिभाषिक शब्दों में परावृत्ति कहा गया है। इससे साधक द्वंद्व और अहं से पूर्ण संसार के इस तट से अहंकार और तृष्णा से रहित निर्वाण के दूसरे तट पर पहुँचता है। प्रज्ञा या बोधि की प्राप्ति होने पर अथवा अंतश्चक्षु के उद्घाटन से यह कार्य संपन्न होता है। लंकावतारसूत्र के अनुसार यही प्रत्यात्मार्यज्ञानगोचर अथवा स्वसिद्धांत हैं।[३] इस स्वसिद्धांत के बिना बौद्ध जीवन दार्शनिक व्यायाम-मात्र है। इस प्रकार का स्वसिद्धांत अथवा प्रत्यात्मगति अथवा आत्मसाक्षात्कार भाषा और तर्क से परे है।[४] ये विवरण महायान की रहस्यसाधना का संकेत देते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि साधना पारमिता साधन और बोधिचित्तोत्पाद साधन से भिन्न है। इसमें चित्त के एक विशेष मोड़ अथवा प्रवृत्ति को

१. *आ. म. बु.*, सुजुकि, पृ. २१९-२२४, २४५-२४६, २८२-२८३, २९०-२९१, २९४-३०७, ३११-३२६।

२. *वही*, पृ. ३५८-३६४।

३. *स्ट. लं. सू.*, सुजुकि, पृ. ९९-१०१।

४. *वही*, पृ. १०१-१०३।

महत्त्व दिया गया है। इसकी व्यापकता साधक के संपूर्ण जीवन में है। यह सतत सत्यानुभव से पूर्ण जीवन को उद्देश्य मानता है। यही स्वसंवेदन अथवा आत्मसाक्षात्कार है।[१] प्रसुप्त बोधिसत्व की तरह प्रत्येक प्राणी में बीज रूप में तथागतगर्भ विद्यमान रहता है और उसी की उपस्थिति से उक्त प्रकार का स्वसंवेदन होता है। सामान्य अवस्था में यह विकल्पों, परिकल्पों और अभिनिवेशों से आवृत या संकुचित रहता है किन्तु मूलतः गर्भ शुद्ध और निर्मल है। अनावृत कर देने पर इसके प्रकाश में सभी धर्म अथवा पदार्थ अपने स्वाभाविक रूप में दिखाई पड़ने लगते हैं। यही प्रत्यात्मगति की अवस्था है। यह गर्भ विचार-वितर्क और सिद्धियों से पूर्णतया परे है। इसी को दशभूमिक ग्रंथ तथा लंकावतार भी, अविकल्पज्ञान या निर्विकल्पज्ञान कहते हैं। इसी में तथता ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस क्षण की व्याख्या में 'तथा' शब्द ही समर्थ हो सकता है।[२] इस यथाभूत दर्शन का अर्थ है सभी पदार्थों के स्वभाव का दर्शन करना या सभी पदार्थों की शून्यता का दर्शन करना; क्योंकि सभी पदार्थों की निःस्वभावता ही उनका स्वभाव है। इस दर्शन में चित्त यह अनुभव करता है कि सभी पदार्थ अनुत्पाद हैं, अपनी कार्य-कारण-श्रृंखला में उस अनंत अतीत काल तक बँधे हैं कि उनके कारण का पता वहीं चलता। उनका यह सत्य चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है, विकल्पों से परे है।[३]

उपर्युक्त योगसाधना में व्यक्त कुछ विशेषताएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस आध्यात्मिक योग की यात्रा में पूर्ववर्णित बौद्ध योग का विकास दिखाई पड़ता है। लंकावतार में जिस योग का उपदेश मिलता है उससे यह प्रतीत होता है कि महायान शीघ्रातिशीघ्र बुद्धत्व और निर्वाण प्राप्त कराने के लिए प्रयत्नशील था। पारमिता मत पंचपारमिताओं के अभ्यास के बाद यह संभावना करता था कि एक न एक समय अवश्य आएगा कि साधक को प्रज्ञा की प्राप्ति होगी और वह बुद्धत्व प्राप्त करेगा। इसके साथ ही चित्त तत्त्व की प्रतिष्ठा, माया का प्रमाता से सम्बन्ध, चित्त के आवरणों का विचार, चित्त की निर्विकल्प अवस्था, बुद्ध का लंका में शैव रावण को उपदेश देना (लंकावतार), अन्तःसाक्षात्कार की महत्ता—ये सभी बातें यह भी संकेत करती हैं कि लंकावतार द्वारा प्रवर्तित रहस्यमय साधना-पद्धति का तांत्रिक शैव साधना के साथ भी विचार किया जा सकता है।

महायान के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों में भी बोधिसत्व साधना अथवा महाकरुणा साधना से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत मिलते हैं जिनका परवर्ती बौद्ध कापालिक साधना की दृष्टि से महत्त्व स्वीकार किया जाना चाहिए। अवलोकितेश्वर गुणकरंडव्यूह में अवलोकितेश्वर की उपासना का विस्तार है। जैसा पहले कहा जा चुका है, अवलोकितेश्वर सभी प्राणियों को मुक्त करने के लिए, बुद्धत्व के योग्य होते हुए भी उसे अस्वीकार कर देते हैं। उनका उद्देश्य है—सभी प्राणियों के लिए निर्वाण सुलभ

१. *स्ट. लं. सू.*, सुजुकि, पृ. १०३-१०५।

२. *वही*, पृ. १०५-१०७।

३. *वही*, पृ. ११४-११५, १२२-१२८।

करना, सभी लोगों को सहायता देना, सभी प्रकार की विपत्तियों से उन्हें बचाना, अनंत करुणा की वर्षा करना, पाप से तनिक भी न डरना, नरक के द्वार पर भी न रुकना। अंतिम प्रतिज्ञा की व्याख्या में कहा गया है कि जीवों पर करुणा करने के लिए यदि बोधिसत्व को पाप या निषिद्ध या अकुशल कर्म भी करना पड़े तो उसे संकुचित न होना चाहिए। बोधिसत्व के लिए किसी को अप्रसन्न करने की अपेक्षा नरक भोगना अच्छा है।[१] इस ग्रंथ में 'ओं मणिपद्मे हुँ' जैसे तांत्रिक मंत्र भी हैं। इस कारण्डव्यूह में आदि बुद्ध, स्रष्टा बुद्ध और मंत्र-तंत्रों से समन्वित बौद्ध धर्म का और भक्ति मार्ग का दर्शन होता है।[२] सेसिल बैंडल ने बताया है कि ज्ञानरविपरिपृच्छा में यह भी वर्णित है कि मांस-भक्षण यदि किसी महान् कार्य के लिए अथवा औषधि के रूप में किया गया हो तो वह निषिद्ध नहीं है।[३] सुवर्णप्रभाससूत्र में इस ग्रंथ की महत्ता सिद्ध करने के लिए श्री महादेवी और देवी सरस्वती उपस्थित होती हैं। इसमें अनेक स्थानों पर तांत्रिक क्रियाओं की भी शिक्षा दी गई है। शक्तियों में हारीति, चंडिका आदि का भी नाम आया है।[४] महायान के विभिन्न ग्रंथों में अनेक सुखावती जैसे लोकों की भी कल्पना मिलती है। साथ ही स्तूपनिर्माण, मूर्तिस्थापना, स्तूप-मूर्ति-पूजा और उपासना, मंत्र, धारणी, बुद्धभक्ति आदि का विपुल विधान भी मिलता है। निर्वाण-प्राप्ति के लिए इनका विस्तृत विधान मिलता है। महावस्तु, सद्धर्मपुण्डरीक जैसे ग्रंथों को इस प्रकरण के लिए देखा जा सकता है।[५] इन विवरणों से स्पष्ट है कि महायान की साधना में अनेक तांत्रिक प्रवृत्तियाँ ही नहीं, अनेक कापालिक प्रवृत्तियाँ भी अनजाने ही प्रवेश कर गई थीं और इस प्रकार तांत्रिक महायान-धर्म साधना का एक रूप क्रमशः प्रकट हो रहा था।

तांत्रिक महायान धर्म में मंत्रों और धारणियों की साधना की प्रमुखता थी अर्थात् महायान में क्रियातंत्र और चर्यातंत्र की ही प्रमुखता थी। असंगबंधु वसुबंधु ने बोधि-सत्वभूमि में चार प्रकार की धारणियाँ मानी हैं—धर्मधारणी (स्मृति, बल और प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए), अर्थधारणी (धर्मों या पदार्थों के अर्थ या भाव जानने के लिए), मंत्रधारणी (सिद्धियों की प्राप्ति के लिए) और क्षांतिधारणी (धर्मार्थों को जानकर उदारता या करुणा की उत्पत्ति के लिए)।[६] डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य का मत है कि 'अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता' जैसे ग्रंथों से क्रमशः विकसित होकर महायान के अन्तिम दिनों में मंत्र सर्वाधिक प्रतिष्ठित हो गया।[७] आचार्य नरेन्द्रदेव का कथन है कि 'धारणी

१. *ए. हि. इ. लि.*, विंटरनित्स, वॉ. २, पृ. ३०७, पादटिप्पणी।
२. *बौद्ध धर्म दर्शन*, पृ. १५०।
३. *शिक्षा समुच्चय*, शांतिदेव, अंग्रेजी अनुवाद, सेसिल बेंडेल, पृ. १३१-१३२।
४. *सुवर्णप्रभाससूत्र*, नंजिओ, चतुर्थ परिवर्त-पापादेशना।
५. *महावस्तु*, ई. सेनार्ट, २.३६२—*ए. हि. इं. लि.*, विंटरनित्स, वॉ. २, पृ. २४५-२४६; *सद्धर्मपुण्डरीक*, २.५३-९६, पृ. ४२-५०; *ए. हि. इं. लि.*, वॉ. २, पृ. २९७-२९८, पृ. ३०३; *सद्धर्मपुण्डरीक*, २.९४-९६, पृ. ४९-५०।
६. *आ. रे. क.*, पृ. २१।
७. *एन. इं. बु. ए.*, पृ. ३०-३१।

रक्षा का काम करती है। जो कार्य वैदिक मंत्र करते थे, विशेषकर अथर्ववेद के, वही कार्य बौद्ध धर्म में धारणी करती है। महायान में धर्मानुयायी सूत्रों को मंत्रपदों में परिवर्तित कर देते थे। अल्पाक्षरा प्रज्ञापारमिता सूत्र धारणी का काम करती है। धारणियों में प्रायः बुद्ध, बोधिसत्व और ताराओं की प्रार्थना होती है। धारणी के अन्त में कुछ ऐसे अक्षर होते हैं, जिनका कोई अर्थ नहीं होता। धारणी के साथ कुछ अनुष्ठान भी होते हैं। अनावृष्टि, रोग आदि के समय धारणी का प्रयोग होता है।[१]

इस प्रकार महायान ने सुखात्मक निर्वाण को लक्ष्य मानकर पारमितासाधन, मंत्रसाधन और योग को स्वीकार किया। इस योगसाधना में ध्यान और समाधि की गणना है, जिनमें चैतसिक साधन ही प्रधान है। प्राणायाम इसमें सहायक है। योगाचार संप्रदाय ने स्पष्टतया योग और आचार को चैतसिक साधना के रूप में विकसित किया। ऐसा प्रतीत होता है कि पारमिता साधन में प्रज्ञा का प्रामुख्य था और माध्यमिक मत में इस पर विशेष जोर दिया गया। इस पारमिता साधन में आगे चलकर धारणी रचना के क्रम से मंत्रों का विकास हुआ। बोधिचित्तोत्पाद की साधना ही वस्तुतः प्रज्ञा और करुणा की समन्वित साधना है। इस संबंध में म. म. डॉ. गोपीनाथजी कविराज के विचार अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और सम्यक् संबुद्ध इन तीन प्रकार के साधकों के बीच महायान ही योगपथ है। यद्यपि उसमें अवान्तर भेद हैं, फिर भी मुख्यतः दो ही धाराएँ हैं—पारमितानय और मंत्रनय। योगाचार और माध्यमिकों में कोई पारमितानय और कोई मंत्रनय ग्रहण करते हैं।[२] ये दोनों ही नय बुद्ध से ही प्रवर्तित हुए थे। दोनों के प्रयोजन भी अभिन्न हैं। फिर भी विभिन्न दृष्टिकोणों से मंत्रशास्त्र का प्राधान्य माना जाता है। महायान में शून्यता, करुणा, परार्थ-सेवा प्रभृति विषयों का तथा योगादि का सविशेष वर्णन उपलब्ध होता है। यह प्रज्ञापारमिता वस्तुतः जगन्माता महाशक्तिरूपा महामाया हैं। महायान धर्म के विकास में शाक्तागम का पूर्ण प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यह महाशक्तिरूपा प्रज्ञा बोधिसत्वों की जननी तो है ही, बुद्धों की भी जननी है। शिव तथा शक्ति में चन्द्र और चन्द्रिका के समान संबंध है, ठीक उसी प्रकार बुद्ध और प्रज्ञापारमिता का संबंध है। विश्व के दुःख के निर्मोचनकर्म में बोधिसत्वगण इसी जननी की प्रेरणा और सामर्थ्य से अग्रसर होते हैं। पारमिता तथा मंत्र का यह नय सर्वत्र ही स्वीकृत है। इस महाशक्ति के अनुग्रह के बिना लोकार्थ-संपादन का कार्य नहीं किया जा सकता। दोनों का लक्ष्य बुद्धत्वलाभ है। ध्यान, ध्यानफल, दृष्टि, करुणा का स्वरूप तथा त्रिकाय-विषयक विचारों में दोनों में कहीं-कहीं मतभेद है। दोनों में ही पारमिताओं की पूर्ति आवश्यक है। दोनों ही नयों में साधना के क्षेत्र में योगाचार अर्थात् योगचर्या का प्राधान्य है; किन्तु दोनों के योग में परस्पर भेद है। दोनों यान बोधिसत्वयान हैं। पारमितानय में करुणा, मैत्री आदि की चर्या प्रधान है। माध्यमिक तथा योगाचार दोनों सम्प्रदायों में पारमितानय का समादर था। पारमितानय का साधन

१. *बौ. ध. द.*, पृ. १७६।
२. *बौ. ध. द.*, भूमिका, कविराज, पृ. २१।

नीति तथा चर्या की शुद्धि पर प्रतिष्ठित हुआ था किन्तु मंत्रनय की साधना आध्यात्मिक योग्यता पर निर्भर थी। मंत्रसाधन प्राचीन वाग्योग का ही एक विशिष्ट प्रकार है। पारमिता नय का विश्लेषण सौत्रांतिक दृष्टि से ही हो सकता है।[१]

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि मूल महायान साधन पारमिता साधन है। इसमें महाकरुणा ही मोक्ष का उपाय है। बुद्धत्व के लिए यत्नवान प्राणी अर्थात् बोधिसत्व को, महायानी ग्रंथों के अनुसार षट्पारमिताओं (दान, शील, क्षांति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा) का साधन करना चाहिए जिनमें प्रज्ञापारमिता का प्राधान्य है (इस प्रज्ञा और प्रज्ञापारमिता की व्याख्या हम पहले ही कर चुके हैं) फिर भी अन्य पारमिताओं का ग्रहण नितान्त आवश्यक है। बिना ध्यान अर्थात्चित्त की एकाग्रता के प्रज्ञा का प्रादुर्भाव नहीं होता, क्योंकि समाहित चित्त होने से ही यथाभूत परिज्ञान होता है जिससे सब आवरणों की अत्यन्त हानि होती है।[२] ज्ञान या प्रज्ञा या परमबोधि की प्राप्ति के लिए जो चर्या की जाती है, वही बोधिचर्या है। बोधि को धारण करने वाला चित्त ही बोधिचित्त है। इस बोधिचित्त के उत्पाद के लिए सप्तविध अनुत्तरपूजा का विधान है। यह पूजा बुद्ध, सद्धर्म और बोधिसत्वगण की होती है; लेकिन यह पूजा भी मनोमय है।[३] तदुपरांत दान, शील आदि पारमिताओं की साधना आरम्भ होती है।[४] बोधिसत्व की उत्कृष्टतम साधना प्रज्ञापारमिता की है। प्रज्ञापारमिता और धर्मधातु पर्याय हैं। इनके आदर के लिए बौद्ध ग्रंथ प्रज्ञापारमिता तथा धर्मधातु के पूर्व भगवती और भगवान् विशेषण जोड़ते हैं। (भग शब्द की पूर्ववर्ती व्याख्या द्रष्टव्य)। यह प्रज्ञापारमिता अक्षय मुद्रा है। इन षट्पारमिताओं के अधिगत होने से ही बोधिसत्व की साधना फलवती होती है।[५] इस प्रकार स्पष्ट है कि यह पारमिता साधन ही मूलतः एवं मुख्यतः महायान साधन है जिसमें ध्यान और समाधि का भी विनियोजन है। इसी पारमिता साधन से और विशेषकर अनुत्तर पूजा के विविध अंगों और प्रज्ञापारमिता साधन के विशिष्ट समन्वय से महायान के अन्तर्गत ही कालान्तर में मंत्रसाधना समन्वित मंत्रयान का विकास हुआ जिसके अवान्तर भेद थे—वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान। ये सब तांत्रिक महायान साधन हैं। यदि कविराजजी के मत को स्वीकार किया जाए तो पारमिता साधन भी तांत्रिक साधन है क्योंकि तांत्रिक उपासना शक्ति की उपासना है।[६]

मंडल का मूल रूप महायान के संगीति ग्रंथों में ही दिखाई पड़ जाता है[७] जिससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् ने गृध्रकूट पर्वत पर सद्धर्मपुण्डरीक नामक वैपुल्यसूत्र

---

१. *बौ. ध. द.*, भूमिका, पृ. २६-२७, २८-२९।
२. *बौ. ध. द.*, नरेन्द्रदेव, पृ. १८४।
३. *वही*, पृ. १८६।
४. *बौ. ध. द.*, नरेन्द्रदेव, पृ. १८८।
५. *वही*, पृ. २०४, २०८, २१२, २१७-१८।
६. *वही*, भूमिका, कविराज, पृ. २८-३४।
७. *सद्धर्मपुण्डरीक*, अनु. डॉ. राममोहनदास, पृ. १-५।

का उपदेश किया था। उस समय वे देवताओं, बुद्धों, बोधिसत्वों, देवियों, भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों से आवृत थे। उनकी पूजा की गई और तदुपरांत उन्होंने अनन्तनिर्देश प्रतिष्ठान नामक समाधि धारण की। उस समय उनका शरीर तथा मन पूर्णरूपेण निष्कम्प एवं एकाग्र थे। समाधि धारण करते ही दिव्य पुष्पों की वर्षा हुई और अनेक चमत्कारपूर्ण सिद्धियों के दृश्य समुपस्थित हुए। उसी समय भगवान् की घनी भौहों के बीच से प्रकाश की एक रेखा निकली और पूर्व दिशा में अठारह हजार बुद्ध क्षेत्रों में फैल गई। तदुपरांत कुमारभूत मंजुश्री ने भगवान् के महोपदेश की भूमिका प्रस्तुत की और फिर भगवान् ने वैपुल्यसूत्र सद्धर्मपुण्डरीक का उपदेश किया।[१]

इस प्रकरण में भगवान् का गुरु-रूप में समुपस्थित एवं पूजित होना, समाधिस्थ होना, अनेक चमत्कारों का प्रदर्शन करना, उनका बुद्धों, बोधिसत्वों, श्रावकादिकों, देवी-देवताओं से आवृत होना और फिर एक महान् रहस्यमय उपदेश को संपन्न करना—ये सभी मंडल का पूर्वरूप प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। एक अन्य महायानसूत्र ग्रंथ 'आर्यमंजुश्रीमूलकरूप' का भी आरम्भ इसी प्रकार हुआ है;[२] किन्तु उसमें इसका इतना विस्तार नहीं है। इसके दो मंडलविधान-परिवर्तों से ज्ञात होता है कि भगवान् 'सर्वसत्वमयानुप्रवेशावलोकिनी समाधि' को ग्रहण करते हैं जिनके नाभि-प्रदेश से रश्मि निकलकर सर्वसत्व, धातुओं को अवभासित करती है। इसमें मंडल का पूरा विधान मिलता है जिसमें विभिन्न देवताओं के आवाहन और प्रतिष्ठापना का विधान भी है और उनके मंत्र और उनकी विस्तृत पूजा का भी।[३] यहाँ मंत्रों का विधान बाह्याचारपरक है। मंडल के तांत्रिक रूप के संबंध में यह ज्ञातव्य है कि यह देवी-देवताओं और अधिष्ठाता अथवा अधिष्ठात्री की एक विशिष्ट मंडलात्मक रचना है। इसमें देवता के प्रकट होने पर उसका आवाहन करना होता है। अव्यक्त अग्नि से जैसे प्रदीप जलाया नहीं जाता, वैसे ही अप्रकट देवता का आवाहन नहीं होता। आवाहन का कारण और साधन ही मुद्रा है। एक-एक प्रकार के आकर्षण के लिए एक-एक प्रकार की मुद्रा की आवश्यकता होती है। देवता प्रकट होकर, आकृष्ट होकर, अपने-अपने गुणानुसार निर्दिष्ट स्थान ले लेते हैं। इसी का नाम मंडल है। मंडल के केन्द्र में अधिष्ठात्री देवता रहती है। चारों ओर वृत्ताकार असंख्य देवी-देव निवास करते हैं।[४] इन लक्षणों के अनुसार भी महायानी ग्रंथों की संगीतियों को मंडल के पूर्वरूप में स्वीकार किया जा सकता है। आगे चलकर इनमें और विकास हुआ। संगीति ग्रंथों में वर्णित प्रमुख देवता ऐश्वर्य 'भग' में विहार करते हुए प्रस्तुत किए जाने लगे। शक्तिवाद के प्रवर्तन के परिणामस्वरूप ही इस प्रकार का परिवर्तन हुआ। हेवज्रतंत्र, गुह्यसमाजतंत्र जैसे ग्रंथों का

---

१. *सद्धर्म पुण्डरीक*, अनु. डॉ. राममोहन दास, पृ. ३-५।

२. *महायानसूत्रसंग्रह*, द्वितीय खण्ड, *आर्यमंजुश्रीमूलकल्प*, पृ. १।

३. *महायानसूत्रसंग्रह*, पृ. ३, १७-३७।

४. *बौ. ध. द.*, भूमिका, पृ. ४४।

भी आरम्भ इसी पद्धति से हुआ।[१] इसी प्रकार अक्षोम्य, रत्नकेतु, अमिताभ, वैरोचन, अमोघसिद्धि, रत्नसंभव आदि का भी विस्तृत मंडलान्तर्गत विधान मिलता है।[२]

६. बौद्ध तांत्रिक साधना और कापालिक साधना

इस प्रकार तांत्रिक साधना के चार महत्त्वपूर्ण तत्त्व (मंत्र, मंडल, शक्ति—प्रज्ञा और योग महायान में यत्किंचित् मूलरूप में विद्यमान थे जिनका विकास आगे चलकर तांत्रिक बौद्ध कापालिक साधना के रूप में हुआ। भगवान् बुद्ध की गुरु (शास्ता) के रूप में उपस्थिति के साथ पृथग्जन, स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् के रूप अधिकार एवं अवस्था का विभाजन-गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेदभाव के सिद्धांत का प्रतिपादन करता है। ये सभी तत्त्व तांत्रिक बौद्ध साधना की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं। महायान की साधना में मंत्रयानी साधना का विकास किस क्रम से हुआ, इसके संबंध में राहुलजी ने तीन क्रमों की ओर निर्देश किया—सूत्र रूप में मंत्र, धारणीमंत्र तथा मंत्र-मंत्र।[३] मंत्रसाधन का ही विकास दो अवस्थाक्रमों में दिखाया गया है—मंत्रयान (नरम—ई. ४००-७०० ई. तक) (२) मंत्रयान (गरम)—वज्रयान (ई. ८००-१२०० ई. तक)। महायान में जब मंत्र, हठयोग और मैथुन का प्रवेश हो गया तो बौद्ध धर्म का वह रूप ही मंत्रयान कहलाया। वज्रयान (—मंत्रयान नरम) में चार चीजें प्रमुख थीं—मद्य, मंत्र, हठयोग और स्त्री। इसके प्रमाण में राहुलजी ने गुह्यसमाजतंत्र, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, ज्ञानसिद्धि जैसे ग्रंथों को उद्धृत किया है।[४] यदि मंत्रयान और वज्रयान संबंधी और सामग्री की परीक्षा की जाए तो उससे यह ज्ञात होता है कि मंत्रयान में मंत्र, मंडल, पूजा और इष्टसिद्धि की प्रधानता थी और अंततोगत्वा इनकी सहायता से निर्वाण की प्राप्ति की जाती थी। वज्रयान वह यान है जिसमें केवल मंत्रों, मंडलों, पूजा-पद्धति की ही नहीं, अपितु वज्र शब्द से अभिव्यक्त एवं विशिष्ट होने वाली सभी वस्तुओं को भी साधन के रूप में व्यवहृत किया जाता था।

वज्र शब्द के भी कई अर्थ हैं। वज्र हीरा है जो सभी प्रकार की कठोर अप्रवेश्य, अच्छेय, अदाह्य, अविनाश्य वस्तुओं का प्रतीक है। वज्र इंद्रास्त्र को भी कहते हैं जिसको धारण करने वाले, बौद्ध पौराणिक कथाओं में, वज्रपाणि के रूप में अवतरित हुए हैं। यह संन्यासियों और भिक्षुओं का वह शस्त्र भी है, जिससे वे विरुद्ध शक्तियों से युद्ध करते हैं। पूर्ण, अनिर्वचनीय, स्वतंत्र सत्य के रूप में माध्यमिकों द्वारा वर्णित शून्य तथा योगाचारियों द्वारा स्वीकृत पूर्ण परम सत्य विज्ञान या चित्त, अविनाशी होने के कारण वज्र है। अन्ततः वज्रयान के कुछ अनुयायियों की रहस्यमयी भाषा में शाक्तों में वज्र का अर्थ पुरुषेन्द्रिय तथैव पद्म का अर्थ स्त्रीन्द्रिय लिया जाता है।[५]

---

१. *हेवज्रतंत्रम्*, राष्ट्रीय अभिलेखालय, कांठमाण्डो हस्तलेख सं. च ६, पृ. १।
२. *श्री गुह्यसमाजतंत्र*, पृ. १-७, प्रथम पटल।
३. *पुरातत्त्व निबंधावली*, पृ. १३७-१३८।
४. *पुरातत्त्व निबंधावली*, पृ. १३९, १४२-१४५ तथा पादटिप्पणी।
५. *ए. हि. इं. लि.*, विंटरनित्स, भाग २, पृ. ३८७-३८८।

कापालिकों की भूमिका के रूप में वज्रयान के साधनात्मक तत्त्वों की यदि परीक्षा की जाए तो गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेद, अभिषेक और दीक्षा, विभिन्न साधनात्मक अवस्थाएँ, देव-देवीमंडल, शक्तितत्त्व, युगनद्ध, मंत्र, मंडल, पंचमकार, मुद्रा, षट्कर्म, योगादि के विविध तत्त्व स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। इनका विस्तृत विचार क्रमशः किया जा रहा है और साथ ही सरहपाद और कृष्णपाद की भी साधना-पद्धति का व्याख्यान किया जाता है।

(क) गुरुशिष्य और अधिकार-भेद—गुरु धर्मोपदेष्टा के साथ ही आध्यात्मिक मार्गनिदेशक भी होता है। गुरु वस्तुतः एक ही होता है। सामान्य मानव गुरु आदिनाथ महाकाल का भौतिक स्तर पर अभिव्यक्त रूप है। यही पार्थिव गुरु में मंत्रदीक्षा के समय अधिष्ठित होकर उनकी वाणी में प्रकट होते हैं। गुरु दीक्षा का मूल है। दीक्षा मंत्र का मूल है। मंत्र देवता का मूल है और देवता सिद्धि का मूल है। गुरु, मंत्र और देव में कोई भेद नहीं है।[१] म. म. पं. गोपीनाथ कविराज ने इस विषय के रहस्य को बड़ी उत्तमता से स्पष्ट किया है। उनके अनुसार गुरु साधनात्मक जीवन में अग्रसर होने के लिए इसी से परमावश्यक है क्योंकि वह ज्ञानदाता तो है ही, वह कर्मदाता और भक्तिरसदाता भी है। वह शिष्यरूपी जीवन के दुःख की निवृत्ति की व्यवस्था करता है। वह अनुग्रहपूर्वक ज्ञान प्रदान कर अज्ञान से उसे विमुक्त करता है। जो विशुद्धतम विवेकज्ञान है, उससे आत्मा की निर्मल स्वरूप में स्थिति होती है। इसे ही केवल अथवा मुक्ति कहा जाता है। कुछ लोग इसे निर्वाण भी कहते हैं। इसके भी आगे की स्थिति में शिव-शक्ति में अथवा जीव और शिव में पार्थक्य नहीं रहता। इस परम स्थिति में प्रतिष्ठित होने में जो सहायता प्रदान करते हैं, वे ही सद्गुरु हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि पहले गुरु स्वयं सम्यक् ज्ञान को अपरोक्ष रूप से प्राप्त कर ले। इस पर भी उसमें दूसरों को यह ज्ञान प्रदान की इच्छा (—कृपा—करुणा) तो होनी ही चाहिए। साथ ही इसमें इच्छाशक्ति अर्थात् इच्छा को क्रिया में परिणत करने वाली सामर्थ्य अथवा शक्ति का होना भी परमावश्यक है अन्यथा केवल इच्छा व्यर्थ होगी। इस प्रकार ठीक-ठीक गुरु रहने पर प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इच्छा और क्रिया का भी योग रहना चाहिए। ऐसा गुरु ही आप्तपुरुष होता है।[२] मनुष्य का बहिर्मुख चित्त अपने कर्मों के संस्कारों के अनुसार बाहरी जगत् में सुख की खोज विफलमनोरथ होकर भी करता ही रहता है किन्तु जन्ममृत्युचक्र में लगातार सुखान्वेषण में चित्त भी दौड़ता रहता है। बार-बार भोग करते-करते, प्रकृति नियम से भोग की मात्रा के पूर्ण होते ही स्वभावतः अन्तर्मुखी गति का सूत्रपात हो जाता है। यह प्रवृत्तिमार्ग के त्याग और निवृत्ति मार्ग के उद्घाटन का सन्धिस्थल है। यही प्रत्यावर्तन का मोड़ है। इसी समय इसी संधिकाल में गुरु किसी प्रकार की देह धारण कर आविर्भूत होते हैं। ऐसी स्थिति में आनन्द से वंचित हताश मनुष्य को नित्य आनन्दपथ दिखाना ही गुरु का कार्य है। जिस उपाय का निर्देश गुरु करते हैं, आश्रय में आया शिष्य उसी उपाय का आलंबन

---

१. *ऐन इं. तं. शा.*, सर जान उडरफ, पृ. ६५-६६।

२. *भा. सं. सा.*, कविराज, भाग १, पृ. २४१-२४४।

कर इष्ट-प्राप्ति के पथ पर आगे बढ़ता है। यह उपाय मंत्ररूप देवता की आराधना है। गुरुदत्त बीज मंत्र साधक के हृदयक्षेत्र में दीक्षादि के सिलसिले में स्थापित होने और शिष्य द्वारा यथाविधि उसकी सेवा और रक्षा होने पर अंकुरित होकर समय पर आकार धारण करता है। आगे चलकर वह साकार देवतामय सत्ता प्रसव व्यापार के अनुरूप, इष्ट देवता के रूप में दृष्टि के सामने प्रकट होती है।[१] इस प्रकार स्पष्ट है कि सामान्यतया सद्गुरु का आश्रय प्राप्त किए बिना साधना के मार्ग में अग्रसर होना असंभव है। इतना ही नहीं, उसे प्राप्त किए बिना जीव को एक साथ ही भोग और मोक्ष की अभिन्नभाव से प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् वह पूर्णत्व को प्राप्त नहीं हो सकता। भोग और मोक्ष की साम्यावस्था ही जीवन्मुक्ति है अथवा भोग और मोक्ष की अनुभूति का सामरस्य ही जीवन्मुक्ति है। बौद्धों ने भी इसे स्वीकार किया था।[२]

बौद्ध तंत्रों में भी गुरु के संबंध में जो विचार मिलते हैं, वे उपर्युक्त सामान्य लक्षणों से भिन्न नहीं हैं। अनंगवज्र ने तत्त्वरत्न की प्राप्ति के लिए स्पष्टतया तंत्रवेत्ता सद्गुरु की भक्ति तथा आदर से पूजा-उपासना करने का निर्देश किया है; क्योंकि सद्गुरु सूर्य है और शिष्य उससे प्रभावित (या उद्दीप्त अग्नि) होने वाला सूर्यकान्त मणि। अर्थात् गुरुरूपी सूर्य की किरणों के संपर्क से शिष्य का चिन्तामणि प्रज्वलित हो उठता है। सूर्य की किरणें ही प्रज्ञा की किरणें हैं। यहाँ गुरु को वज्राचार्य तथा उसकी सेवा अथवा आराधन को वज्राचार्याराधन कहा गया है। वज्रमार्ग का उपदेश देने वाला सद्गुरु ही वज्राचार्य है। तत्त्वरत्न की प्राप्ति के बिना सिद्धि नहीं मिलती, सुविशुद्ध और सत्क्षेत्र के होते हुए भी बीज के अभाव में अंकुर नहीं उत्पन्न होता, इसीलिए ईर्ष्या, मात्सर्य, मान, अहंकार आदि का परित्याग कर सद्गुरु की पूजामंडलपूर्वक सेवा करने का उपदेश किया गया है।[३] सेवा से वज्राचार्य को प्रसन्न कर लेने के बाद शिष्य को नवयौवनसंपन्ना, सुलोचना, विभूषिता मुद्रा के साथ गुरु के पास जाकर इसकी भलीभाँति पूजा करनी चाहिए। गुरु के द्वारा दीक्षित होने पर ही शिष्य बुद्धकुल में सम्मिलित होता है। शिष्य को चाहिए कि वह अत्यंत अनुज्ञापूर्वक इस कृपाकार्य के लिए गुरु का अनुगृहीत हो और यह प्रतिज्ञा करे कि वह बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद त्रैलोक्य को बुद्धपद में प्रतिष्ठित करेगा।[४] जिस साधक के ऊपर गुरु की कृपा रहती है वही उत्तम तत्त्व की प्राप्ति करता है, अन्यथा चिरकाल तक मूढ़ रहकर क्लेश पाता है। गुरु ही बुद्ध, धर्म और संघ है। उसी की कृपा से रत्नत्रय का ज्ञान प्राप्त होता है। अज्ञान के तिमिरांधों के लिए वह मार्गप्रदर्शक है, सभी आनंदों का आश्रय है, सभी प्रकार की इच्छाओं को पूर्ण करने वाला है। उसके समान और कोई पूजनीय और महामुनि नहीं है। इसीलिए सभी प्रकार के प्रयत्न कर व्रती को गुरु की पूजा करनी चाहिए।[५]

---

१. *भा. सं. सा.*, कविराज, भाग १, पृ. २४४-२४६।
२. *वही*, भाग १, पृ. २५३ तथा पादटिप्पणी।
३. *टू व. व.*, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, परि. २, श्लोक ३, ६-९, २४, २६, ३०, ३४।
४. *वही*, पृ. ११-१५, श्लो. ५-८, ९-१८, २९-३७।
५. *वही*, *ज्ञानसिद्धि*, परि. १, पृ. ३३, श्लो. २३-२६।

बौद्ध तंत्रों में गुरु बुद्ध हैं, सुगत हैं, धर्मकाय हैं, मुक्तिदाता हैं। वे शून्यतागर्भ, सर्वसंकल्पवर्जित, सर्वज्ञ, ज्ञानसंदोह एवं ज्ञानमूर्ति हैं। इसी प्रकार अनेक तांत्रिक ग्रंथों में प्राप्त गुरुतत्त्व के विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि गुरुपद ही बुद्धपद है। स्वयं गौतम बुद्ध महागुरु थे। गुरु शिष्य पर कृपा करता है। बिना गुरु-कृपा के प्रज्ञाप्राप्ति असंभव है, साथ ही उत्तम और सच्चा गुरु मिलना भी कठिन है। जो गुरु प्रबुद्ध, सर्वज्ञ, ज्ञानसंदोह नहीं होता वह मिथ्या ज्ञानाभिमानी होता है। वह लोभ से प्रेरित होकर धर्मदेशना करता है।[१] उसी प्रकार शिष्य को दीक्षा के पूर्व पूर्ण ब्रह्मचारी और सभी प्रकार के संयमों का अनुसरण करने वाला होना चाहिए। तांत्रिक ग्रंथों में विभिन्न स्थलों पर शिष्य के लिए अनेक बातें लिखी मिलती हैं। उनमें से अनेक परस्पर-विरोधिनी हैं। अनुमान है कि वे निर्देश भाव और आचार के अनुकूल दिए गए हैं। इन्द्रभूति ने शिष्यों के तीन और अद्वयवज्र ने दो भेद माने हैं। अद्वयवज्र के अनुसार दो प्रकार के शिष्य होते हैं—शैक्ष और अशैक्ष। अशैक्ष अपेक्षाकृत उन्नत वर्ग है और योगतंत्र साधन का अधिकारी होता है।[२] कहीं-कहीं अशैक्षमार्ग को अर्हत् मार्ग कहा गया है और शैक्ष को जन्मचक्र में फँसा, रागद्वेषयुक्त बताया गया है।[३] काजी दवासम दुप के मंत्रयानगत छह विभागों को साधकों अथवा शिष्यों का भी श्रेणी विभाग स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु डॉ. भट्टाचार्य का मत है कि शिष्यों के वस्तुतः क्रियातंत्र, चर्यातंत्र, योगतंत्र और अनुत्तरयोगतंत्र नाम के चार विभाग ही भारत में सामान्यतया स्वीकृत और प्रसिद्ध हैं, छः नहीं।[४] इस दृष्टि से विचार करने पर क्रियातंत्र के साधक स्तूप आदि की पूजा के साथ मंदिरों में मूर्तिपूजा का अनुगमन करते हैं और धार्मिक विधियों के आग्रही होते हैं। चर्यातंत्र यानी व्यावहारिक आचार संबंधी नियमों का पालन करते हैं। योगतंत्रयानी योगाभ्यास करते हैं और अनुत्तरयोगतंत्रयानी उच्चकोटि की मानसिक साधना करने वाले रहस्यवादी होते हैं। योगतंत्रयानी साधक शक्ति-संपर्क में आकर साधन करते हैं जबकि अनुत्तरयोगतंत्रयानी सभी विधि-विधानों से अतीत होते हैं और सिद्ध कहलाते हैं।[५]

गुरु, शिष्य और मंडलचर्या का घनिष्ठ संबंध है। शिष्य की योग्यता किस कुल (द्वेष, मोह, राग, चिंतामणि और समय) के अनुकूल है, इसकी परीक्षा गुरु ही करता है और तदनुकूल तत्कुल में उसे दीक्षा देता है। तदनुरूप पंचध्यानीबुद्धों में से शिष्य की प्रकृति के अनुकूल किसी एक ध्यानी बुद्ध के मंडल का विधान करता है और वही ध्यानीबुद्ध उसके मंडल के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता है। इसका तात्पर्य यह है कि गुरु साधना में भी व्यावहारिक मनोविज्ञान का प्रयोग कर यह कार्य संपन्न करता है। बौद्ध वज्राचार्यों का विभिन्न तंत्रों अथवा तंत्र-पद्धतियों पर अधिकार रहता था और वे शिष्य

१. *टू व. व.*, पृ. १२, ७१-७२।
२. *ऐन इं. बु. ए.*, भट्टाचार्य, पृ. ९५।
३. *बौ. ध. द.*, पृ. ३३०, २७१।
४. *ऐन इं. बु. ए.*, पृ. ९५-९६।
५. *वही*, पृ. ९६।

की मानसिक योग्यता के अनुसार उनका विधान करते थे।[१] हेवज्रतंत्र में गुरु को आचार्य, शास्तृ आदि शब्दों से स्मरण किया गया है। इतना ही नहीं, इस तंत्र के उपास्य भगवान् को भी शास्ता और जगद्गुरु कहा गया है।[२] सेक के लिए शिष्य मुद्रायुक्त गुरु की स्तुति, पूजा आदि करता है और उन्हें महाशांत, वज्रयोगैकतत्पर आदि शब्दों से उनकी स्तुति कर उनसे 'अपने समान ही मुझे भी बनाएँ' इस प्रकार की प्रार्थना करता है।[३] बोलकक्कोल योग (वज्रपद्मयोग) में शिष्य कपालखण्ड को दिव्य मदन (मदिरा) से पूरित कर गुरु की वंदना करते हुए उन्हें समर्पित करता है। वह हाथ की पद्ममुद्रा से उसे समर्पित करता है। और उसी मुद्रा से तदुपरांत, स्वयं उसका पान करता है।[४] सरहपादरचित हेवज्रतंत्र से गुरु और शिष्य का पंचमकारसंयुक्त स्वरूप प्रकट होता है।

सरहपाद ने अपने दोहों में भी गुरु, शिष्य, उनकी योग्यता और उनके संबंध पर विस्तार से विचार व्यक्त किया है। उनके अनुसार गुरु ने जब तक स्वयं ज्ञान न प्राप्त कर लिया हो, तब तक उसे शिष्य नहीं बनाना चाहिए अन्यथा जैसे अंधा अंधे को कुएँ से निकालने में स्वयं भी कुएँ में गिर पड़ता है, उसी प्रकार की स्थिति गुरु और शिष्य दोनों की होती है।[५] योग्य गुरु के प्राप्त हो जाने पर उसके वचनों से शंकाओं के पाश छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।[६] यह गुरु ही वज्रधर है। इस गुरुरूप वज्रधर की आराधना करने पर संसार में प्रवेश नहीं होता।[७] यह गुरु ही सहजामृतरस का अनुभव कराता है, उसे वाक्यों से कहता नहीं है और न शिष्य ही उसे समझ सकता है।[८] अर्थात् गुरु का कार्य है सहजामृतरस का अनुभव कराना (द्रष्टव्य पूर्ववर्ती लक्ष्य संबंधी विवेचन); किन्तु यह तब तक असंभव है जब तक गुरु का बताया हुआ मार्ग शिष्य के हृदय में प्रविष्ट न हो जाए। ऐसा होने पर ही चिन्तामणिरूप सहजस्वरूप हस्तगत हो सकता है।[९] इसलिए गुरुवचनों पर प्रतीति रखनी चाहिए।[१०] केवल गुरु ही ऐसा व्यक्ति है जो निजस्वभाव के कथन में समर्थ है। उसका दर्शन केवल गुरुपदेश से हो सकता है।[११] मन का शोधन भी तभी संभव है जब गुरुवचन हृदय में प्रवेश कर जाए।[१२] गुरुपदेशामृत रस को जो दौड़कर नहीं पीता, वह अनेकानेक शास्त्रों के मरुस्थल में तृष्णार्त होकर मृत्यु को प्राप्त

---

१. *हेवज्रतंत्र*, स्नेलग्रोव, भाग १, इंट्रो, पृ. ३०।
२. *वही*, भाग २, २.३.३।
३. *वही*, २.३.१८-१९।
४. *वही*, २.७.१२-१३।
५. *दोहाकोष*, बागची, पृ. १०, दो. सं. ८।
६. *वही*, पृ. १२, दो. सं. ३।
७. *वही*, पृ. १३, दो. सं. ७।
८. *वही*, पृ. १३, दो. सं. ९।
९. *वही*, पृ. १८, दो. सं. १८ टीका, पृ. ८८।
१०. *वही*, पृ. २२, दो. सं. ३३।
११. *वही*, पृ. २३, दो. सं. ३८।
१२. *वही*, दो. सं. ३९।

करता है। इसीलिए गुरुवचनों में दृढ़ भक्ति होनी चाहिए।[१] कहीं-कहीं उपनिषदों के 'आत्मानं विद्धि' के ढंग के वाक्य भी बौद्ध साहित्य में मिल जाते हैं किन्तु प्रकारान्तर से। बुद्ध के निर्देशों में तो 'आत्मदीपोभव' का विस्तार है। सरहपाद भी आत्मपरिज्ञान के बिना देहानुत्तर तत्त्व की प्राप्ति असंभव मानते हैं।[२] अपने में ही अपने को जानने की साधना में अन्तस्साधनावाद का निर्घोष है।

चर्यापदों में भी सरहपाद ने काया को नौका, मन को पतवार और सद्गुरु के वचनों को यानपाल अथवा केवट के रूप में चित्रित किया है।[३] गुरु के वचनों में विहार कर शून्यता की प्राप्ति करनी चाहिए और उसी शून्य के द्वारा स्वप्नसदृश जगत् में भ्रांत निज मन के दोषों का विदारण करना चाहिए।[४]

कृष्णपाद के अनुसार वज्रगुरु के उपदेश से भवबल निर्जित होता है।[५] उसी के उपदेश से मोहमल छिन्न होता है। इसकी टीका के अनुसार गुरुप्रसाद से ही षोड्श-कलात्मक बोधिचित्तरूपी चंद्र का जब उदय होता है, तब योगीश्वर का चित्तराज अत्यन्त विमल हो जाता है। मतिमान गुरु के उपदेश से मोहादिक आवरणों का नाश हो जाता है और विषयेन्द्रियाँ प्रभास्वर गगन में प्रवेश करती हैं।[६] सरहपाद की तरह ही कृष्णपाद भी सहजतत्त्व की अनिर्वचनीयता बतलाते हैं, यहाँ तक कि गुरु भी शिष्य को उसका उपदेश नहीं करता क्योंकि यह तत्त्व वाक्पथातीत है। जहाँ तक इस तत्त्व के निर्वचन का प्रश्न है, गुरु इस संबंध में मूक रहता है (तुलनीयगुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्) और शिष्य बधिर हो जाता है।[७] मन और इन्द्रियों के बाह्य प्रसार का छेदन एवं संकोच भी गुरु ही संभव करता है। मनरूपी तरु की पाँचों इन्द्रियाँ ही उसकी पाँच शाखाएँ हैं। उसमें आशारूपी बहुत से पत्र एवं फल लगे हैं। श्रेष्ठ गुरु अर्थात् वज्रगुरु के वचनरूपी कुठार से ही उनका इस प्रकार छेदन संभव है कि वे फिर उदित न हो सकें।[८] दोहों और चर्यापदों में व्यक्त सरह और काण्ह के इन विचारों की हेवज्रतंत्र के उक्त विचारों एवं निर्देशों के साथ तुलना करने से यह स्पष्ट होता है कि हेवज्रतंत्र जहाँ बाह्याचार और अंतस्साधना दोनों में व्यक्ति को अग्रसर करता है, वहीं दोहे और चर्यापद केवल अंतस्साधना में ही व्यक्ति को अग्रसर करते हैं, यद्यपि दोनों में ही गुरु का महत्त्व इनके लिए स्वीकृत है।

---

१. *दोहाकोष,* बागची, पृ. २७, दो. सं. ५६-५७।
२. *वही,* पृ. २८, दो. सं. ६०।
३. *चर्यागीतिकोष,* पृ. १२४, चर्यापद संख्या ३८।
४. *वही,* पृ. १२७, चर्यापद संख्या ३१ तथा सं. टीका।
५. *वही,* पृ. ४१, चर्यापद संख्या १२।
६. *चर्यागीतिकोष,* पृ. ८१, चर्यापद संख्या २४ तथा टीका पृ. ८२।
७. *वही,* पृ. १३१, चर्यापद संख्या ४०। सं. टीका पृ. १३३, पा. टि., पृ. १३२।
८. *वही,* पृ. १४७, चर्यापद संख्या ४५, सं. टी. पृ. १४८ तथा पादटिप्पणी; चर्यापद, वसु, पृ. २१५-२१६।

(ख) अधिकारभेदवाद—अधिकार का संबंध साधकों के श्रेणी विभाग से है। सर जान उडरफ ने साधकों के शारीरिक, मानसिक एवं आचारगत गुणों अथवा योग्यताओं को ध्यान में रखकर उन्हें चार वर्गों में विभाजित बताया है—मृदु, मध्य, अधिमात्रक और अधिमात्रम। सर्वोच्च वर्ग अधिमात्रम सभी प्रकार के योगों का अधिकारी होता है। इसी प्रकार कौलों का भी विभाजन होता है—१. प्रकृति कौल (वीराचार का साधन करने वाले जो पंचतत्त्वों से संयुक्त कर तांत्रिक कर्मकाण्ड एवं साधन करते हैं), २. मध्यम कौलिक (जो ध्यान, ज्ञान और समाधि की ओर अपेक्षाकृत अधिक उन्मुख होकर वही साधन करते हैं), और ३. कौलिकोत्तम (जो सभी कर्मकाण्ड एवं क्रिया-विधान से अतीत होकर केवल विश्वात्मा का ध्यान करता है।)[१] सर जान उडरफ के इन विभाजनों से यह स्पष्ट है कि साधकों के क्रमोन्नत साधन क्रम में अधिकार का निर्णय उनके शारीरिक, मानसिक एवं आचारगत सामर्थ्य पर निर्भर करता है। इस अधिकार अथवा साधनागत योग्यता का विचार विशेषकर दीक्षा एवं अभिषेक के समय किया जाता है। गुरु के द्वारा मंत्र का दिया जाना ही दीक्षा है। दीक्षा के समय गुरु के लिए आवश्यक है कि सहस्रारस्थ परम गुरु की प्राणशक्ति को अपने ही शरीर में स्थापित करे। जैसे मूर्ति अथवा प्रतिमा देवता के निवास का एक यंत्र है, उसी प्रकार गुरु का शरीर भी देवताओं के लिए यंत्ररूप है। जैसे एक दीप से दूसरा दीप प्रज्वलित होता है, उसी प्रकार गुरु के शरीर से मंत्रयुक्त दिव्य शक्ति शिष्य के शरीर में संक्रांत होती है। बिना दीक्षा के मंत्रजप, पूजा तथा अन्य क्रियाविधान व्यर्थ हैं।[२]

डॉ. गोपीनाथ कविराज के अनुसार दीक्षा में दो व्यापार मुख्य हैं—एक शिष्य के पाशों का नाश और दूसरा शिवत्वयोजना अर्थात् शिष्य में जो मलिनता है, उसका प्रक्षालन कर उसे शिवस्वरूप में युक्त कर देना। इसमें गुरु की मंत्र शक्ति ही प्रधान साधन है। गुरु भावनासिद्धि होते हैं, अतः क्षेत्रविशेष में उन्हें भावना का भी उपयोग करना पड़ता है।[३] दीक्षा के प्रभाव से ही पशुभाव में स्थित आत्मा पशुत्व से निवृत्त होकर शिवत्व को प्राप्त होता है। इस दीक्षा के विविध भेद हैं। दीक्षार्थी शिष्य के आशय या चित्त में विभिन्न वासनाएँ होती हैं, अतः उनकी दीक्षा प्रणालियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। दीक्षा में योग्यता तथा अधिकार-भेद का प्रश्न सर्वत्र रहता है।[४] यद्यपि दीक्षा, चर्या, ज्ञान तथा योग ये चारों भोग और मोक्ष के साधन हैं, तथापि इनमें किसी अंश में भेद है। यह सत्य है कि इन सभी उपायों से तत्-तत् भुवनों की प्राप्ति हो सकती है परन्तु योग का यह वैशिष्ट्य है कि उसके प्रभाव से भुवनेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। चर्या का फल है कि उससे तत्-तत् भुवनेश्वरों की आराधना अविच्छिन्न रूप से होती है। दीक्षा का फल है कि उससे तत्-तत् भुवनों के साथ योजना होती है एवं ज्ञान

---

१. *ऐन इं. तं. शा.*, उडरफ, पृ. ७२-७३।

२. *वही*, पृ. ६८-६९।

३. *तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि*, कविराज, पृ. २७-२८।

४. *वही*, पृ. ३६, ३९-४०।

के प्रभाव से तत्-तत् भुवनेश्वरों के स्वरूप का तादात्म्य होता है। इन सब में दीक्षा के प्राधान्य का कारण यह है कि इसके बिना ज्ञानादि में अधिकार ही नहीं होता एवं ज्ञान के बिना चर्या तथा योग का अनुष्ठान नहीं हो सकता।[१] दीक्षा स्वतः भोग का उपाय है। इसके बिना शैवयोग में अधिकार नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त मंत्र में भी दीक्षा से ही अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार दीक्षा मोक्ष का साक्षात् उपाय है।[२]

कुछ विशेष प्रकार की दीक्षाएँ अभिषेक कही जाती हैं। सामान्यतया हिन्दू तंत्रों में आठ प्रकार के अभिषेकों का वर्णन मिलता है। क्रमोत्तर अवस्थाओं के अभिषेक उत्तरोत्तर उत्तम दीक्षा की ओर संकेत करते हैं। ये अभिषेक हैं—शाक्ताभिषेक, पूर्णाभिषेक, क्रमदीक्षाभिषेक, साम्राज्याभिषेक, महासाम्राज्याभिषेक, योग दीक्षाभिषेक, पूर्णदीक्षाभिषेक और महापूर्णदीक्षाभिषेक। इस अंतिम अवस्था में सिद्धि प्राप्त होने पर साधक स्वयं अपना श्राद्ध करता है, अपने यज्ञोपवीत आदि की पूर्णाहुति करता है। तब गुरु और शिष्य का संबंध स्थापित हो जाता है। इस बिन्दु से ही वह स्वयं तब तक आरोहण करता है जब तक वह 'सोऽहम्' का साक्षात् नहीं कर लेता। तंत्रों के अनुसार इस जीवन्मुक्त अवस्था में ही वह परमहंस कहा जाता है। वास्तविक साधना का आरम्भ पूर्णाभिषेक से होता है। यह अभिषेक दक्षिणाचार से अतीत है। आसन, यमादि साधक को उत्तरसाधन का अधिकार प्रदान करते हैं। क्रमदीक्षाभिषेक में ब्राह्मणत्व की प्राप्ति होती है और यज्ञोपवीत धारण करता है। छठे अभिषेक तक वह अष्टांग योग के पंचांग का साधन कर पूर्णादीक्षाभिषेक की योग्यता का लाभ करता है। सातवें और आठवें में वह क्रमशः सिद्धि प्राप्त करता है।[३]

कविराजजी ने पूर्वसेक और उत्तरसेक विभाग से बौद्ध वज्रयानगत सात अभिषेकों का विवरण दिया है जिसके अनुसार उदकाभिषेक और मुकुटाभिषेक से देह शुद्धि, पट्टाभिषेक और वज्रघण्टाभिषेक से वाक् शुद्धि, वज्रव्रताभिषेक और नामाभिषेक से चित्तशुद्धि और अंतिम अनुज्ञाभिषेक से ज्ञानशुद्धि होती है। इनमें से अन्तिम तीन अभिषेक विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। पंचम अभिषेक वज्रव्रताभिषेक से रूपादि विषय तथा चक्षुरादि इन्द्रियों का शोधन होता है। ''इससे प्राकृत विषयों के नियंत्रण तथा महामुद्रा की सिद्धि में सहायता मिलती है। छठें नामाभिषेक से रागद्वेष का शोधन होता है और मैत्री आदि ब्रह्मविहारों की पूर्ति होती है। षष्ठाभिषेक के बाद की अवस्था का वज्र शब्द से अभिधान होता है। सप्तम अभिषेक धर्मचक्रप्रवर्तन के लिए या बुद्धत्वलाभ के लिए है। इन सात अभिषेकों से शिष्य के कायादि चार वज्र शुद्ध हो जाते हैं। उस समय उसके हाथ में धारण करने के लिए वज्र या वज्रघंटा होता है।'' ये सात अभिषेक पूर्वसेक के अन्तर्गत हैं। उत्तरसेक के अन्तर्गत कुम्भाभिषेक या कलशाभिषेक, गुह्याभिषेक और प्रज्ञाभिषेक नामक तीन अभिषेकों की गणना की जाती है। इनसे

---

१. *तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि*, कविराज, पृ. ४०।

२. *वही*, पृ. ४०-४१।

३. *ऐन इं. तं. शा.*, पृ. ६९-७१।

लोकोत्तर सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और ये परमार्थ के अनुकूल हैं। उत्तरसेक के बाद भी एक सेक है जिसे अनुत्तरसेक कहते हैं। यही वास्तविक परमार्थ सेक है। मुद्रा की दृष्टि से पूर्वसेक में मुद्रा की आवश्यकता नहीं होती किन्तु उत्तरसेक के लिए मुद्रा आवश्यक है। 'अनुत्तरसेक के लिए कुछ कहना ही नहीं है।'[१] इसका तात्पर्य यह है कि अनुत्तरसेक के लिए बाह्य मुद्रा की कोई आवश्यकता नहीं है।[२] उसमें आन्तरिक मुद्रा ही रहती है। इस प्रकार बौद्ध वज्रयानी अभिषेक के तीन विभाग हुए—पूर्वसेक, उत्तरसेक और अनुत्तरसेक। इन तीनों के उपविभागों के विवरणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें क्रमनिविष्ट स्थूल से सूक्ष्म साधना का विकास दिखाई पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जैसे त्रिभाव और सप्ताचार में दिखाई पड़ता है। इन सेकों अथवा अभिषेकों का बिन्दुसाधन से घनिष्ठ संबंध है, जिसका विवेचन आगे किया गया है।

वज्रयान के विभिन्न ग्रंथों में अभिषेक और सेक का विस्तार से वर्णन मिलता है, विशेषकर उत्तरसेक का जिसमें मुद्रा अनिवार्य है। वज्रयान में प्रत्येक साधक के साथ एक-एक शक्ति की आवश्यकता बताई गई है। उसी को प्रज्ञा भी कहा जाता है। प्रज्ञा, शक्ति या मुद्रा सर्वगुणसंपन्ना, योगनिपुणा तथा सुन्दरी होनी चाहिए। प्रायः षोडशवर्षीया मुद्रा का विधान मिलता है। गुरु तथागतों की साक्षी देकर दोनों का अभिषेक करता है। यही प्रज्ञाभिषेक है। गुह्यसमाजतंत्र के अनुसार शक्ति के बिना, अन्य किसी माध्यम से बुद्धत्व प्राप्ति असंभव है। अतः शिष्य को उसे कभी न त्यागने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। समस्त सांसारिक पदार्थ द्वयतायुक्त लक्षित होते हैं, यद्यपि वे तत्त्वतः अद्वय हैं। इसीलिए अद्वययोग की सहायिका इस विद्या को कभी न छोड़ना चाहिए। इसी को विद्याव्रत कहते हैं। जो व्यक्ति इस विद्या को अस्वीकार कर देता है, वह कभी भी उत्तम सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता।[३] अद्वयवज्र ने प्रेमपंचक में साधक और साधिका अथवा प्रज्ञा की वर और वधू के रूप में कल्पना करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि दोनों के वियुक्त होने पर दोनों ही निष्क्रिय और अशक्त हो जाते हैं।

प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि के अनुसार अनुभवी गुरु ही इन दोनों में दीपक और उसके आलोक के समान अद्वयत्व स्थापित करता है।[४] स्पष्ट है कि यह कार्य अभिषेक के द्वारा ही संपन्न होता है। इस अभिषेक-क्रिया में शिष्य अथवा साधक अपनी मुद्रा के साथ गुरु के पास जाता है, उसकी पूजा करता है, प्रार्थना करता है। गुरु प्रसन्न होकर अभिषेक करते हैं। तभी से शिष्य बुद्ध कुल में सम्मिलित होता है। बिना अभिषेक के बुद्धत्वप्राप्ति असंभव है। वज्रगुरु या वज्राचार्य के द्वारा वज्रमुद्रा के साथ साधक के किए गए अभिषेक को वज्राभिषेक कहते हैं। यह अभिषेक अनेक प्रकार के अभिषेकों के बाद होता है। इसके बाद शिष्य अथवा साधक अपनी मुद्रा के साथ मंडल में प्रवेश कर

---

१. *भा. सं. सा.*, भाग १, पृ. ५३६-५३७।

२. *वही*, पृ. ५५६-५५७।

३. *गुह्यसमाजतंत्र*, पृ. १६१ तथा *हेवज्रतंत्र*, स्नेलग्रोव, भाग २, पृ. ५४, २.२.१३।

४. *अद्वयवज्रसंग्रह*, शास्त्री, पृ. ५८; *टू. व. व.*, पृ. ५, श्लो. १५-१७।

साधना आरम्भ करता है। इस साधना में साधक अपने को बुद्ध और अपनी मुद्रा को प्रज्ञा का अवतार समझता है।[१] ऊपर कविराजजी के प्रमाण पर बौद्ध अभिषेक का जो क्रम प्रस्तुत किया गया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि सेकक्रिया वस्तुतः शुद्धि की क्रिया है। इसीलिए बौद्धयोग में चार प्रकार की विशुद्धियों की भी चर्चा मिलती है जो उत्तम निम्नक्रम से इस प्रकार है—ज्ञानविशुद्धि, चित्तविशुद्धि, वाग्विशुद्धि और कायविशुद्धि। इन विशुद्धियों अथवा सेकों के उपरांत ही गुरु वज्र और घंटा शिष्य के हाथ में देता है और इस प्रकार शिष्य को बुद्धकुल में सम्मिलित करता है। हेवज्रतंत्र में चार प्रकार के अभिषेक का विधान एवं विवरण मिलता है—आचार्याभिषेक, गुह्याभिषेक, प्रज्ञाभिषेक और चतुर्थाभिषेक। इनमें से प्रथम को कलशाभिषेक भी कहा जाता है। इसमें छः उपाभिषेक भी अन्तर्भूत हैं। प्रथम आचार्याभिषेक में तथा क्रमशः अन्य तीन अभिषेकों में चार मुद्राओं का विधान मिलता है। कृष्णवज्रपाद ने योगरत्नमाला में जिन-जिन अभिषेकों में इन मुद्राओं (कर्ममुद्रा, समयमुद्रा, धर्ममुद्रा और महामुद्रा) का विनियोग होता है, उनका योगिनीतंत्र के आधार पर विस्तार से विवेचन किया है।[२] इनमें से अंतिम और श्रेष्ठतम मुद्रा महामुद्रा है जिसका साधन चतुर्थाभिषेक में होता है। इस चतुर्थाभिषेक का हमारे विवेच्य विषय की दृष्टि से विशेष महत्त्व है; क्योंकि सरहपाद और कृष्णपाद जैसे सिद्धों की साधना इसी महामुद्रा की ही साधना थी। कृष्णपाद ने इस चतुर्थाभिषेक का जो विवरण दिया है, उसके अनुसार यह अभिषेक तथता, भूतकोटि, धर्मधातु है। यद्यपि इन विभिन्न नामों का प्रयोग किया जाता है किन्तु इनके अर्थ में कोई अन्तर नहीं। इस अभिषेक से सर्वधर्मों के तथाभाव का साक्षात्कार होता है, इसीलिए इसे तथता कहते हैं। इसके पूर्व के अभिषेकों में गुरूपदेश और बाह्य मुद्रा दोनों की आवश्यकता पड़ती है और इन दोनों की सहायता से अनालम्बन योग का साधन करते हुए साधक चतुर्थाभिषेक प्राप्त करता है जिसमें पुनः गुरूपदेश की आवश्यकता नहीं रहती। वस्तुतः इस अवस्था में कथन हो ही नहीं सकता क्योंकि यह वाग्गोचरातीत है। इस प्रकार के सेक से सकल मलापकर्षण हो जाता है। इस अभिषेक से महामुद्रासिद्धि हो जाती है।[३]

सरहपाद और कृष्णपाद ने महामुद्रासिद्धि प्राप्त की थी अतः निश्चयतः चतुर्थाभिषेक से ही उन्हें यह सिद्धि मिली होगी। तारानाथ के इतिहास से इसका प्रमाण मिलता है कि महामुद्रासाक्षात्कार में सर्वप्रथम स्थान सरहपाद का है।[४] कृष्णपाद के छह

---

१. *एन इं. ता. बु.*, दासगुप्त, पृ. १७५-१७६।

२. *हेवज्रतंत्र*, स्नेलग्रोव, भाग १, इंट्रो. पृ. ३४-३५, ग्लासरी, पृ. १३१-१३३, भाग २, *योगरत्नमाला*, पृ. १०७-१०९, 'इत्यादिना भगवतः सेकेष्वत्र मलक्षालनम् अभिप्रेतम्।' *हेवज्रतंत्र*, भाग २, पृ. ५४, २.३.१०-११।

३. *हेवज्रतंत्र*, भाग २, पृ. ४, १.१.२३-३०, *योगरत्नमाला*, पृ. १०७-१०९, १.१, भाग १, ग्लासरी, पृ. १३२-१३३।

४. *मि. टे. ला. ता.*, पृ. २-३।

शिष्यों ने भी उनके जीवनकाल में ही महामुद्रासिद्धि प्राप्त कर ली थी।[१] सरह और कृष्णपाद के चर्यापदों की टीका से भी इसका समर्थन होता है। इन चर्यापदों में अथवा इनकी टीका में अभिषेकों का उल्लेख अथवा वर्णन नहीं मिलता। सरहपाद के एक चर्यापद की टीका में यह कहा गया है कि गुरुप्रसाद से परमार्थरूपा महामुद्रा की सिद्धि की प्राप्ति होती है।[२] इसी प्रकार एक चर्यापद में कृष्णपाद कहते हैं, हे डोम्बी! मैं तेरे साथ अभिष्वंग करूँगा। मैं नग्न, निर्घृण, कापालिक योगी हूँ। इसकी टीका में मुनिदत्त ने स्पष्ट किया है कि कृष्णपाद निर्घृण कापालिक योगी थे अर्थात् लज्जादि दोषों से रहित थे। इसलिए उन्होंने निरन्तरभाव से प्रज्ञोपायात्मिका महामुद्रासिद्धि प्राप्त की। इस महामुद्रासिद्धि के प्रमाण में उन्होंने हेवज्र को उद्धृत किया है।[३] इस संबंध में दो-तीन बातें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम तो यह कि चर्यापदादि सभी अभिषेकों से अतीत अवस्था की अभिव्यक्तियाँ हैं, इसलिए उनमें उपर्युक्त अभिषेकों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। दूसरे, यह अवस्था, सभी विधि-विधानों, कर्मकाण्डादि से परे है अत: उनमें अभिषेक जैसे कर्मों का उल्लेख नहीं है। तीसरे, महामुद्रासिद्धि संबंधी जो संकेत मिलते हैं केवल उन्हीं के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि ये अभिव्यक्तियाँ चतुर्थाभिषेकोत्तर हैं।

कृष्णपाद की साधना-पद्धति का स्वरूप तांत्रिक बौद्ध साधना-पद्धति से सामान्यतया भिन्न है किन्तु उसमें कुछ वैशिष्ट्य अवश्य है। जैसा हमने पहले देखा है, तांत्रिक बौद्ध दर्शन की दृष्टि से कृष्णपाद में कोई पार्थक्य नहीं दिखाई पड़ता अथवा यों कहा जा सकता है कि कृष्णपाद का दर्शन महासुखवादी दर्शन है। निर्वाण के महासुखात्मक रूप को लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर तांत्रिक बौद्ध साधना ने प्राचीन महायान साधना की परम्परा का ही विकास किया। इसलिए तांत्रिक बौद्ध-साधना के विकास के साथ ही कृष्णपाद ने भी उसका विकास किया। साम्प्रदायिक विचार के प्रकरण में बौद्ध कापालिक उपसम्प्रदाय के वैशिष्ट्य और उसकी परम्परा का उल्लेख हमने किया है। उसी प्रकार साधना में भी कृष्णपाद ने अपने कापालिक वैशिष्ट्य का नियोजन किया किन्तु उसका प्रमुख स्वरूप तांत्रिक बौद्ध साधना का ही रहा।

सरहपाद की साम्प्रदायिक परम्परा में जालंधरपाद और कृष्णपाद की अवस्थिति का विचार हम कर चुके हैं। उसी के प्रकाश में हेवज्रसाधना के कापालिक विकास का निरूपण करते हुए हम इस पर विचार करेंगे। पूर्वविचार के समान ही साधन विचार में ही हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला के साथ ही सरह और कृष्णपाद के चर्यापद और दोहाकोष प्रमुख आधार होंगे। इस प्रकरण में हमें सर जान उडरफ का पूर्वोक्त कथन विशेष रूप से ध्यातव्य होगा जिसमें उन्होंने कौलिकों का साधनाक्रम से विभाजन किया है। उक्त विभाजन में कौलिकोत्तम सभी प्रकार के कर्मकाण्ड एवं क्रियाविधान से अतीत होकर

१. *मि. टे. ला. ता.,* पृ. ४०।

२. *चर्यागीतिकोष,* बागची तथा शास्त्री, पृ. १०५, २३ तथा टीका पृ. १०७।

३. *वही,* पृ. २३, च. सं. १० तथा टीका, पृ. ३५।

केवल विश्वात्मा का ध्यान करता है।[१] कृष्णपाद कापालिक थे। कौलों की वीराचारता प्रसिद्ध है किन्तु कौलिकोत्तम की साधना निश्चय ही दिव्यभाव की साधना है। कृष्णपाद ने अपने को कापालिक कहा है।[२] साधनस्वरूप का जो क्रम हमें कौलों के उपर्युक्त विभाजन में दिखाई पड़ता है, उसका दर्शन हमें कृष्णपाद की रचनाओं में भी होता है। उनमें क्रमिक विकास है। वज्रयान और सहजयान के संबंधविवेचन के प्रकरण में इस पर विचार किया जा चुका है। तात्पर्य यह है कि कृष्णपाद की संस्कृत रचनाओं में पंचमकारसंयुक्त कर्मकांडीय विधान तो दृष्टिगोचर होता ही है साथ ही साधना के सूक्ष्मतम दिव्य भावात्मक स्वरूप का भी दर्शन होता है। वज्रयान और सहजयानगत साहित्य के आधार पर किए गए साधनात्मक विवेचन से इस पर प्रकाश पड़ेगा।

ऊपर गुरुशिष्यसंबंध और अधिकार के साथ ही अभिषेक और दीक्षा के संबंध में जो विचार प्रस्तुत किए गए हैं उनसे निष्कर्ष निकलता है कि साधक की चित्तवृत्ति का ही साकार रूप देवता है। उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। सिद्धांततः भी प्रमाता के अतिरिक्त प्रमेय की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। इसीलिए परमोच्च साधनावस्था में साधक स्वयं अपनी ही पूजा-उपासना करता है क्योंकि साध्य और साधक में एकान्त अद्वैत हो जाता है फिर साधक और साध्य को पृथक्-पृथक् पुकारना असत्य भाषण करना है। इसे देखते हुए यह स्पष्ट है कि साधना के विचार के आरंभ में सर्वप्रथम तांत्रिक बौद्ध देवता का संक्षिप्त विचार कर लेना लाभकर होगा।

(ग) देवता—तांत्रिक बौद्ध देवताओं का स्वरूप महायान के दार्शनिक तत्त्वों और विचारधाराओं पर प्रतिष्ठित है। विशेषकर यह माना जाता है कि बौद्ध देवता शून्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।[३] डॉ. भट्टाचार्य के इस कथन में साधक की चित्तवृत्ति अथवा आध्यात्मिक स्फूर्ति का कोई स्थान नहीं दिखाई देता, जबकि उनके इस कथन के मूलाधार अद्वयवज्र के श्लोक में स्पष्टतया स्फूर्ति शब्द का प्रयोग किया गया है और निःसंदेह यह स्फूर्ति शून्य के ध्यान में होने वाली साधक की स्फूर्ति है। साधनात्मक दृष्टि से साधक की स्फूर्ति का ही महत्त्व है। दर्शन की दृष्टि से देवता की शून्य-स्वभावता अथवा शून्यतात्मकता संगत है। डॉ. भट्टाचार्य ने अद्वयवज्रसंग्रह के आधार पर यह बताया है कि प्रथमतः शून्यता का साक्षात्कार होता है। दूसरी अवस्था में उसका बीज से संबंधस्थापन होता है। तीसरी में मूर्ति की स्वरूपधारणा होती है और चौथी में देवता का बाह्य प्रकाशन होता है।[४] इसमें भी साधक की साक्षात्कारवृत्ति की प्रधानता है।

वज्रयान के देवता अकनिष्ठ स्वर्ग में निवास करते हैं जो रूप स्वर्गों में सर्वोच्च है। ये देवता कभी-कभी तथागतों के समतुल्य वर्णित होते हैं। ये तथागत पंचध्यानी बुद्ध हैं। ये पंचध्यानीबुद्ध उन पंचस्कंधों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) के मूर्त

---

१. इसी परिच्छेद में अधिकार और श्रेणीविभाग संबंधी प्रकरण द्रष्टव्य।

२. *चर्यागीतिकोष*, च. सं. ९, १०, ११, १८ आदि।

३. *ऐन इं. बु. ए.*, भट्टाचार्य, पृ. १०९, इ. बु. इं., भट्टाचार्य, इंट्रो. पृ. २५।

४. *ऐन इं. बु. ए.*, पृ. १०९-११० तथा पादटिप्पणी।

रूप हैं जिन पर उनका अधिष्ठान है। पंचस्कंधों के क्रम में इन पंचध्यानी बुद्धों के नाम हैं—वैरोचन (रूप), रत्संभव (वेदना), अमिताभ (संज्ञा), अमोघ-सिद्धि (संस्कार) और अक्षोभ्य (विज्ञान)। इन पंचस्कंधों में से जो भी स्कंध प्रधान होता है, देवता उसी अधिष्ठाता ध्यानी बुद्ध का उद्‌भव माना जाता है और उसके शीर्ष भाग पर उसी ध्यानी बुद्ध की लघु प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है। शेष ध्यानी बुद्ध उस अधिष्ठाता ध्यानी बुद्ध के शीर्ष भाग के प्रभामंडल के चारों ओर प्रदर्शित होते हैं। प्रत्येक ध्यानीबुद्ध का वर्ण निश्चित है और उसके कुल में अन्तर्भूत सभी देवी-देवता भी इसी वर्ण को धारण करते हैं। इसके अपवाद भी मिलते हैं। कभी-कभी भिन्न क्रियाविधानों में उनके वर्ण, आसन, रूप आदि में भी विभिन्नता पाई जाती है। बौद्ध देवियों और देवताओं की संख्या बहुत अधिक है और इसका कारण यह है कि बौद्ध साधकों एवं पूजकों की श्रद्धा और प्रयोजनों के अनुसार मूर्तिकारों और चित्रकारों ने देवताओं के मुख, हाथ आदि की संख्या, वर्ण आदि में बहुत परिवर्तन किए हैं। इस प्रकार देवताओं और देवियों की संख्या में वृद्धि होती रही है।[१] यद्यपि इनमें से अनेक देवताओं के रूप भयंकर दिखाई पड़ते हैं तथापि बौद्ध तंत्र-ग्रंथ यह मानते हैं कि आन्तरिक दृष्टि से ये देवता करुणायतन होते हैं।[२]

इन ध्यानी बुद्धों के संबंध में यह प्रतिष्ठित सिद्धांत है कि ये पंच स्कंधों के अधिष्ठाता हैं। इनके कुलों के अलग-अलग नाम भी बताए जाते हैं। वे कुल हैं—द्वेष, मोह, राग, चिंतामणि और समय।[३] ये पंचध्यानी बुद्ध कालान्तर में स्वतंत्र आद्य देवता के रूप में प्रतिष्ठित होते गए जिसका परिणाम यह हुआ कि वज्रयान बहुदेववादी धर्म के रूप में विकसित होने लगा था जबकि उस समय अन्य संप्रदाय एकदेववादी संप्रदायों के रूप में विकसित हो रहे थे। अतः बौद्ध वज्रचार्यों ने वज्रधर को एक आद्य देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया और इस प्रकार वज्रयान एकदेववादी संप्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इन्हें पंचध्यानी बुद्धों का भी मूल स्रोत स्वीकार किया गया। इसी सिद्धांत को आदि बुद्ध सिद्धांत कहा गया। बाद में विभिन्न उपसंप्रदायों के विकसित होने पर पंच ध्यानीबुद्धों में से ही किसी एक को आदि बुद्ध मान लेने की प्रवृत्ति चल पड़ी।[४] ये पंच ध्यानीबुद्ध एक विशेष प्रकार के बुद्ध हैं जिन्हें बोधिसत्वावस्था में नहीं आना पड़ा। ये सृष्टि-कार्य से मुक्त, शान्तिपूर्ण ध्यान में मग्न रहते हैं और बुद्ध से किसी प्रकार न्यून नहीं होते। इनके अतिरिक्त एक छठें ध्यानीबुद्ध की भी कल्पना मिलती है जो पंच ध्यानीबुद्धों के पुरोधा के रूप में स्वीकृत हैं। इसीलिए पुरोधानुरूप उनके हाथ में वज्र और घंटा प्रतीक रूप में रहते हैं। ये पंचस्कंधों की समवायमूर्ति के रूप में भी स्वीकृत है।[५] इन सभी ध्यानीबुद्धों के कुलों के निश्चित बोधिसत्व हैं जिनकी निश्चित

१. *ऐन इ. बु. ए.*, पृ. ११०-१११, *इं. बु. इ.*, पृ. ३४।

२. *वही*, पृ. १११-११३।

३. *वही*, पृ. १२०।

४. *वही*, पृ. १२७-१२८।

५. *वही*, पृ. १२९ तथा इं. बु. इ., पृ. ४७।

शक्तियाँ भी हैं जिनके माध्यम से इनके कुलों का विकास होता है। इनका विवरण महत्त्वपूर्ण है।[१] (सारिणी द्रष्टव्य)

इन कुलों में अनेक देवी-देवता ऐसे हैं जो कपाल धारण करते हैं, शवारूढ़ रहते हैं, मुण्डमाल धारण करते हैं, श्मशानवास करते हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक कापालिक लक्षण उनमें मिलते हैं। उदाहरण के लिए द्वेष कुल के अधिष्ठाता ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य त्रिनेत्रधर, व्याघ्रचर्मधारी, मुण्डमाल एवं कपालधारी हैं तथा साथ ही सर्पों के भी आभूषण धारण करते हैं। इसी कुल के हेरुक नामक देवता के एक रूप का नाम बुद्धकपाल है। द्विभुज हेरुक अर्द्धपर्यंकासन में नृत्य करते समय शवारूढ़ रहते हैं तथा हाथों में वज्र और मानवरक्तपूरित कपाल धारण करते हैं। युगनद्धमुद्रा में इनकी शक्ति भी हाथों में कर्त्रिका और कपाल धारण करती है। यज्ञोपवीत की तरह मुण्डमाल धारण करते हैं। युगनद्धमुद्रा में इनकी शक्ति भी हाथों में कर्त्रिका और कपाल धारण करती है। हेरुक का चतुर्भुज युगनद्धात्मक रूप बुद्धकपाल है और यह रूप हाथों में खट्वांग, कपाल, कर्त्रिका और डमरू धारण करता है।[२] इसी कुल के यमारि प्रत्यालीढ मुद्रा में मानवरक्तपूरित कपाल, मुण्डमण्डित दण्ड, सर्पाभरण और व्याघ्रचर्म धारण करते हैं। इनकी शक्ति भी प्रत्यालीढ मुद्रा में व्याघ्रचर्म धारण करती है और मदिरा से मत्त रहती है।[३] इसी प्रकार इसी कुल की देवी एकजटा और नैरात्मा में न्यूनाधिक मात्रा में ये तत्त्व मिलते हैं।[४] मोहकुल में मारीची और वज्रवाराही, रागकुल में कुरुकुल्ला और चिन्तामणि कुल में उच्छुष्म जंभल नाम के देवी-देवता भी कापालिक तत्त्वों एवं लक्षणों से सम्पन्न हैं।[५]

तांत्रिक बौद्ध देवी-देवताओं के प्राप्त विवरण से कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—(१) तांत्रिक बौद्ध देवी-देवताओं में अनेक ऐसे हैं जो कापालिक लक्षणों से संपन्न हैं। (२) प्राय: भयंकर क्रिया एवं प्रयोजन वाले देवी-देवता ही इस प्रकार के कापालिक लक्षण धारण करते हैं। (३) द्वेष कुल के अधिकांश देवी-देवता इन लक्षणों से सम्पन्न हैं और उनमें कापालिक तत्त्व सर्वाधिक प्रतीत होते हैं। (४) इनमें मद्य, मांस, मैथुन और मुद्रा (शक्ति, हस्तमुद्रा और विशिष्ट आसन तीनों अर्थों में) का विपुल आयोजन है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि तांत्रिक बौद्ध देवी-देवमंडल में कापालिक तत्त्वों की विद्यमानता से यह संकेत मिलता है कि यद्यपि कापालिक देवी-देवता वज्रयान में विद्यमान थे किन्तु सरहपाद ने हेवज्रतंत्र में और कृष्णवज्रपाद ने अपनी योगरत्नमाला में इन देवताओं के स्वरूप एवं साधन पर विशेष जोर दिया। परिणामत: इनकी रचनाओं में कापालिक तत्त्व प्रमुख हो उठा। हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला के उपास्य देव तथा उनकी शक्ति का हम पहले ही संप्रदाय विवेचन से प्रसंग में विस्तार से परिचय दे चुके हैं।

---

१. इं. बु. ए., पृ. १०१, १३६, १४०, १४३, १४४; इं. बु. इ., पृ. ४९, ५१, ५३, ५५, ७३; ऐ. इं. *ता.* बु., पृ. ९७।
२. इं. बु. ए., पृ. १३१-१३२।
३. *वही*, पृ. १३३।
४. *वही*, पृ. १३४-१३५।
५. *वही*, पृ. १३८-१४०, १४२, १४४।

ध्यानी-बुद्ध-मंडल

ध्यानी बुद्ध	कुल	वर्ण	मुद्रा	वाहन	चिह्न अस्त्र	कुल के बोधिसत्व	बोधिसत्व की शक्ति	कुल के मानव बुद्ध	स्कंध	बीज	स्तूप में दिशा	भूत, गुण, ज्ञानेन्द्रिय	शरीर में स्थिति
१. अक्षोभ्य	द्वेष	नील	भूस्पर्श	गज	वज्र	वज्रपाणि	लोचना	कनकमुनि	विज्ञान	य/हूँ	पूर्व	वायु, स्पर्श, त्वचा	हृदय
२. वैरोचन	मोह	शुक्ल	धर्मचक्र	नक्र (ड्रेगन)	चक्र	समन्तभद्र	वज्रधात्वी-श्वरी	क्रकुच्छंद	रूप	अ/ओं	मध्य	व्योम, शब्द, श्रवणेन्द्रिय	शीर्ष
३. अमिताभ	राग	लोहित	समाधि	मयूर	पद्म	पद्मपाणि	पाण्डरा	गौतम	संज्ञा	व/अ/: ह्रीं:	पश्चिम	अप्, रस, जिह्वा	मुख
४. रत्नसंभव	चिंता-मणि	पीत	वरद	अश्व	मणियाँ	रत्नपाणि	मामकी	काश्यप	वेदना	र/स्वा/त्रा	दक्षिण	तेजस्, रूप, नेत्र	नाभि
५. अमोघसिद्धि	समय	हरित	अभय	गरुड	विश्व-वज्र	विश्वपाणि	आर्यतारा	मैत्रेय	संस्कार	इ/हा/खं	उत्तर	क्षिति, गन्ध, घ्राण	पाद

इन देवताओं के पूजा-विधान और मंत्रप्रयोग का तांत्रिक बौद्ध साहित्य में विपुल विस्तार है। हिन्दू देवताओं की पूजा में जिस प्रकार षोडशोपचार का विधान है, उसी प्रकार बौद्ध देवताओं के लिए लिखे साधनों में भी मिलता है। साधनमाला जैसे ग्रंथों में क्रियातंत्र का विविध देवताओं के अनुसार पृथक्-पृथक् विवरण मिलता है। यह तांत्रिक बौद्ध साधना के आरंभिक साधकों के लिए उपजीव्य है। उदाहरण के लिए, अपने विषय के अनुकूल बुद्धकपालसाधन का संक्षेप में यदि विचार किया जाए तो उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जाती है। इस साधन में द्वेष कुल के हेरुक नामक देवता के एक रूप बुद्धकपाल के साधन का विधान किया गया है। जब हेरुक चित्रसेना नाम की शक्ति से संपरिष्वक्त होते हैं, तब उनका नाम बुद्धकपाल होता है। वे एक मुखात्मक, चतुर्भुज, खट्वांग-कपाल-कर्त्रिका-डमरूधारी होते हैं।[१] इनके साधन में सर्वप्रथम मंत्री (मंत्रसाधक) मनोनुकूल भू-भाग में जाकर अमृतों से उसका लेपन कर उसकी साधनानुकूल रचना करता है। इसके बाद वहाँ स्थित होकर वह अनेक प्रकार के ध्यान करता हुआ स्वभावशुद्धादि मंत्रों का उच्चारण कर निस्तरंग सूर्याक्रांत अष्टदलपद्म की विभावना करता है। सूर्य के अक्षरद्वय का न्यास करता है। हुँकार के साथ अपने को प्रज्ञालिंगत एवं पंचविंशति योगिनियों से परिवेष्ठित हेरुक समझता हुआ साधन करता है। गीतोच्चारणोपरांत युगनद्धात्मक बुद्धकपाल का ध्यान करता है। बुद्धकपाल महावीर, घोरसंहारकारक, नीलवर्ण, महावपु, अस्थ्याभरणधारी, अर्द्धपर्यंकावस्था में नृत्यरत, मुंडमालाविभूषित, मुकुट में अक्षोभ्य को धारण करने वाले, एकवक्त्र, चतुर्भुज, बाएँ हाथों में खट्वांग और कपाल धारण करने वाले, दाहिने हाथों में कर्त्रिका और डमरू धारण करने वाले और प्रज्ञालिंगित हैं। उनके वामभाग में उनकी शक्ति चित्रसेना उन्हें आलिंगित किए हुए है जो मत्ता, नग्ना और मुक्तकेशी हैं और बार-बार देवता को चुम्बित कर रही हैं (चित्र द्रष्टव्य)। इस प्रकार बुद्धकपाल के समान अपना ध्यान करते हुए मंत्री साधन करता है।[२] तदुपरांत इस साधन में मंडल का विवरण दिया गया है जिसके अनुसार विभिन्न दिशाओं में २४ योगिनियाँ (साधन में २५ योगिनियों की संख्या दी गई है) उन्हें घेरे हुए हैं। इसके साथ ही चार द्वारपालिनी मंडल के चार द्वारों पर प्रतिष्ठित की गई हैं। सभी देवियाँ हाथ में कर्त्रिका और दाहिने हाथ में कपाल धारण करती हैं। सभी एकवक्त्रा, नीलवर्णा, अस्थ्याभरणा, पिंगोर्द्ध्वकेशा हैं।[३] इसमें जिस मंत्र के जाप का विधान किया गया है, वह है—'ओं महावज्रो हेरुकवज्रो धरतु धरतु महाज्ञानस्फेटने शीघ्रं साधय स्तम्भय कीलय हुं फट् स्वाहा।' यहाँ उत्पत्तिक्रम का स्पष्ट कथन कर दिया गया है किन्तु उत्पन्नक्रम को 'गुरुगोचर' कहा गया है।[४]

१. *इंडियन बुद्धिस्ट इकोनोग्राफी*, भट्टाचार्य, पृ. १५९।

२. *साधनमाला*, भाग २, पृ. ५००-५०२।

३. *साधनमाला*, पृ. ५०२।

४. *वही*, पृ. ५०२-५०३ तथा *भा. सं. सा.* (१), पृ. ५३१-५३२।

(घ) योग—हम पहले क्रियातंत्र, चर्यातंत्र, योगतंत्र और अनुत्तरयोग का परिचय दे चुके हैं। इनमें से प्रथम दो, वैडेल के अनुसार, निम्नतंत्र और शेष दो उत्तमतंत्र हैं।[१] क्रियातंत्र में आरंभिक साधक ही दीक्षित किए जाते हैं। प्रथम दोनों तंत्रों में कठोर ब्रह्मचर्य, संयत आहार-विहार की अनिवार्यता है। इनमें क्रियाविधान, कर्मकाण्ड, देव-देवीपूजन तथा अन्य विधान विहित हैं।[२] चर्या के संबंध में पहले ही कहा जा चुका है कि गुरु के द्वारा उपदेश किए हुए अपने शास्त्रविहित आचारादि का पालन करना ही चर्या है।[३] क्रियातंत्र में भी शास्त्रविहित कर्मकाण्ड एवं पूजाविधान का महत्त्व है। इस प्रकार क्रियातंत्र और चर्यातंत्र दोनों में शास्त्र की महत्ता सर्वोपरि है। जिस साधन का संक्षेप ऊपर दिया गया है, वह क्रियातंत्र के ही अन्तर्गत है।[४] चर्यातंत्र की साधना ठीक उसी प्रकार की साधना है जैसे गृहस्थाश्रम के पूर्व ब्रह्मचर्य की। इसका विवेचन इसी परिच्छेद में पहले किया जा चुका है। तदुपरांत साधनक्रम में योगतंत्र का स्थान है। भाव की दृष्टि से इसे वीरभाव और आचार की दृष्टि से वामाचार के अन्तर्गत समझा जा सकता है। इसमें पंचमकारों का प्रत्यक्ष सेवन विहित है। इसी प्रकार की साधना का व्याख्यान हेवज्रतंत्र, योगरत्नमाला, गुह्यसमाजतंत्र जैसे तंत्र ग्रंथों में मिलता है। सर जान उडरफ द्वारा मध्यम कौलिक की व्याख्या यहाँ ध्यान में रखने योग्य है। तदनुसार दिव्यभाव और दिव्यसाधन की पूर्ववर्ती व्याख्या भी ध्यान में रखी जा सकती है; क्योंकि इसी योगसाधना के वर्णन में दोनों अवस्थाओं का दिग्दर्शन हो जाता है। इन्हीं दोनों (अर्थात् योगतंत्र और अनुत्तरयोगतंत्र) में वास्तविक तंत्रसाधन निहित है। क्रियातंत्र और विशेषकर चर्यातंत्र में हठयोगादि से सम्यक् पुष्टता प्राप्त हो जाती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि जहाँ हठयोग का अन्त होता है, वहीं से तंत्र का आरम्भ होता है। इसलिए वास्तविक तांत्रिक बौद्ध योग का समारंभ योगतंत्र से ही होता है।

७. बौद्ध कापालिक साधना

बौद्ध कापालिक साधना संबंधी हमारे विवेचन का मूलाधार हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला है। सामान्य तांत्रिक बौद्ध योग का परिचय अन्य ग्रंथों से भी मिलता है। हेवज्रतंत्र को कुछ लोग योगिनीतंत्र कहते हैं जो योगतंत्र से भिन्न है। किन्तु अन्य वर्गीकरणों के अनुसार यह अनुत्तर योगतंत्र है। कृष्णाचार्य ने इसे योगिनीनिरुत्तर कहा है। यह स्त्रियों और पुरुषों, दोनों के मृदु, मध्य और अधिमात्र नामक तीनों वर्गों के अनुकूल है।[५] वस्तुतः योगतंत्र और अनुत्तरयोगतंत्र मध्य और अधिमात्र के लिए हैं; क्योंकि ये तीक्ष्णेन्द्रिय-अधिकारसाध्य हैं। यदि तांत्रिक बौद्ध धर्म के विविध रूपों की दृष्टि से विचार करें तो मंत्रयान अथवा मंत्रसाधन मृदु साधकों के लिए है जिसमें उपर्युक्त साधनों का विनियोग है। यदि योगतंत्रयान में प्रवेश करते समय अधिकार और

१. *लामा इज्म,* वेडेल, पृ. १५२।

२. *ऐन इं. बु. ए.,* पृ. १६९, ९६; *ऐन. इं. ता. बु.,* पृ. ७१ पा. टि.।

३. *भा. सं. सा. (१),* पृ. २७४।

४. *ए. हि. इं. लि.,* वॉ. २, पृ. ३८९-३९४।

५. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग १, पृ. १३८-१३९।

साधनसंपत्ति की कठिन परीक्षा न हो तो साधक और साधन दोनों की हानि होती है। इसीलिए उत्तरसेक बहुत कठोर होता है; क्योंकि उसके बिना तीक्ष्णेन्द्रियाधिकार-संपन्नता नहीं आती। इस योग के अन्तर्गत वज्रयोग, विमोक्ष, विशुद्धि, काय, भाव, वर्ण, स्कंध, चक्र, नाड़ी, बिन्दु, पंचमकार आदि का विस्तृत विधान मिलता है। तांत्रिक बौद्ध परिभाषा में बिन्दु ही बोधिचित्त नाम से प्रसिद्ध है।[१] तांत्रिक बौद्ध दृष्टि से बोधिचित्त की साधना बिन्दुसाधना है। योगसाधन में तीन तत्त्व प्रमुख हैं—प्राण, शुक्र और मन। मन मनोमय का सारांश है। प्राण प्राणमय कोष का सारांश है और इसी प्रकार अन्नमय कोष का सारांश वीर्य या शुक्र धातु है। योगसाधन के विविध संप्रदाय इनमें से किसी एक को प्राधान्य देकर उनकी अचंचलता और निर्मलता का उपयोग करते हुए अपने साधन का स्वरूप निश्चित करते हैं। बिन्दु साधन के अनुसार बिन्दुक्षोभ निषिद्ध है क्योंकि अशुद्ध-बिन्दु क्षुब्ध होने पर प्राकृतिक नियम से अधोगति की ओर उन्मुख होता है। इसी का नाम च्युति या पतन है, जिसका फल है—मृत्यु। इस बिन्दु को धारण करके यदि कोई इसे ऊर्ध्वगामी कर सके तो वह अनिवार्य रूप से अमरत्वलाभ कर सकता है। 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्' यह सर्वसम्मत सिद्धांत है।[२] तांत्रिक बौद्ध भी इसे स्वीकार करते हैं। यह भी रससाधन का एक प्रकार भेदमात्र है। उपाय तथा प्रज्ञा के योग से बोधिचित्त का उद्‌भव होता है। यही वह बिन्दुक्षोभ है। वज्रयान में इसका स्खलन निरुद्ध करने के लिए, इसे निर्माणचक्र में धारण करने का उपदेश है।

दार्शनिक दृष्टि से बोधिचित्त के संवृत्त और विवृत्त दो रूप बताए जा चुके हैं। तांत्रिक बोधिचित्त अथवा बिन्दु के भी संवृत्त (चंचल) और विवृत्त (अचंचल) दो रूप हैं। विवृत्त बोधिचित्त महासुख रूप में तब परिणत होता है, जब वह एकमात्र महासुखचक्र या उष्णीषकमल में स्थिर हो जाता है।[३] तांत्रिक बौद्धों के षडंग (प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि) योग में से प्रत्येक का विनियोग तांत्रिक बौद्ध साधन में विहित है। इसकी क्रमिक अवस्थाएँ हैं—(१) मंत्रसिद्धि, (२) अभिज्ञाओं का उदय, (३) बोधिसत्व भाव, (४) वज्रसत्वभूमि, (५) प्रभामंडल में प्रवेश और (६) निखिल आवरण का क्षय या बुद्धत्व। षडंगों का क्रमिक विनियोग करने से इनकी सिद्धि होती है। उक्त क्रिया से बिन्दु को उद्‌बुद्ध कर निर्माण-चक्र से उष्णीषकमल तक ले जाना पड़ता है। बिन्दु का उद्‌बोध और कुण्डलिनी शक्ति का जागरण, वस्तुतः एक ही व्यापार है। इस जागरण को निर्माण-चक्र में स्वशक्ति चाण्डाली का जागरण कहा जाता है। जिस क्षण में चांडाली का जागरण होता है, उसी क्षण में मस्तकस्थ चन्द्रबिन्दु से अमृतरक्षण होना आरंभ होता है।[४] निर्माण-चक्रस्थ बिन्दु पंचभूतात्मक होता है किन्तु जैसे-जैसे यह मध्यममार्ग से उत्थित

---

१. *भा. सं. सा. (१)*, पृ. ५५२।

२. *वही*, पृ. ५५२-५५३।

३. *वही*, पृ. ५५४।

४. *वही (१)*, पृ. ५५५।

होता जाता है, क्रमशः इसके पृथ्वी, जल, तेज, वायु के अंश क्षीण होते जाते हैं और अन्ततः यह चित्तमात्र अथवा शुद्ध ज्योतिमात्र रूप में परिणत होकर उष्णीषकमल में लक्षित होता है। प्रारम्भ में यह कुंदपुष्पनिभ संवृत्त बोधिचित्त था।[१]

साधना की पूर्णता तो गुरुत्व-लाभ में है जिसमें करुणाविगलित होकर दूसरों को भी कुशल मार्ग में अग्रसर कर बुद्धत्व अथवा गुरुत्व तक पहुँचाने की सामर्थ्य का आयत्त होना परमावश्यक है। इसलिए तांत्रिक साधना का गुप्त उपदेश यह है कि बिना दीक्षा के सत्यज्ञान का उदय नहीं होता है और बिना अभिषेक के उस ज्ञान के संचार की सामर्थ्य भी नहीं आती। इसीलिए जिसका यथार्थ पूर्णाभिषेक नहीं हुआ है, वह गुरुपद में आसीन होने के योग्य नहीं है। धर्मचक्रप्रवर्तन ही गुरुकृत्य है। सम्बुद्धगण भी अभिषेक द्वारा उसका संपादन करते हैं।[२] उदकादि पूर्वसेकों का वर्णन हम कर चुके हैं। उत्तरसेक तीन प्रकार का होता है—कुंभसेक, गुह्यसेक और प्रज्ञासेक। कुंभसेक में चतुर्दल उष्णीषकमल से बिन्दु अवतीर्ण होकर ललाटस्थ सहस्रदल की कर्णिका में आता है। गुह्यसेक में बिन्दु कंठस्थ द्वात्रिंशदलकमल से हृदय की अष्टदल कमल की कर्णिका में आ जाता है। प्रथम सेक से आनंद तथा गुह्यसेक से परमानन्द लाभ होता है। प्रज्ञासेक में बिन्दु नाभिस्थ चतुष्षष्टदलकमल में द्वात्रिंशदल गुह्यकमल में उत्तर आता है, यहाँ तक कि वज्रमणि के रंध्र में पहुँच जाता है। इसका फल है विरमानन्दलाभ। ये आनन्द क्रमशः उत्कृष्ट एवं तीव्र हैं। उत्तरसेक के बिना उष्णीषकमल में स्थिरीकृत बिन्दु नीचे नहीं आ सकता। अंततः वज्रमणि के अग्रभाग तक पहुँचकर भी बिन्दु का स्खलन नहीं होता। बिन्दु को उष्णीषकमल में स्थिर करने तक का क्रम आरोहक्रम है और स्थिरबिन्दु को उतारने का क्रम अवरोहक्रम है जो गुरुकृत्य के लिए, धर्मचक्रप्रवर्तन व्यापार के लिए परमावश्यक है।[३] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उत्तरसेक के लिए मुद्रा की आवश्यकता अनिवार्य है।

इस क्रिया के बाद के अनुत्तरसेक में मुद्रा की आवश्यकता नहीं होती। इसका तात्पर्य यह है कि बिन्दु की शुद्धि और स्थिरता सिद्ध हो जाने के बाद ही वीरभाव में प्रकृतिसंयोग या प्रकृतिसंभोग का अधिकार आता है। वस्तुतः प्रकृति को पराजित कर ही वीरत्व सिद्ध होता है। वीरभाव के अनन्तर प्रकृति के साथ सहयोग करते हुए साधक क्रमशः दिव्यभाव की ओर अग्रसर होता है। दिव्यभाव ही महाभाव है। यही अनुत्तरसेक अथवा पारमार्थिक सेक है। इसे निस्पन्द कहते हैं जबकि बिन्दुसिद्धि की दृष्टि से उत्तरसेक क्रमशः क्षर, अक्षर और स्पंद भेद से तीन प्रकार का होता है। निस्पंद अनुत्तरसेक अथवा पारमार्थिक सेक सर्वोत्तम है।[४]

---

१. *भा. सं. सा. (१)*, पृ. ५५५।
२. *वही*, पृ.५५६।
३. *वही*, पृ. ५५६-५५७।
४. *भा. सं. सा. (१)*, पृ. ५५३, ५५७, विशेष शास्त्र-प्रमाण के लिए द्रष्टव्य सेकोद्देशटीका, मूल, पृ. २८-३६।

ऊपर बिन्दुसिद्धि संबंधी जो विवरण प्रस्तुत किया गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि तांत्रिक बौद्ध साधना प्रकारान्तर से शक्ति साधना है। बिन्दुजागरण चांडाली जागरण है। इसी साधन में चक्रानुसार आरोहणक्रम से बौद्धों की चतुर्चक्र की योजना भी स्पष्ट होती है। इसी प्रकार चार प्रकार के आनन्द, चार क्षण, चार शून्य, चार बीजाक्षर, चार महाभूत, चार देवियाँ, चार चित्त, चार चक्रों के चार स्थान, चार मुद्राएँ, चार वज्र, चार विमोक्ष और इन सबके साधन के लिए चार प्रकार के वज्रयोग की साधना का विधान मिलता है।

इस साधना के व्याख्यान में तांत्रिक पिण्डब्रह्माण्डवाद के सिद्धांत को ध्यान में रखना परमावश्यक है क्योंकि वज्रयानी साधक अपनी साधना में अपने शरीर को अत्यधिक महत्त्व देता है। यहाँ तक कि आगे चलकर तो काया को ही तीर्थ भी मान लिया गया है। इस मत के अनुसार यह शरीर सभी सत्यों का आश्रय है। संपूर्ण विश्व के सत्य इसी शरीर में निवास करते हैं। यह शरीर संसार से विषम नहीं है। नदी, पर्वत, समुद्र आदि शरीर के विभिन्न भागों में स्थित हैं। परम सत्यलाभ के लिए यह शरीर महत्त्वपूर्ण यंत्र है। इसी मान्यता के आधार पर तांत्रिक बौद्धों ने कमलों, चक्रों और नाड़ियों की कल्पना की है। शरीर का मेरुदण्ड बाह्य विश्व में स्थित मेरु पर्वत है।

बौद्धों ने नामान्तर से चार चक्रों की इस शरीर में अवस्थिति मानी है। हिन्दू तांत्रिक चक्रों से उसकी समतुल्यता बताई जा सकती है—मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और सहस्त्रार (उष्णीषकमल)। बौद्धों के चक्रों के साथ कायों की अभिन्नता स्थापित की गई है। क्रमशः इन चक्रों का निर्माणकाय, संभोगकाय, धर्मकाय और वज्रकाय अथवा सहजकाय से संबंध है। इसलिए इन चक्रों के निर्माणचक्र, संभोगचक्र, धर्मचक्र और उष्णीषकमल जैसे नाम भी मिलते हैं। मेरुदण्ड के मूल में निर्माणचक्र या निर्माणकाय स्थित है। हृदय में धर्मकाय और ग्रीवा के नीचे संभोगकाय है। त्रिकायों की महायानी कल्पना का विवेचन हम पहले कर चुके हैं जिसके अनुसार इनका क्रम है—निर्माणकाय, संभोगकाय और अन्त में तीसरा स्थान धर्मकाय को मिलता है; किन्तु तांत्रिक बौद्धयान वज्रयान ने इस संबंध में दो परिवर्तन किए। प्रथम तो यह कि उसने इनका क्रम इस प्रकार कर दिया—निर्माणकाय, धर्मकाय और संभोगकाय। दूसरे उसने सहजकाय अथवा वज्रकाय नाम के एक चौथे काय की भी कल्पना की जिसे उष्णीषकमल अथवा सहजकाय कहते हैं।

हेरुकतंत्र के अनुसार महासुखकमल में चार आर्यसत्यों के प्रतीक चार दल हैं। संभोगचक्र में सोलह दल हैं। धर्मचक्र में आठ दल तथा निर्माणचक्र में अथवा कमल में चौसठ दल हैं। सेकोद्देशटीका के अनुसार उष्णीषकमल से निर्माणकमल तक के चार कमलों में क्रमशः चार, सोलह, बत्तीस और चौसठ दल हैं। इनका बिन्दु साधना के प्रकरण में सेकानुसार विवरण सेकोद्देशटीका में मिलता है जिसका संक्षेप हम ऊपर दे चुके हैं। हेरुकतंत्र में इन चक्रों अथवा कमलों के बीच में भी कुछ अन्य कमलों की कल्पना मिलती है।[१]

---

१. *ऐन इं. ता. बु.*, दासगुप्त, पृ. १६१-१६५, *सेकोद्देशटीका*, मूल, पृ. २८।

श्रीसंपुट में उपर्युक्त चार चक्रों का संबंध चार मुद्राओं से जोड़ा गया है। ये मुद्राएँ हैं—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा तथा समयमुद्रा। ये मुद्राएँ पुनः चार स्कंधों की अधिष्ठात्री देवियों से भी संबद्ध कर दी गई हैं—लोचना (पृथ्वी), मामकी (अप्, जल), पांडरा (अग्नि) और तारा (वायु)। इनके प्रतीकात्मक मांत्रिक वर्ण हैं—ए, वं, म और या। अर्थात् निर्माणचक्र का वर्ण ए और अधिष्ठात्री देवी लोचना है, जिसकी मुद्रा को कर्ममुद्रा कहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक चक्र में एक मुद्रा, एक वर्ण और एक अधिष्ठात्री देवी हैं। चक्रों में लोचना, मामकी, पांडरा और तारा देवियाँ क्रमशः करुणा, मैत्री और प्रणिधि (एकाग्रता), मुदिता और उपेक्षा के प्रतीक रूप में रहती हैं। इसके साथ चार क्षणों और चार आनंदों की भी योजना की गई है। चार क्षण हैं—विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण। तदनुसार आनंद हैं—आनंद, परमानंद, विरमानंद और सहजानंद।[१] मुद्रा शक्ति की ही अभिव्यक्ति या बाह्य रूप है। गुरु कर लेने के बाद साधना के लिए प्रज्ञा या मुद्रा ग्रहण करनी पड़ती है। प्रज्ञा ही मुद्रा या नायिका है। यह एक प्रकार से विवाह का ही व्यापार है। तदुपरांत अभिषेक की क्रिया होती है जिसके संबंध में पहले कहा जा चुका है। इसके बाद साधक तथा मुद्रा दोनों का मंडल में प्रवेश होता है।[२] एक कर्ममुद्रा ही क्रमशः विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रूपों को धारण कर विभिन्न आनन्दों की अनुभूति कराती है। इनमें से धर्ममुद्रा उससे उत्कृष्ट है। यह धर्मधातुस्वरूपा है, निष्प्रपंच, निर्विकल्प, अकृत्रिम, अनादि और करुणास्वभावा है। यह प्रवाहेण नित्य है, अतः सहज स्वभाव है। इसकी स्थिति में अज्ञान या भ्रांति की पूर्णतया निवृत्ति हो जाती है।

ललना, रसना और अवधूती नाम की तीन बौद्ध नाड़ियों में से अवधूती का नामान्तर धर्ममुद्रा है। यही बौद्ध तांत्रिक मध्यमा-प्रतिपद् है। तीसरी महामुद्रा निःस्वभावा है और सभी प्रकार के आवरणों से वर्जित है तथा निर्वाण स्वरूप है। यह पूर्ण निरालंब अवस्था है। इसका फल समयमुद्रा है। इस अवस्था में जगत्-कल्याण के लिए स्वच्छ एवं विशिष्ट संभोगकाय तथा निर्माणकाय स्वभाव होकर वज्रधर के रूप में इसका स्फुरण होता है। इसी विश्व कल्याणकारी रूप को तिब्बती बौद्ध हेरुक नाम देते हैं।[३] इनमें जिन आनन्दों की अनुभूति होती है, उनमें से आनन्द उस समय अनुभूत होता है, जिस समय काम के द्वारा मन में क्षोभ होता है। वस्तुतः यह भाव का ही विकास है। शक्ति की अभिव्यक्ति से इसका आविर्भाव होता है। अभिव्यक्त शक्ति के साथ मिलन का पूर्णत्व सिद्ध होने पर, बोधिचित्त की भी पूर्णता ललाट में होती है और उसी समय परमानन्द का अनुभव होता है। उत्तमांगों से शरीर के सारांश रूप बिन्दु के क्षरण के समय, जिसे शब्दान्तर से अमृतक्षरण कहते हैं, विरमानन्द की अनुभूति होती है। इसके

---

१. *ऐन इं. ता. बु.*, दासगुप्त, पृ. १९०-१९१।

२. *भा. सं. सा. (१)*, पृ. ५३५।

३. *वही*, पृ. ५३५-५३६।

बाद वाक् तथा चित्त बिन्दु के अवसान में जब चतुर्बिन्दु का निर्गम होता है, उस काल में सहजानन्द का आविर्भाव होता है।[१] जिन क्षणों में इन आनन्दों का आविर्भाव होता है उनकी संख्या चार है। आनन्दों के क्रम के संबंध में अद्वयवज्र का वैमत्य यह है कि वे आनन्द और परमानन्द के बाद सहजानन्द तथा चतुर्थ आनन्द को विरमानन्द मानते हैं।[२]

इस चतुर्विभागात्मक साधना के अनुकूल ही चार प्रकार के योगों का विधान मिलता है—विशुद्धियोग, धर्मयोग, मंत्रयोग और संस्थानयोग। मुक्ति प्रक्रिया में साधक को इन चार योगों की चार अवस्थाओं को पार करना चाहिए। इन्हें वज्रयोग कहते हैं। इन योगों को पूर्ण करने के लिए साधक को चार प्रकार के विमोक्षों को प्राप्त करना चाहिए—शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित और अनभिसंस्कार विमोक्ष। क्रमशः प्रत्येक योग में निविष्ट शक्तियों की प्राप्ति में ये विमोक्ष साधक की आत्मा को स्थिर करते हैं। ये शक्तियाँ भी चार प्रकार की हैं तथा शुद्धि की विधियाँ भी चार प्रकार की हैं। इन चारों का संबंध जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय नाम की अवस्थाओं से है।[३] विशुद्धियों के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं। ये हैं—काय-विशुद्धि, वाग्विशुद्धि, चित्तवज्रविशुद्धि और ज्ञानविशुद्धि। इन विशुद्धियों के लिए ही पूर्वोक्त सेक-क्रियाएँ की जाती हैं। इन साधनों में क्रमशः करुणा, मैत्री, मुदिता और उपेक्षा नामक वृत्तियाँ (ब्रह्मविहार) उदित होती हैं। इसी प्रकार शून्यों का विकास शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और सर्वशून्य के रूप में होता है। इसी क्रम से कायवज्र, वाग्वज्र, चित्तवज्र और ज्ञानवज्र नाम के वज्रत्व की उपलब्धि होती है। कुछ मतों के अनुसार स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद, संविदिवाद और महासांघिक को भी क्रमिक स्थान दिया गया है। उपाय के भी चार क्रम मिलते हैं—सेवा, उपसेवा, साधन और महासाधन। इन सारे साधनांगों और तत्त्वों की व्यवस्था को सारिणी के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है, यद्यपि इनमें से अनेक के स्वरूप, स्थान आदि के संबंध में बौद्ध तांत्रिक ग्रंथों में वैमत्य है।[४] (सारिणी द्रष्टव्य)।

वज्रयान की उपर्युक्त योगसाधना में प्राणायाम की भी अपनी उपयोगिता है। इस साधन के लिए हिन्दू तंत्रों की तरह ही बौद्ध तंत्रों में नाड़ियों की संख्या बहत्तर हजार बताई गई है। इनमें भी बत्तीस नाड़ियाँ मुख्य हैं। उनमें भी तीन प्रमुख हैं—ललना, रसना और अवधूती। इन्हें ही हिन्दू तंत्रों में क्रमशः, इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना कहते हैं। ललना वाम भाग में स्थित रहती है और रसना दक्षिण भाग में। बौद्ध तंत्रों में इस युग्म के अन्य अनेक पर्याय मिलते हैं, जिन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

---

१. *भा. सं. सा. (१)*, पृ. ५३३।

२. *वही*, पृ. ५३५।

३. *सेकोद्देशटीका*, इंट्रो., पृ. ९-१०।

४. (१) *सेकोद्देशटीका*, मूल, ६, २६-३०, ३९, ५६-६३, इंट्रो., पृ. ९-१९, ३२-३३। (२) *बौ. द. मी.*, पृ. ३८४-३८५। (३) *इंट्रो. ता. बु.*, पृ. १६१-१६९, १९०-१९४। (४) *भा. सं. सा. (१)*, पृ. ५२९-५३६, ५५६-५५८।

वज्रयानसम्मत चक्र-योजना (सारिणी)[१]

क्र.सं.	चक्र	काय	दल	वृत्ति	वज्र	योग	अवस्थाएँ	शून्य	बीज/वर्ण	देवियाँ	भूतत्त्व	स्थान	मुद्रा	आनंद	क्षण	विमोक्ष	निकाय	विशुद्धि	शक्ति	तिथियाँ	उपाय
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२
४	उष्णीषकमल या महासुख चक्र	सहजकाय	४	उपेक्षा	ज्ञानवज्र	विशुद्ध-योग	तुरीय	सर्वशून्य	या	तारा	समीर (वायु)	मस्तक	समय-मुद्रा	सहजानंद	विलक्षण	शून्यता	महासांधिक	ज्ञान-विशुद्धि	नैरात्मा	षोडशी कला	महासाधन
३	धर्मचक्र	धर्मकाय	१६	मुदिता	चित्तवज्र	धर्मात्मक योग	सुषुप्ति	महाशून्य	म	पाण्डरा	पावक (तेज)	कंठ या ललाट	महामुद्रा	विरमानंद	विमर्द	अनिमित्त	संविदिवाद	चित्त-विशुद्धि	बंगाली	११-१५	उपसाधन
२	संभोगचक्र	संभोगकाय	३२	मैत्री तथा प्रणिधि	वाग्वज्र	मंत्रयोग	स्वप्न	अतिशून्य	वं	मामकी	जल (अप्)	हृदय	धर्ममुद्रा	परमानंद	विपाक	अप्रणिहित	सर्वास्तिवाद	वाग्विशुद्धि	डोम्बी	६-१०	उपसेवा
१	निर्माणचक्र	निर्माणकाय	६४	करुणा	कायवज्र	संस्थान योग	जाग्रत्	शून्य	ए	लोचना	क्षिति (पृथ्वी)	नाभि	कर्ममुद्रा	आनन्द	विचित्र	अनिमि-संस्कार	स्थविरवाद	कायविशुद्धि	चांडाली	१-५	सेवा

१. द्रष्टव्य—पादटिप्पणी सं. ३, पृ. १९४

दक्षिण—रसना, पिंगला, सूर्य, रवि, अग्नि, प्राण, चमन, कालि, बिन्दु, उपाय, यमुना, रक्त (?), पलित, सूक्ष्म, रेतस्, धर्म, स्थिर, पर, द्यौ, भेद, चित्त, विद्या, रजस्, भाव, पुरुष, शिव, निर्माणकाय और ग्राह्य।

वाम—ललना, इड़ा, चंद्र, शशिन्, सोम, अपान, धमन, आलि, नाद, प्रज्ञा, गंगा, शुक्र (?), बली, स्थूल, रजस्, अधर्म, अस्थिर, अपर, पृथ्वी, अभेद, अचित्त, अविद्या, तमस्, अभाव, प्रकृति, शक्ति, संभोगकाय, ग्राहक।[१]

बौद्ध तंत्रों में वर्णित ललना (प्रज्ञा, आलि) ग्रीवा के पास से निकलती है और बाईं ओर से नाभिप्रदेश में प्रवेश करती है। नाभिप्रदेश से रसना (उपाय, कालि) आरम्भ होती है और ग्रीवा के पास दाहिनी ओर से प्रवेश करती है। इन दोनों के बीच से हृत्कमल से निकलती हुई अवधूती से बोधिचित्त प्रवाहित होता है। यह अवधूतिका ही सहजानन्द-प्रदायिका है। यह स्वयं सहजानन्दरूपिणी है। यही अवधूती बोधिचित्त है, भगवती नैरात्मा है, सहजसुन्दरी है।[२] इसी नाड़ी के माध्यम से बोधिचित्त साधन (बिन्दु साधन) संभव होता है, जिसका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है। नाड़ियों का उपयोग प्राणायाम की साधना के लिए किया जाता है। प्राण और अपान की साधना मंत्रयोग की सहायता से की जाती है। उसमें पूरक, कुंभक और रेचक नाम की तीन क्रियाएँ होती हैं। इन तीन क्रियाओं में क्रमशः 'ओं आः हुँ' तीन वर्णों के मंत्र का जप होता है। प्राणायाम में नियंत्रण के लिए मंत्र का प्रयोग विहित है। इस वज्रजाप से प्राण-अपान के नियंत्रण से चित्त की अधोगति बोधित होती है तथा वह ऊर्ध्वमुख होकर उष्णीषकमल में महासुखरस का पान करता है। इस साधनात्मक और आध्यात्मिक यात्रा को महायान में बोधिसत्व की दश भूमियों की यात्रा के रूप में कल्पित किया गया है। चित्त की अधोगति के नियंत्रण के लिए हठयोग की मुद्राओं, बंधों, आसनों और प्राणायाम का विधान भी है। गुह्यसमाजतंत्र ने इस हठयोग को प्रारंभिक साधन के लिए उपकारक माना है।[३]

कालचक्रयान में कालसाधना का विशेष महत्त्व है। कालसाधना प्रकारान्तर से प्राणायाम की साधना है। डॉ. दासगुप्त का कथन है कि योग पर जोर देना ही कालचक्र की महती विशेषता है। श्रीकालचक्रमूलतंत्र में कहा गया है कि सभी वस्तुओं और स्थानों से युक्त, यह सम्पूर्ण विश्व इस शरीर में स्थित है। काल भी अपने विभिन्न रूपों (दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष आदि) में इस शरीर में प्राणवायु की क्रियाओं के रूप में स्थित है। प्राण और अपान का नियंत्रण ही योग का मुख्य कार्य माना गया है।[४] ऊपर तांत्रिक बौद्ध योग का जो विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उसका मूलाधार ग्रंथ

---

१. *स्ट. तं.*, बागची, (१) पृ. ६९, डॉ. बागची ने भी यह स्वीकार किया है कि इन दोनों वर्गों में अनेक शब्दों का वर्ग-निर्धारण संदेहास्पद है।

२. *ऐन इं. ता. बु.*, पृ. १७०-१७४।

३. *वही*, पृ. १८५-१८८।

४. *आ. रे. क.*, दासगुप्त, पृ. २६-२७।

सेकोद्देशटीका है। इसी के अनुसार चार प्रकार के योगों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसी ग्रंथ के अनुसार ऊर्ध्व वाम भाग में चन्द्र अथवा ललना अथवा इड़ा हैं। ये तीनों एक ही नाड़ी के भिन्न-भिन्न नाम हैं। यह तोयवाहिनी है और तथागत अमिताभ-स्वरूपा है। दक्षिण भाग में सूर्य अथवा रसना अथवा पिंगला नाम की नाड़ी है जो तेजोवाहिनी है और रत्नसंभवस्वरूपा है। नाभि के ऊर्ध्व भाग में अवधूती है। उसका दूसरा नाम सुषुम्ना है। उसके नीचे की शुक्रवाहिनी नाड़ी को खगमुखा और शंखिनी दो नामों से पुकारते हैं। नाभि आदि के पंचपद्मों की कर्णिका से निकलती हुई अवधूती में प्रवाहित रहनेवाली प्राणशक्ति भूमि आदि पंचधातुओं को वहन करती है। नाभिकमल में भूलोकोपरि भुवर्लोक, पाँच गुण गंध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द के लक्षणों से युक्त है। हृदयकमल में तोय अथवा जल के चार गुण रूप, रस, स्पर्श और शब्द हैं। कण्ठकमल में अग्नि के तीन गुण रस, स्पर्श और शब्द हैं। ललाट में मरुत के दो गुण स्पर्श और शब्द हैं। उष्णीषकमल में शून्य का एकमात्र गुण शब्द है। इन्हें ग्रहण कर अवधूती इनका पृथ्वी आदि के क्रम से संहार करती हुई निकलती है। सेकोद्देशटीका में आर्यपाद के अनुसार यह स्पष्ट किया गया है कि क्रमशः इस प्रकार भू-धातु जल में, जल धातु तेज में, तेज सूक्ष्म धातु वायु में और वायु चित्त में विलीन हो जाता है। चित्त के इस प्रकार चैतसिक में लीन होने पर वह भी प्रभास्वरत्व को प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार भवत्रय का निरोध हो जाता है। इस प्रकार उष्णीषकमल में प्रवेश होता है।[१] सेकोद्देशटीका में इस प्रकार प्राणायाम और नाड़ीसाधन की सहायता से बिन्दुसाधन का विवेचन किया गया है। हिन्दू तंत्रों में लययोग का विस्तार से विवेचन मिलता है। उसमें भी इसी प्रकार की लय क्रिया का वर्णन मिलता है।[२]

हेवज्रतंत्र के योग के अन्तर्गत अद्वयत्व और साथ ही इस स्थिति तक पहुँचाने के लिए किए जाने वाले अनेक प्रकार के क्रियाविधानों और कर्मकाण्डों की भी गणना की जा सकती है। हेवज्रतंत्र में उस अनुत्तरयोग का उपदेश किया गया है जिसके द्वारा पूर्ण अद्वय की प्राप्ति होती है तथा साथ ही ब्रह्माण्ड की योगी के शरीर अथवा पिण्ड से एकात्मसिद्धि होती है।[३] इस योग के लिए जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे हठयोग की शब्दावली से पर्याप्त समानता रखते हैं। सामान्यतया योग का एक अर्थ अपने उपास्य विशेष के साथ एकात्म भी मिलता है। इस संबंध में हेवज्रतंत्र में समाहितयोग और निरंतरयोग नाम के दो योगों का उल्लेख मिलता है। ये अनुत्तरयोग तक पहुँचाने वाले साधन हैं।[४] दर्शन के प्रकरण में अद्वय और प्रज्ञोपाय की व्याख्या की जा चुकी है। हेवज्रतंत्र प्रज्ञोपायात्मक तंत्र है जिसके अन्तर्गत स्तंभन, उच्चाटन, सैन्यस्तंभन आदि के भी साधन हैं।

---

१. *सेकोद्देशटीका*, मूल, पृ. ५१।

२. *दि सर्पेन्ट पॉवर*, पृ. ४८; *नाथ और सन्त साहित्य*, पृ. २४७-२५३ तथा आगे।

३. *हेवज्रतंत्र* (१), ग्लासरी, पृ. १४१।

४. *वही*, पृ. १४१।

भावना का महत्त्व हेवज्रतंत्र में बहुत व्यापक है। भाव से ही विमुक्ति मिलती है और भावबन्धन से प्राणी बन्धन में पड़ता है। भावपरिज्ञान मुक्ति का उपाय है। यह सर्वसंकल्पवर्जित ज्ञान महाज्ञान है, देहस्थ है, सर्ववस्तुओं में व्यापक है। इस प्रकार यह देहस्थ होते हुए भी देहज नहीं है।[१] इससे स्पष्ट है कि हेवज्रतंत्रोक्त योग प्रज्ञोपाययोग है और देहस्थ महाज्ञान की उपलब्धि उससे होती है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि सरहपादादि द्वारा उपदिष्ट योग का संबंध काया और भावना दोनों से है। दूसरे शब्दों में पिण्डब्रह्माण्डवाद के प्रसिद्ध सिद्धांत का व्यावहारिक योगात्मक विधान हेवज्रतंत्र में मिलता है। इन्हीं सिद्धांतों का विवरण चक्रयोजना, नाड़ी-विचार, ध्यान-भावनायोग आदि में विस्तार से मिलता है। योगभेद की दृष्टि से नैरात्म्ययोग और हेरुकयोग ये दो प्रकार बताए जा सकते हैं। इष्टदेवतारूप से किस प्रकार ऐसी प्रकृष्ट सिद्धि प्राप्त की जा सकती है कि जिससे सभी धर्मों में गगनवत् स्थिति हो अथवा सागर में तैरती हुई तुम्बिका के समान स्थिति की उपलब्धि हो जाय, इस प्रकार की सिद्धि के लिए ही उक्त दो प्रकार के योगों का विधान किया गया है। नैरात्म्ययोग से योगिनी की भावना की जाती है और हेरुकयोग में हेरुकाकृति की।[२] इसी प्रकार अपने विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण वज्रकपाल योग का भी हेवज्रतंत्र में उल्लेख मिलता है। इसकी व्याख्या में योगरत्नमाला में कहा गया है कि वज्रकपालयोग शब्द में वज्र शब्द हेवज्र का बोधक है तथा कपाल शब्द का कं, अर्थात् सुख का पालन करने वाली नैरात्मा अथवा प्रज्ञा का बोधक है। इस प्रकार वज्रकपालयोग भी शब्दान्तर से प्रज्ञोपाययोग की अभिव्यक्ति करता है। योग का यहाँ समाधि अर्थ लिया गया है।[३] इसके पूर्व हम वज्रकपाल साधन का उल्लेख कर चुके हैं।

हेवज्रतंत्र की अपने विषय की दृष्टि से महत्ता हम पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं। इसमें विवेचित योगपद्धति का महत्त्व इसलिए विशेष रूप से तब बढ़ जाता है जब हम यह देखते हैं कि इसकी सरह और कृष्णपाद दोनों की अपभ्रंश रचनाओं में विवेचित योग से पर्याप्त समानता है। जिस प्रकार के भावनायोग अथवा आन्तरिक योग अथवा मानसिक योग का परिचय हमें हेवज्रतंत्र में उसके अनुत्तरयोगतंत्र होने के कारण मिलता है वह सहजयोग अथवा सहजयानगत योग के सर्वथा समतुल्य है। हेवज्रतंत्र का प्रज्ञोपाययोग वस्तुतः इसी भावनायोग का विकास है, यह हेवज्रतंत्र की साधनात्मक सामग्री की परीक्षा करने से सिद्ध होता है। यह साधना पूर्वविवेचित योग के प्रकाश में

१. *हेवज्रतंत्र,* भाग २, १.१.७-१२—'प्रज्ञोपायात्मकं तंत्रं। भावेनैव विमुच्यते वज्रगर्भ महाकृपा॥' 'बध्यन्ते भावबन्धेन मुच्यते तत्परिज्ञया', 'देहस्थं च महाज्ञानं सर्वसंकल्पवर्जितम्। व्यापकः सर्ववस्तूना देहस्थोऽपि न देहजः॥'

२. *हेवज्रतंत्र* (२), २.२.१-७, पृ. ४५-४६।

३. *हेवज्रतंत्र,* हस्तलेख, पत्र १३, १.८—'ते ते सत्वाः वशं यान्ति वज्रकपालयोगतः।' *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव (२), मूल *योगरत्नमाला,* पृ. १२३—'वज्रो हेवज्रः कं सुखं पालयतीति नैरात्मा शून्यताकरुणयोरुभयोर्योगः समाधिः ततः।'

और भी स्फुट रूप में सामने आ सकेगी। इसीलिए पूर्वविवेचित विवरण को यहाँ ध्यान में रखना परमावश्यक है।

हेवज्रतंत्र में मैत्री, करुणा, मोद और उपेक्षा की भावना से क्रमशः शून्यताबोधि, बीजसंग्रह, बिंबनिष्पत्ति और अक्षरन्यास का विधान मिलता है। कहा गया है कि उसमें 'रं' से उदित सूर्य की विभावना और फिर उसके मध्य में नाभि में 'हूँ'—भव विश्ववज्र की भावना करनी चाहिए। तदुपरान्त इस वज्र से उदित एक प्राकारक (अथवा वेदिका) और वितान की कल्पना करनी चाहिए। इस वेदिका पर सबसे पहले धर्मधातुरूप एक शव की कल्पना करनी चाहिए। इसके उपरांत साधक अपने हृदय में 'रं' बीज की, उससे उदित सूर्य बिंब की तथा उस पर प्रतिष्ठित प्रज्ञोपायात्मक 'हूँ' बीज की भावना करे। कृष्णवर्णात्मक, महाघोर बीज 'हूँ' वज्र से उत्पन्न होता है। साधक के द्वारा यह विभावना की जानी चाहिए कि यह बीज 'हूँ' वज्रवरटक (?) के मध्य में स्थित है जिसकी प्रकृति द्वेष है। यह वज्रसंभूत महाकृष्ण है और नीलपंकजसन्निभ है अथवा नीलरक्ताभसंयुक्त है। इस प्रकार आकाश में वज्रजन्य महाकृपालु भट्टारक का दर्शन कर सर्वालंकारमंडिता अष्ट देवियों से परिवृत्त रूप में विभावना कर उनकी पूजा करनी चाहिए। ये देवियाँ हैं—चन्द्रधारिणी चौरी, मार्त्तण्डभाजनधारिणी गौरी, वारिहस्ता वेताली, भैषज्यधर्वी घस्मरी, वज्रहस्ता पुक्कसी, रसधरी शवरी, डमरुवाद्यभारिणी चण्डाली। डोम्बी भगवान् को आलिंगित किए हुए है और महारागारक्ता है। इनके चतुर्भुजात्मक रूप का वर्णन हम कर चुके हैं। इसी प्रकार भगवान् के षड्भुजात्मक और त्रिमुखात्मक रूप का भी वर्णन है। यह भी कहा गया है कि इस प्रकार के देवता का स्वहृदय में संहरण करता हुआ, विभावन करता हुआ योगी अन्ततः द्वेषात्मक (निज उपास्यस्वरूप) हो जाता है।[१]

इस प्रकार इस विवरण से दो निष्कर्ष स्पष्टतः निकलते हैं—(१) हेवज्रतंत्र का योग मंत्रयोगसमन्वित भावनायोग है और (२) दूसरे इस भावनायोग में कापालिक तत्त्वों की व्याप्ति।

'कायवाक्चित्तहेवज्रदेवता' के उपर्युक्त प्रकार की भावना से जिस प्रकार के योग की भूमिका प्रस्तुत होती है, उसकी सिद्धि एवं पुष्टि देवताभिषेकविधान से भी होती है। योगी यह भावना करता है कि उसके हृदयस्थ बीज हूँ से वह एक कृष्ण दीप्तिवाली अंकुशाकारा रश्मि का निश्चारण कर रहा है जो त्रैधातुक विश्व में स्थित बुद्धों को आकर्षित कर रही है। इस प्रकार उनका आकर्षण कर वह हेरुकरूपधारी पंचतथागतों के प्रतीक रूप तथा पंचामृतपूर्ण कुम्भों से अभिषिक्त होता है। उसी समय पुष्प-कुंकुमवर्षा होती है तथा लोचनादि देवियाँ वज्रगीतियों का गायन करती हैं। ऐसा होने पर कुलेश योगी के शीर्ष भाग पर उदित होते हैं और हेरुक का योगी में प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार की साधना प्रातः, मध्याह्न और रात्रि में सम्पन्न करने से योगी शक्तिसम्पन्न

---

१. *हेवज्रतंत्र*, भाग १, १.३। हेवज्रतंत्र मूल के भाग १ के इस तृतीय पटल का नाम है—'कायवाक्चित्तहेवज्रदेवता पटल'।

होता है तथा सदैव देवमूर्तिरूप स्थित रहता है।[१] स्पष्ट ही यह प्रज्ञोपायात्मक अद्वययोग का भावनात्मक साधन है जिसमें भावनात्मक प्रतीकों की साधना का प्राधान्य है। योगिनीचक्र की व्याख्या में आकाशमध्य स्थित त्रिकोण (भग) के मध्य भाग पर ध्यान लगाने के लिए कहा गया है। देवियों के प्राकट्यक्रम से उनका चक्रानुसारी भूतगत बीजात्मक विवरण इस प्रकार दिया गया है—(१) पृथ्वी का चतुष्कोण, लं से उदित (२) जल का वृत्त, वं से उदित, (३) अग्नि का त्रिकोण, लं से उदित, (४) वायु का अर्द्धवृत्त, यं से उदित। कृष्णपादरचित योगरत्नमाला में इसका विस्तार मिलता है।[२] चक्रगत भावनायोग का इससे घनिष्ठ संबंध है। पूर्ववर्णित चक्रयोजना को ध्यान में रखने पर इसमें कोई कठिनाई नहीं होती।

इस भावनायोग की पूर्ण स्थिति का अत्यधिक स्पष्ट वर्णन हेवज्रतंत्र में मिलता है। इस स्थिति में तत्त्वतः न तो रूप रहता है, न द्रष्टा, न शब्द रहता है न श्रोता, न गंध रहता है न घ्राण, न रस न रसिक, न स्पर्श न स्पृष्टा, न चित्त न चैत्तिक। इन सब की कोई पृथक् तात्विक सत्ता नहीं रहती। इसी स्थिति में यह कहा गया है कि योगी को सदैव जननी, भगिनी, नटी, रजकी, वज्रा, चण्डाली, ब्राह्मणी की प्रज्ञोपायविधान से पूजा करनी चाहिए। इनकी इस प्रकार सेवा करनी चाहिए कि जिससे किसी प्रकार भी भेद उत्पन्न न हो।[३] तात्पर्य यह कि इस स्थिति में ब्राह्मणी, चण्डाली, रजकी आदि में कोई भेद नहीं। इन्हें सदैव प्रज्ञा समझकर इनकी पूजा करनी चाहिए। अद्वयभाव में जिस समभाव की उपलब्धि होती है, उसमें इस प्रकार की भावना स्वाभाविक है। इस सम्पूर्ण भावनायोग के विवेचन का प्रतिपाद्य यह है कि सरहपाद ने हेवज्रतंत्र जैसे ग्रंथों में जिस अनुत्तरयोग का उपदेश किया है, वह भावनायोग है और उनकी तथा कृष्णपाद की अपभ्रंश रचनाओं में व्यक्त होने वाली साधना की पुष्ट भूमिका इन्हीं से प्रस्तुत होती है। केवल हेवज्रतंत्र से ही नहीं, उसकी कृष्णपादरचित टीका योगरत्नमाला से भी उसका पोषण होता है और कृष्णपाद उन्हीं साधनों का व्याख्यान करते हैं।

वज्रयान के साधन विवेचन के प्रकरण में देवताओं और उनके कुलों का उल्लेख किया गया है। हेवज्रतंत्र में उससे कुछ भिन्न पाँच कुलों का वर्णन मिलता है। वे हैं—वज्र, पद्म, कर्म, तथागत और रत्न। इनकी पाँच मुद्राएँ इस प्रकार हैं। डोम्बी, नर्ती, रजकी, ब्राह्मणी और चण्डालिनी। ये तथागतों के कुल हैं। वस्तुतः ये छह कुल हैं किन्तु संक्षिप्त होने पर इनकी संख्या पाँच हो जाती है। यदि काय, वाक् और चित्त के भेद के अनुसार इनका विचार किया जाए तो इनकी संख्या केवल तीन ही है। इनका संबंध पाँच भूततत्त्वों और पाँच स्कंधों से है, जिनका विवरण पहले दिया जा चुका है। हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला में ध्यानी बुद्धों के जो नाम दिए गए हैं, वे पारंपरिक नामों से कुछ

---

१. *हेवज्रतंत्र* (मूल), १.४ सम्पूर्ण-देवताभिषेक पटल।

२. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग २, मूल १.८.२ तथा *योगरत्नमाला,* पृ. १२३।

३. *वही,* मूल, १.५.१-३, पृ. १५-१५।

भिन्न हैं—वैरोचन, अक्षोभ्य, अमोघरत्न, आरोलिक तथा सात्विक। इसी प्रकार ये ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सर्व, विबुद्ध और तत्त्व के प्रतीक हैं।[१]

वज्रयान एवं कालचक्रयान की योगसाधना की तरह ही हेवज्रतंत्र में भी चक्रनाड़ी योजना का विस्तार मिलता है। इसमें भी कुल चार चक्र बताए गए हैं और साथ ही उनके स्थान, दल, काय, निकाय, बीजवर्ण, क्षण, आर्यांग, आर्यसत्य, तत्त्व, आनन्द आदि का भी उल्लेख मिलता है जिसे सारिणी रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है।[२] (सारिणी द्रष्टव्य)

हम इसके पूर्व वज्रयान के विभिन्न ग्रंथों और स्रोतों के आधार पर वज्रयानसम्मत चक्रयोजना और उसके संबद्ध तत्त्वों एवं अंगों का परिचय सारिणी के रूप में दे चुके हैं। उसके साथ हेवज्रतंत्र एवं योगरत्नमाला से सम्मत चक्रयोजना की तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि हेवज्रतंत्रादि के चक्रक्रम में धर्मचक्र का दूसरा तथा संभोगचक्र का तीसरा स्थान है जबकि अन्य वज्रयानसम्मत स्रोतों की योजना में संभोगचक्र का दूसरा और धर्मचक्र का तीसरा स्थान है। तदनुकूल अन्य तत्त्वों एवं अंगों में भी स्थानविपर्यय मिलता है। वज्रयान के भी विभिन्न स्रोतों में, जैसा कहा जा चुका है, चक्रक्रम के संबंध में वैमत्य है। इतना ही नहीं, हेवज्रतंत्र तथा उससे सम्बद्ध विभिन्न टीका ग्रंथों एवं अन्य ग्रंथों में कहीं-कहीं पाँच चक्रों अथवा छः चक्रों की भी योजना मिलती है। निश्चय ही पाँच ध्यानी बुद्धों एवं छठें ध्यानीबुद्ध की योजना से इनकी संगति बिठाने के लिए ही ऐसा किया गया प्रतीत होता है। स्नेलग्रोव ने इस प्रकरण से सम्बद्ध तीन विभिन्न सारणियाँ प्रस्तुत की हैं। प्रथम सारिणी में ४ अभिषेक, आनन्द और क्षणों का उल्लेख है।[३] दूसरी सारिणी हेवज्रपिंडार्थदीपिका के अनुसार पाँच ध्यानी बुद्धों के कायागत स्थान एवं बीजाक्षरों का प्रदर्शन करती है। तीसरी सारिणी में हेवज्रापिंडार्थदीपिका और नेत्रविभंग के आधार पर ध्यानीबुद्धों के कायागत स्थान और उनके वर्ण का विवरण मिलता है।[४]

इन विवरणों के आधार पर दो बातें निष्कर्ष-रूप में कही जा सकती हैं। पहली तो यह कि शैवादि तंत्रों के समान ही बौद्ध तंत्रों में भी चक्रों की संख्या तथा उनके स्थान के संबंध में वैमत्य है। दूसरी बात यह है कि मूलग्रंथ हेवज्रतंत्र तथा उसकी टीका योगरत्नमाला में तो मतैक्य मिलता है किन्तु परवर्ती अन्य टीकाओं अथवा संबद्ध ग्रंथों में उनकी संख्या में वृद्धि कर ध्यानी बुद्धों की संख्या के साथ संगति बिठाने का प्रयत्न किया गया प्रतीत होता है।

हेवज्रतंत्र में जिस योग का विधान किया गया है, उसमें चक्रों के साथ ही नाड़ियों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। पहले जिस बिन्दुसाधन का विचार किया गया है, उसमें भी

---

१. *हेवज्रतंत्र* (२), मूल १.५.५-१२ तथा इनकी टीका, *योगरत्नमाला*, पृ. ११७।

२. (१) हेवज्रतंत्र, भाग २, मूल १.१.२३। (२) *वही*, २.४.५-५५, ५९-६०, पृ. ६८-६९ (३) *वही*, १.१.२२-३०। (४) *वही*, *योगरत्नमाला* १.१, पृ. १०४, २.४, पृ. १४८-१४९।

३. *हेवज्रतंत्र* (१), इंट्रो., पृ. ३४।

४. *वही*, पृ. ३८ तथा पादटिप्पणी। ध्यानी बुद्धों तथा अन्य देवी-देवताओं के बीजाक्षरों के संबंध में बौद्ध तंत्रों में भिन्नता मिलती है—*इं. ता. बु., पृ.* ६४।

नाड़ियों का विनियोग मिलता है। बौद्धों के षडंग योग (प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि) में प्राणायाम का स्थान तीसरा है। बौद्ध पद्धति के अनुसार मनुष्य का श्वास पंचज्ञानमय है और पंचभूतों के स्वभाव वाला है। रूपादि पंच स्कंधों तथा उन पर प्रतिष्ठित अक्षोभ्य आदि पंच ध्यानीबुद्धों का परिचय दिया जा चुका है। ये ध्यानीबुद्ध पंचज्ञानस्वभाव हैं। वाम तथा दक्षिण नासापुट में चंचल श्वास का प्रवाह होता है। ये दोनों प्रवाह एकीभूत होने पर पिण्डाकार हो जाते हैं। सबसे पहले इस स्थिर प्राण पिण्ड को मध्यमार्ग में और फिर बाद में नासिकाग्र में निश्चल करने का विधान है। यही महारत्न अवस्था कही जाती है। वाम तथा दक्षिण दो विरुद्ध धाराओं को सम्मिलित करके मध्य नाड़ी का अवलंबन लेते हुए उत्थापन करते हुए नाभि, हृदय, कण्ठ, ललाट तथा उष्णीष कमल की कर्णिका में स्थिर करना चाहिए। इस प्रकार निरुद्ध किया हुआ प्राणवायु पंचवर्ण महारत्न कहा जाता है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष संबंध पंचस्कंधों एवं पंच ध्यानीबुद्धों से है। वज्रयान में इसी प्राणायाम को वज्रजाप कहते हैं।[१]

म. म. डॉ. गोपीनाथ कविराज ने प्राणायाम और चक्रभेद की क्रिया का संबंध-निरूपण करते हुए यह स्पष्ट किया है कि नाभि के भीतर की शक्ति निरुद्ध होने पर वैद्युतिक अग्नि के समान दण्डवत् स्वरूप धारण करती है और मध्य नाड़ी में मृदुगति से चालित होकर चक्रान्तर में गमन करती है। इस प्रकार जब उष्णीषरंध्र का स्पर्श होता है तब अपान वायु को ऊर्ध्व मार्ग में प्रेरित करने पर उसके प्रभाव से उष्णीषकमल का भेद हो जाता है और पर-पुर में गति होती है। इस प्रकार दोनों वायुओं (प्राण और अपान) का निरोध आवश्यक है। इसी का नाम वज्रप्रबोध है।[२] चक्रों के इस भेदक्रम से चक्रानुसार ही बुद्धवक्त्रों या ज्ञानवक्त्रों का साक्षात्कार होता है। इसके पूर्व वज्रयोग और तदनुरूप विशुद्धियों का क्रमिक विवरण दिया जा चुका है। प्राणायाम प्रयोग से क्रमशः काय वज्रवक्त्र, वाग्वज्रवक्त्र, चित्रवज्रवक्त्र और अन्ततः ज्ञानवज्रवक्त्र की उपलब्धि होती है।[३]

इस विवरण से स्पष्ट है कि तांत्रिक बौद्ध योग के अनुसार भी प्राणायाम का नाड़ीसाधना, चक्रसाधना और बिन्दुसाधना से घनिष्ठ संबंध है। वस्तुतः प्राणसाधन बिन्दुस्थैर्य में परमावश्यक है और इसके ऊर्ध्वक्रम की साधना भी प्राणायाम से ही होती है। यह उर्ध्वक्रम मर्ध्वनाड़ी से ही साधित होता है। इसीलिए वीराचार साधन में और आगे के साधन में, अनुत्तरयोग में नाड़ी विचार आवश्यक हो जाता है। हेवज्रतंत्र में इसका विचार मिलता है जिसका विस्तार योगरत्नमाला में भी है।

हेवज्रतंत्र में वज्रगर्भ की जिज्ञासा पर भगवान् ने स्पष्ट किया है कि वज्रदेह में बत्तीस बोधिचित्तावहा नाड़ियाँ महासुखस्थान की ओर प्रवाहित होती हैं। उनमें ललना, रसना और अवधूती नाम की नाड़ियाँ प्रधान हैं। ललना प्रज्ञास्वभावा है और रसना उपायस्वभावा है। मध्यदेशीया अवधूती ग्राह्य-ग्राहकवर्जिता है। इसी प्रकार ललना

१. *भा. सं. सा.* (१), पृ. ५३७-५३८।

२. *वही*, पृ. ५४२।

३. *वही*, पृ. ५४३।

अक्षोभ्यावहा (शुक्रवहा) है और रसना रक्तवाहिनी है।[१] अकारादि सोलह स्वरों को समवाय रूप में प्रतीकीकृत करने वाली नाड़ी आलि है और क—कारादि चौंतीस व्यंजनों को समवाय रूप में प्रतीकीकृत करने वाली नाड़ी कालि है। इस प्रकार ललना-रसना, चन्द्र-सूर्य और प्रज्ञोपाय क्रमशः एक-दूसरे के पर्याय हैं।[२] वाम नासापुट से प्रवहमान वायु आलि है। उससे भिन्न कालि का प्रवाह दक्षिण नासापुट से होता है। इनके प्रवेश, स्थिति और व्युत्थान के क्रम से 'ओं आः हूँ' रूप से जप करते हुए योगिजन शीघ्रतापूर्वक सुखमयी समाधि का लाभ करते हैं। इसी प्रसंग में कृष्णपाद ने चण्डाली शब्द की व्याख्या करते हुए बताया है कि क्लेशोपक्लेश का निकृन्तन करने में चण्डस्वभावा होने के कारण प्रज्ञायुक्ता आलि (प्रज्ञा) चंडाली कही जाती है। यही नाभि में प्रोज्वल रूप में विद्यमान रहती है। यह चण्डाली ही हंकार है वज्रसत्व हूंकार रूप हैं। इस प्रकार चण्डा; प्रज्ञा, वामनाड़ी है और आलि, उपाय दक्षिण नाड़ी है। गुरुपदेश से इन दोनों के संयोग से चंडाली का अभ्युदय होता है। नाभि में इसके प्रज्वलित होने का अर्थ है—मध्य में इसका प्रज्वलन होना। यह मध्य नाड़ी में ही महाराग (करुणा) की अग्नि से पंचस्कंधों, लोचनादि को, पृथ्वी आदि भूतों को दग्ध करती है। अहंकार का दाह करने पर महासुखज्ञान की उत्पत्ति होती है।[३]

तांत्रिक बौद्धों के पिण्डब्रह्माण्डवाद के सिद्धांत की पुष्टि हेवज्रतंत्र और उसकी टीका योगरत्नमाला से होती है। नाड़ी संबंधी उक्त विवरण पिण्डवर्णन में अथवा बौद्ध शब्दों में वज्रकाया वर्णन के प्रसंग में मिलता है। हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला योगी के शरीर अथवा पिण्ड को वज्रकुल कहते हैं। वज्र का अर्थ है हेवज्र और कुल का अर्थ है शरीर। इस प्रकार वज्रकुल का अर्थ है हेवज्र का शरीर जिसका पिण्डवर्णन के रूप में विस्तार हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला में मिलता है।[४]

चार चक्रों की योजना के समान ही हेवज्रतंत्रादि ग्रंथों में नाड़ीत्रयी के संबद्ध अंगों की भी त्रयात्मक योजना मिलती है। स्नेलग्रोव ने पिंडवर्णन के प्रसंग में हेवज्रतंत्रादि ग्रंथों के आधार पर सारिणी रूप में इनका विवरण प्रस्तुत किया गया है जिसे अपने प्रयोजन के अनुरूप यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

नाड़ी	लिंगात्मक	सैद्धांतिक	ब्रह्माण्डीय	यौन	शारीरिक	वर्णात्मक	दार्शनिक
१. रसना	पुम्	उपाय	चन्द्र	वज्र	शुक्र	कालि	ग्राहक
२. ललना	स्त्री	प्रज्ञा	सूर्य	पद्म	रक्त	आलि	ग्राह्य
३. अवधूती	अद्वय	बोधिचित्त	अग्नि	शुक्र	बीज (सत्व)	अक्षर	चित्त[५]

१. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, (२) मूल, १.१.१३-१५।

२. *वही,* मूल *योगरत्नमाला,* १.१, पृ. १०६-१०७।

३. *वही,* पृ. १०९-१११।

४. *वही,* भाग २, पृ. १११।

५. *वही,* भाग १, इंट्रो, पृ. २७।

इसी प्रकार काय, वाक् और चित्त की भी एक त्रयात्मक योजना प्रस्तुत की गई है जिसके माध्यम से साधनात्मक आरोहण की आवश्यकताओं का ज्ञान होता है। यद्यपि स्नेलग्रोव ने नाड़ियों से इनका संबंध स्थिर नहीं किया है तथापि इनकी पिण्डब्रह्माण्डगत अवस्थिति का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

ब्रह्माण्डीय स्थिति	व्यष्टिपक्ष	योगिनी	बुद्ध	दोष	पिण्डगत स्थिति	बुद्धकाय
१. खमध्य	वाक्	खेचरी	अमिताभ	राग	कण्ठ	संभोगकाय
२. केन्द्र (मध्य)	चित्त	नैरात्म्यता	अक्षोभ्य	द्वेष	हृदय	धर्मकाय
३. पाताल	काय	भूचरी	वैरोचन	मोह	नाभि	निर्माणकाय[1]

इस त्रयात्मक योजना का योगसाधनात्मक मूलाधार रसना, ललना और अवधूती है किन्तु पिण्डब्रह्माण्डगत इस दूसरी योजना के प्रत्येक अंग की अलग-अलग साधनात्मक व्याख्या की जा सकती है जिसके लिए यहाँ पर्याप्त अवसर नहीं है। उनके शीर्षकों से उनकी साधना का अनुमान सरलता से किया जा सकता है। स्वयं स्नेलग्रोव इस त्रयात्मक योजना की एकात्मक संगति के संबंध में कुछ स्पष्ट रूप से नहीं कह सके। अत: प्रत्येक शीर्षक के अनुसार अलग-अलग साधनात्मक व्याख्या ही अधिक संगत समझी जा सकती है।

वज्रयान में इस वाम-दक्षिण मार्ग के परित्याग और मध्यमार्ग के साधन का विस्तार से विवेचन मिलता है। ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि ललना वाम भाग में स्थित है तथा रसना दक्षिण भाग में। इस वाम-दक्षिण युग्म के तांत्रिक बौद्ध योग के अनेक तत्त्वात्मक पर्याय मिलते हैं, जिन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

वाम—ललना, इड़ा, चन्द्र, शशिन्, सोम, अपान, धमन, आलि, नाद, प्रज्ञा, गंगा, शुक्र (?), बली, स्थूल, रजस्, अधर्म, अस्थिर, अपर, पृथ्वी, अभेद, अचिन्त, अविद्या, तमस्, अभाव, प्रकृति, शक्ति, संभोगकाय, ग्राहक।

दक्षिण—(द्रष्टव्य नाड़ियों की पूर्वोल्लिखित सूची)।[2]

डॉ. दासगुप्त ने इनकी स्थिति, गति एवं दिशा का उल्लेख किया है।[3]

हम इस साधन विवेचन के ही प्रसंग में पहले कह चुके हैं कि इस बौद्ध योग का प्रधान लक्ष्य बिन्दुसिद्धि है। वीरभाव की कापालिक साधना में पंचमकारों का जो विधान है, उसे देखते हुए यह प्रतीत होता है कि बोधिचित्त का शुक्ररूप में ग्रहण वस्तुत: वीरभावगत साधना के सर्वथा अनुकूल है किन्तु उसका ज्ञानसंपन्नचित्त का रूप दिव्य भावसाधना के लिए सर्वथा संगत है। जिस प्राणायाम-चक्र-नाड़ी समन्वित साधना का हमने ऊपर विवरण किया है, उसका लक्ष्य बोधिचित्तसिद्धि है। बोधिचित्तोत्पाद का

१. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग १, इंट्रो., पृ. २८।

२-३. द्रष्टव्य इसी परिच्छेद की संदर्भ संख्या १ तथा २, पृ. ५७।

हेवज्रतंत्रसम्मत चक्र-योजना (सारिणी)[१]

क्र.सं.	चक्र	दल	बीज/वर्ण	स्थान	आनंद	क्षण	निकाय	उपाय/आयोग	आर्यसत्य	तत्त्व	देवियाँ	भूततत्त्व	मुद्रा	फल
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
४	महासुख चक्र	३२	या	मस्तक	सहजानन्द	विलक्षण	महसंघी या महासांघिक	महासाधना	मार्ग	ज्ञानतत्त्व	तारा या तारिणी तारिणी	मारुत	समय-मुद्रा	वैमल्य
३	संभोगचक्र	१६	म	कंठ	विरमानंद	विमर्द	संविदी	साधना	निरोध	देवतातत्त्व	पाण्डरा	वह्नि	महामुद्रा	पुरुषकार
२	धर्मचक्र	८	वं	हृदय	परमानन्द	विपाक	सर्वास्तिवाद	उपसेवा	समुदय	मन्त्रतत्त्व	मामकी	जल	धर्ममुद्रा	विपाक
१	निर्माणचक्र	६४	ए	योनि या नाभि	आनन्द	विचित्र	स्थविरवाद	सेवा	दुःख	आत्मतत्त्व	लोचना	पृथ्वी	कर्ममुद्रा	निस्यंद

१. द्रष्टव्य—संदर्भ सं. २, पृ. २०१

स्नेलग्रोव ने हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला के आधार पर मुद्राओं का जो विवरण दिया है, उसके अनुसार कर्ममुद्रा के बाद दूसरा स्थान समयमुद्रा का है। उसके बाद क्रमशः धर्ममुद्रा का और अंत में सर्वोच्च स्थान महामुद्रा का आता है। उन्होंने संकेत किया है कि अद्वयवज्र के अनुसार क्रम भिन्न हैं, जैसा पूर्ववर्ती सारिणी में दिखाया गया है। द्रष्टव्य हेवज्रतंत्र, स्नेलग्रोव, भाग १, ग्लासरी, पृ. १३६। योगरत्नमाला में एक स्थल पर केवल कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा और अन्त में महामुद्रा के नाम मिलते हैं। वही, भाग २, मूल योगरत्नमाला, पृ. १४९। किन्तु हेवज्रतंत्र के हस्तलेख में मुद्राओं का क्रम इस प्रकार है—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा और महासमयमुद्रा—राष्ट्रीय अभिलेखालय, काठमांडो प्रति, पत्र सं. ३।

उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। प्रज्ञा और उपाय के परमयोग से महासुखावस्था की प्राप्ति होती है। जब तक चित्त अशांत या चंचल रहता है, तब तक वह प्राणी को भाव-अभाव के जगत् से बाँधे रहता है किन्तु जब यह उष्णीषकमल में अचंचल कर दिया जाता है, तो यह बोधिचित्त महासुखोत्पत्ति करता है। दर्शन प्रकरण में इस बोधिचित्त के दो पक्षों अथवा उसकी दो अवस्थाओं का परिचय दिया जा चुका है। यह बोधिचित्त सामान्य चंचल अवस्था में संवृत तथा असामान्य निश्चल शांत अवस्था में विवृत रहता है। इन दोनों अवस्थाओं को क्रमशः सांवृतिक और पारमार्थिक अवस्था भी कहते हैं। माध्यमिक के अनुसार सत्य दो प्रकार का होता है—संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य। इन्हीं दोनों को बोधिचित्त की संवृत्त और विवृत अवस्था कह सकते हैं। चित्त सामान्य अवस्था में संवृत्त सत्य का और विवृत अवस्था में परमार्थ का साक्षात्कार करता है। महासुख की प्राप्ति के लिए चित की चंचलावस्था का निरोध और उसकी अधोगति को अवरुद्ध कर देना चाहिए।[१] मर्मकालिकातंत्र की टीका के अनुसार बोधिचित्त की अधोगति के अवरोध के लिए षडंगयोगसाधन आवश्यक है जिसका पहले परिचय दिया जा चुका है। गुह्यसमाजतंत्र ने भी इस योग को महत्ता दी है।[२]

प्राण और अपान की साधना मंत्रयोग की सहायता से की जाती है। गुह्यसमाज-तंत्र ने भी इस हठयोग को प्रारम्भिक साधन के लिए उपकारक माना है।[३] तांत्रिक बौद्ध योग की नाड़ीसाधन से समन्वित बोधिचित्तोत्पाद की यह साधना हिन्दू तंत्रों के कुंडलिनी जागरण की साधना से बहुत मिलती-जुलती है। कुंडलिनी जागरण के समय साधक की जीवात्मा कुंडलिनी से अभिन्न हो जाती है और फिर जाग्रत् कुंडलिनी के साथ ही उसकी आध्यात्मिक यात्रा आरम्भ हो जाती है। जिस प्रकार हिन्दू तंत्रों के अनुसार मूलाधारचक्र में कुंडलिनी जागती है, उसी प्रकार बौद्ध तंत्रों के अनुसार निर्माणचक्र में चंडाली जागृत होती है। जागृत होने पर शिरोभाग स्थित चन्द्रमा से अमृतस्राव होने लगता है। इसी से योगी के शरीर का रूपांतर होता है। इसी देवी चंडाली को विकास की अवस्थाओं के अनुसार डोंबी, योगिनी, सहजसुन्दरी, नैरात्मा आदि नामों से भी पुकारा जाता है। यही सहजसुन्दरी बोधिचित्त की मध्यमपथ अवधूती के मार्ग से उष्णीषकमल या महासुखचक्र तक ले जाती है। इसी सहजयानी साधना के तथ्य को डॉ. कविराज ने अद्वयसाधना की दृष्टि से बड़ी सूक्ष्मता से स्पष्ट किया है। उनके अनुसार अवधूती, चण्डाली और डोम्बी अथवा बंगाली ये एक ही शक्ति की तीन अवस्थाएँ मात्र हैं। अवधूती अवस्था में द्वैत रहता है, ललना और रसना का पार्थक्य रहता है, इड़ा और पिंगला स्वकार्यसाधन करती हैं एवं प्राण और अपान यथानियम स्पंदित होते हैं। इनका सम्मिलन क्रमशः सम्पन्न होता है। अन्त में द्वैत नहीं रहता।

---

१. *एन इं. ता. बु.*, दासगुप्त, पृ. १८०।

२. *वही*, पृ. १८१।

३. *वही*, पृ. १८५-१८८।

अवधूती की पूर्ण विशुद्धि अर्थात् चण्डाली से डोम्बी भाव की प्राप्ति होती है। अवधूती, चण्डाली और डोम्बी क्रमशः द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत भाव की सूचक मात्र हैं।[१] इस प्रणाली का हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला की पद्धति से मिलान करने से कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता।

पहले कहा जा चुका है कि कृष्णपाद अपने को बार-बार कापालिक कहते हैं और तदनुरूप कापालिक वेश-भूषा भी धारण करते हैं। हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला से जो सामग्री और प्रमाण उपास्य के स्वरूप के संबंध में प्रस्तुत किए गए हैं, उनसे यह संगत प्रतीत होता है कि सरहपाद और कृष्णपाद किसी न किसी प्रकार कापालिक साधना से सम्बद्ध रहे हैं। उपास्य का कापालिक रूप तो हम स्पष्ट कर ही चुके हैं साथ ही उनकी मुद्राशक्ति तथा साधक के कापालिक स्वरूप का भी हम परिचय दे चुके हैं। यह देखा जा सकता है कि कापालिक साधना के तत्त्वों का व्याख्यान कृष्णपाद ने किया है और हेवज्रतंत्र में उसके कितने प्रमाण मिलते हैं।

८. बौद्ध कापालिक साधन के प्रमुख तत्त्व

सामान्य अबौद्ध कापालिकों की विशेषताओं का विवरण पहले दिया जा चुका है किन्तु यदि उनके सैद्धांतिक विचारों की भी परीक्षा की जाए तो उनके साधन के मूलाधार का ज्ञान हो जाता है। कापालिक मत में परमेश्वर को अद्वैत तत्त्व ही माना गया है। "जब संहार-भैरव अन्यान्य खण्ड भैरव मूर्तियों को आत्मलीन करके प्रलय के अंत में अपने आप में विराजते हैं, तब कोई दूसरी सत्ता नहीं रह जाती। वस्तुतः सृष्टि-दशा में भी जगत् स्वगतभेदयुक्त होते हुए भी ईश्वर के साथ अभेदरूपेण सम्बद्ध रहता है।" प्रबोधचन्द्रोदय के कापालिक के कथन से ही यह ज्ञात होता है कि जगत् ईश्वर से अभिन्न है। इस मत के अनुसार जीव मुक्त होकर शिवत्व-लाभ करता है अर्थात् शिवरूप धारण करता है और शिव के समान पार्वती प्रतिरूपक शक्ति द्वारा नित्यालिंगित होकर स्वेच्छानुसार विहार करता है। मालतीमाधव में शक्तिनाथ या शिव को शक्तिवर्ग द्वारा परिणद्ध माना है। इस दृष्टि से कापालिकों के अनुसार ईश्वर नित्य युगल रूप में प्रकाशमान है। शक्त्यालिंगित शिव या उमा-महेश्वरमूर्ति कापालिकों के उपास्य देव हैं। कभी-कभी अर्द्धनारीश्वर रूप का प्राधान्य पाया जाता है। जगत् के माता-पिता नित्य सम्पृक्त वाक् और अर्थ के समान नित्य युक्त हैं। अन्यान्य तांत्रिकों के समान कापालिक भी इस मूर्ति की श्रेष्ठता अंगीकार करते हैं। "प्रबोधचन्द्रोदय, मालतीमाधव, आनन्दगिरिकृत शंकराविजय आदि ग्रंथों से प्राप्त सूचनाओं पर तथा साथ ही तांत्रिक ग्रंथों से प्राप्त विवरण पर विचार करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि कापालिक सिद्धांत अनेक अंशों में अद्वैतवाद का केवल प्रकारभेद है जो ईश्वर को जगत् का निमित्त और उपादान कारण दोनों मानता है।[२]

---

१. *भा. सं. सा.*, भाग २, पृ. २६१-२६२।

२. *वही*, (१) पृ. २१७-२१९ तथा पा. टि.।

इसके आधार पर कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जिनका उपयोग बौद्ध कापालिक साधना के लिए किया जा सकता है—(१) कापालिक साधना अद्वैतवादी साधना है। (२) वह उपास्य की शक्ति से नित्य संपरिष्वक्त रूप में उपासना करती है। (३) इस साधना से जीव मुक्त होकर शिवत्व-लाभ करता है और उपास्य रूप धारण करता है। (४) वह साधक शिव के समान पार्वती प्रतिरूपक स्वशक्ति द्वारा नित्यालिंगित होकर स्वेच्छानुसार विहार करता है। (५) जगत् को मिथ्या नहीं मानता। कापालिकों की वामाचारिता प्रसिद्ध है किन्तु वे परमेश्वर को शिवात्मक न मानकर शिवशक्त्यात्मक मानते हैं।[१] हेवज्रतंत्र के उपास्य का विशेषकर बुद्धकपाल का जो स्वरूप पहले प्रस्तुत किया गया है, उसमें उनके नित्य संपरिष्वक्त रूप का परिचय मिलता है। इससे बौद्ध कापालिक साधना की अद्वयवादिता, महासुखवादिता का निष्कर्ष निकाला जा सकता है। दीक्षित होकर शिष्य वज्र और घंटा धारण करते हुए अपनी मुद्रा के साथ गुरु के निर्देश के अनुसार चतुर्थ अभिषेक में, महासुख की प्राप्ति करता है और स्वतः 'अहंकार' ('मैं हेवज्र हूँ' इसी प्रकार की भावना) करता हुआ मुक्त साधन हेवज्रवत् विचरण करता है। इसी प्रसंग में दौड़ीपाद का प्रसिद्ध श्लोक सिद्ध होता दिखाई पड़ता है—

प्राणी वज्रधरः कपाल-वनितो-तुल्यो जगत्स्त्रीजनः।
सोऽहं हेरुकमूर्तिरिष भगवान् यो न प्रभिन्नोऽपि च॥
श्रीपद्मं मदनं च गोकुदहनं कुर्वन् यथा गौरवाद्।
एतत्सर्वमतीन्द्रियैकमनसा योगीश्वरः सिद्धयति॥[२]

इसकी विशेष उपयोगिता यह है कि चर्यापद के टीकाकार मुनिदत्त ने इस श्लोक को कृष्णपाद के ही एक चर्यापद की टीका में उद्धत किया है। ठीक इसी विचार एवं साधन की परम्परा में हेवज्रतंत्र के कापालिक साधन का विचार किया जाना चाहिए।

हेवज्रतंत्र में वर्णित साधनक्रम को देखने से उसके वामाचारी होने का प्रमाण मिल जाता है। उसमें स्पष्टतः कहा गया है कि साधक को चाहिए कि वह विभिन्न कापालिक आभूषणों को धारण करके पंचामृत का सेवन करे। उसे पंचकुलों का सेवन करना चाहिए और उन्हें एक मानना चाहिए। साधन के लिए उचित स्थान है—एकान्त में पेड़ के नीचे या श्मशान अथवा मातृमन्दिर अथवा कोई निर्जन स्थान। ध्यान के लिए रात्रिकाल ही अधिक उपयुक्त है। ध्यान का कुछ प्रभाव आने पर किसी षोडशी वज्रकुलकन्या के साथ वज्रगीतों का गायन एवं नृत्य करते हुए हेवज्रस्थान में आकर नृत्य करे। इस समय उसका गायन ही मंत्र होता है और उसका नृत्य ही ध्यान है।[३] इस प्रकार की कापालिक योगसाधना के अन्तर्गत हेवज्रतंत्र में उपर्युक्त प्रकार की चक्र-योजना स्वीकृत है। यह योजना अन्य वज्रयान ग्रंथों की योजना के अनुरूप है। इसी

---

१. *भा. सं. सा.*, पृ. २१९।

२. *चर्यागीतिकोष*, बागची तथा शास्त्री, पृ. ४०, च. सं. ११ की टीका में उद्धृत।

३. *हेवज्रतंत्र*, स्नेलग्रोव, भाग २, मूल, १.६.२-६।

प्रकार तदंगभूत तथा सहायक अन्य तत्त्वों एवं उपकरणों का भी तदनुरूप विधान मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि सरह और कृष्णपाद दोनों ही यद्यपि वज्रयानसम्मत साधन को स्वीकार करते हैं तथापि उसमें कापालिक तत्त्वों का विशेष नियोजन करते हैं। यद्यपि हेवज्रतंत्र अनुत्तरयोग तंत्र हैं तथापि उसमें अनेक प्रकार के कर्मकाण्डों का भी विधान मिलता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि इसका प्रतिपाद्य एवं लक्ष्य तो अवश्य ही उष्णीषकमल में प्राप्त अद्वयात्मक सहजानंद अथवा महासुख है तथापि इनके क्रमिक सोपानों का निर्देश भी इसमें किया गया है। आचार्याभिषेक, गुह्याभिषेक, प्रज्ञाज्ञानाभिषेक एवं चतुर्थाभिषेक के स्पष्ट निर्देश इसी क्रम की ओर संकेत करते हैं। इसी क्रम के अनुरूप पशु वीर एवं दिव्य भावों का विचार पहले किया गया है।

हेवज्रतंत्र में हेवज्र (अर्थात् उपास्य) को वीर कहने[१] का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि इस तंत्र में वामाचार एवं वीरभाव को ही विशेष रूप से व्याख्यात कर उससे अद्वयभाव को ही चरम प्राप्तव्य माना गया है। इसमें बिन्दुसिद्धि की प्रमुखता दिखाई देती है। तदनुरूप हेवज्र के वीरत्व की भी प्रमुखता बताई गई है। कृष्णपाद ने योगरत्नमाला में इसकी व्याख्या की है—'निरुत्तरं वीर्ययोगाद् वीरम्।'[२] वीर्य अर्थात् शुक्र का दिव्यार्थ बोधिचित्त है और वीरार्थ वीर्य है। अत: वीर्ययोग वीरभावसाधन में बिन्दु अथवा शुक्र के योग की ओर संकेत करता है। वहीं वह दिव्यभाव साधन में प्रज्ञोपायात्मक बोधिचित्त (प्रज्ञा-करुणा) की ओर संकेत करता है। नित्यभाव से निरुत्तर अर्थात् चतुर्थसेकान्तर्गत दिव्यावस्था में वीर्ययोग में स्थित रहने के कारण ही हेवज्र को वीर कहते हैं। वीरभाव एवं वामाचार में इसकी सिद्धि वीर्य अथवा बिन्दु को लेकर ही होगी जिसमें वामाचार एवं पंचमकारों का स्पष्ट विधान है। हेवज्रतंत्र में और योगरत्नमाला में भी पंचमकारों का वामाचारोचित्त विधान तो है ही साथ ही उनकी प्रतीकात्मक व्याख्या से उस दिव्य भावसाधन की ओर भी संकेत होता है जिसे यह अनुत्तरयोगतंत्र अपना चरम साधन मानता है। नैरात्मा जहाँ वज्रवाराही शक्ति की ओर संकेत करती है, वहीं वह प्रज्ञास्वरूपा भी है जिससे उसके दिव्य आध्यात्मिक रूप की ओर भी संकेत होता है। दूसरे शब्दों में यह शिवशक्त्यात्मक रूप है। तात्पर्य यह है कि आचार्याभिषेक में जिस कर्मकाण्डीय विधान और बाह्यपूजा विधान की अधिकता होनी चाहिए, वह अल्पमात्रा में हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला में भी है तथापि इसमें भावनायोग की ही प्रधानता है। प्रज्ञोपाययोग अथवा अद्वययोग का प्राधान्य होते हुए भी इस तंत्र में यद्यपि उच्चाटन, मारण, स्तम्भन, वशीकरण आदि प्रसिद्ध षटकर्मों के विधान के औचित्य पर सन्देह किया जा सकता है तथापि महाकरुणा से आप्लुत हेरुक का द्रवणशील चित्त जगदुद्धरण और ज़गद्धित के लिए इन कार्यों को करने में तत्पर ही नहीं रहता, महासुख का अनुभव भी करता है। वज्रयान के संपरिष्वक्त देवताओं की भयंकर आकृति के पीछे यही रहस्य है। भावनायोग का जो विवरण दिया गया है, उसमें बीज-

---

१. *हेवज्रतंत्र,* मूल २.५.३, पृ. ७६ 'कपालमालिनं वीरं नैरात्म्याश्लिष्टकन्धरम्।'

२. *वही,* मूल, *योगरत्नमाला,* २.५, पृ. १५१-१५२।

चक्र-साधन का भी योग है जिसमें प्राणायाम सहायक होता है। इस प्राणायाम का अनिवार्य साधनांग नाड़ियाँ हैं। इस बिन्दुसिद्धि के लिए मुद्रा अनिवार्य है। चक्रक्रम से ही एक मुद्रा के अनेक रूप अनुभूत होते हैं। इस सम्पूर्ण साधन की व्याख्या के आन्तरिक तत्त्वों को हृदयस्थ करने के लिए म. म. डॉ. गोपीनाथ कविराज द्वारा दी गई व्याख्याएँ अवश्य ही पुनः मननीय हैं।

हेवज्रतंत्र में कापालिक साधक के मुद्रालंकारादि वेष, वज्रकन्यास्वरूप, साधन-स्थल, नृत्यगीतादि तथा इनसे सम्पन्न चर्या का विस्तृत विवेचन अनेक स्थलों पर मिलता है।[१] इस साधन के लिए उपास्य के रूप की भी कल्पना की गई है और कापालिक साधक भी उसी प्रकार के रूप को धारण करता है। हेवज्र भी अष्टयोगिनियों से परिवृत्त होकर श्मशान में क्रीड़ा करते हैं और साधक भी श्मशान में अपनी वज्रकन्या के साथ चर्या में प्रवेश करता है।[२] नैरात्म्या-योगिनी का भी इसी प्रकार वर्णन मिलता है।[३] उक्त रूपधारी हेवज्र सद्यः वर्णित रूप को धारण करने वाली नैरात्म्या को आलिंगित कर 'कपाल' में 'बोल' का क्षेपण कर अन्य सम्बद्ध क्रियाओं को सम्पादित करते हैं।[४] साधक के पक्ष में यह नैरात्म्या उसकी प्रज्ञा अथवा मुद्रा है। साधन की अग्रवर्ती स्थिति में यही महामुद्रा रूप को प्राप्त करती है। इस महामुद्रा का आकांक्षी साधक खान-पान, स्नान, जाग्रत्, स्वप्न आदि सभी अवस्थाओं में सातत्य के साथ उसका चिंतन करता है। आध्यात्मिक रूप में यह नैरात्म्या ही है जो कर्पूर के समान है, सुखमयी है और नाभिमंडल में संस्थित रहती है। उत्पन्नक्रमयोग के अनुसार वही भगवती प्रज्ञा है। न तो वह दीर्घा है न ह्रस्वा, न चतुरस्रा है, न वर्तुला। वह स्वाद-गन्ध-रस से अतीत है और सहजानन्दकारिणी है। योगी उसी में उत्पन्न होता है, उसी के सुख का भोग करता है और उसी के साथ सुख प्रदान करने वाली महामुद्रा सिद्ध होती है। इस महामुद्रा का विस्तार से वर्णन हेवज्रतंत्र में मिलता है।[५] इसी प्रकार तथागत कुलानुसार पंचमुद्राओं का भी वर्णन मिलता है।[६] शास्ता के द्वारा मुद्रा की पूजा की जाने के बाद शास्ता उस सुखावहा मुद्रा को ग्रहण करने का शिष्य को आदेश देता है और कुन्दुर (दीन्द्रियसमापत्तियोग) का निर्देश देता है। यह शिष्य भी ईर्ष्या एवं क्रोध से वर्जित होता है। पूर्ववर्णित प्रकार की मुद्रा से इस प्रकार युक्त होकर शिष्य गुरु का दर्शन कर उनकी स्तुति एवं पूजा करता है और समानरूप बनाने की प्रार्थना करता है।[७] तदुपरांत महाकरुणाचित्त शास्तारूप गुरु मुद्रायुक्त शिष्य को अभिषेक एवं दीक्षा के क्रम से साधन में प्रवृत्त करता है।

---

१. *हेवज्रतंत्र,* मूल १-६.१-१०, पृ. १८ तथा *योगरत्नमाला,* पृ. ११९-१२०।

२. *वही,* मूल, १.३.१३-१६।

३. *वही,* १.८.१६-२०।

४. *वही,* २.६.१-२।

५. *वही,* मूल, २.४.४०-४३, २.८.१-५।

६. *वही,* १.५.४ ।७।

७. *वही,* २.३.१६-१८।

वीरभाव एवं वामाचारप्रधान अद्वयवादी कापालिक साधना में श्मशान का साधनोचित्त देश के रूप में विशेष महत्त्व है। लोककल्याण के सभी कार्य इस साधन में श्मशान में सम्पन्न होते हैं यद्यपि अन्य स्थानों का भी विकल्प के रूप में निर्देश मिलता है। मेघवर्षा के लिए भी श्मशानप्रिय का साधन श्मशान में ही होता है।[१] हेवज्रतंत्र प्रेतालय तथा उदधितट को श्मशान तथा उद्यान एवं वापिकातीर को उपश्मशान मानता है।[२] इस साधन में सर्वत्र शव और श्मशान की व्यापकता है। इस तंत्र का साधक मृतक के क्षार को आभूषण के रूप में धारण करता है और प्रेतालय अर्थात् श्मशान में प्राप्य पुष्प को अपने केश में बाँधता है। मंडलनिर्माण में श्मशान की ईंटों और अंगारों का प्रयोग करता है। श्मशान में ही भोजन करता है और उसके लिए वहाँ शवरूपी आसन की रचना करता है। श्मशान के ही कपड़े का प्रयोग करता है।[३] इस योग का साधक धर्मधात्वात्मक मृतक की भावना कर स्वयं अपने को उस पर स्थित कर हेरुक की विभावना करता है। श्मशान में ही अष्टयोगिनियों से परिवृत्त होकर नाथ (हेरुक) क्रीड़ा करते हैं और श्मशानोपलभ्य विभिन्न वस्तुओं को धारण करते हैं (जिसका वर्णन पहले हो चुका है)। इसी प्रकार उनकी शक्ति भी रूप धारण करती है।[४] हेवज्रतंत्र के देवता, देवियों तथा साधक कपाल को अनेक रूपों में धारण करते हैं।[५]

हेवज्रतंत्र में पंचमकार के विभिन्न तत्त्वों के प्रत्यक्ष प्रयोग का विधान मिलता है। वज्रकपालयोग के अनुसार जिन-जिन जन्तुओं का मांस योगी भक्षण करता है, वे सभी प्राणी वश में हो जाते हैं। वह मदन (मद्य) का पान और मांस का भक्षण करता है।[६] इतना ही नहीं, कापालिक साधक गुरु की वन्दना कर मदन (मद्य) पूरित कपाल को निवेदित करता है और तब स्वयं पान करता है।[७] इतना ही नहीं, मैथुन की विविध क्रियाओं के स्पष्ट उल्लेख भी हेवज्रतंत्र में मिलते हैं जिनमें बोलकक्कोलचुंबनादि का भी अन्तर्भाव है।[८] हेवज्रतंत्र में ही इनमें से अनेक शब्दों के प्रतीकार्थ दिए गए हैं। अनुत्तरयोगतंत्र होने के कारण इस तंत्र का अभिप्रेतार्थ (संधाभाषा के अनुसार) यह प्रतीकार्थ ही है। इनका विस्तार योगरत्नमाला में मिलता है। हेवज्रतंत्र के अनुसार मांस से पुक्कसी, रक्त से शवरी, शुक्र से चण्डाली और मेदमज्जा से डोम्बी का अर्थ अभिप्रेत है। इसी प्रकार चर्म से सात बोध्यंग और अस्ति से सत्यचतुष्टय का बोध होता है।[९]

१. *हेवज्रतंत्र,* मूल, १.२.२०-२१, १.६.७, १.३.१६।
२. *वही,* मूल, १.७.१८।
३. *वही,* २.३.४९, २.५.५१, २.७.७-८।
४. *वही,* १.३.४, १.३.१६-१८, १.७.२०-२१, १.८.४, १.८.१९।
५. *वही,* १.३.१५-१८ तथा हेवज्र, देवियों एवं मुद्राओं के वर्णन के अन्य संदर्भ।
६. *वही,* १.७.२८, २.३.२१, २.५.६१, २.७.१०।
७. *वही,* २.८.१२।
८. *वही,* २.७.५, १.११.१०-१५।
९. *वही,* २.११.१३।

इसी प्रकार अस्पर्श का अर्थ डिण्डिम तथा कपाल का अर्थ पद्मभाजन है।[१] इसका अर्थ यह है कि यद्यपि वामाचारपरक अर्थों में विभिन्न शब्दों एवं क्रियाओं का वैपुल्य इस तंत्र में दिखाई पड़ता है तथापि संधाभाषा की दृष्टि से इस तंत्र का अभिलषितार्थ दिव्याचारपरक ही है। पंचमकारगत तत्त्वों में से मैथुन एक ऐसा तत्त्व है जो सबसे अधिक आपत्ति का भाजन बना है। हेवज्रतंत्र में इसका स्पष्ट निर्देश मिलता है कि इस प्रकार की चर्या का आचरण भोग के लिए नहीं किया जाना चाहिए। अपने (चित्त अथवा शुक्र) की स्थिरता अथवा चंचलता के पर्यवेक्षण के लिए ही मुद्रा का ग्रहण कर चर्या करनी चाहिए।[२] चित्त की स्थिरता का निश्चय हो जाने के बाद ही उपर्युक्त चर्या में प्रवृत्त होना चाहिए। फिर भी इनके दिव्यार्थ को न भूलना चाहिए। इनका अनुस्मरण करते हुए ही चर्या में प्रवृत्त होना चाहिए।

हेवज्रतंत्र के द्वितीय कल्प का तृतीय पटल इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार मदन मद्य है, मांस बल है, मलयज मिलन है, खेट की गति है। शव आश्रय है, अस्थ्याभरण निरंकुश अर्थात् नग्न है। प्रेंखण अगति है, कृपीट का अर्थ डमरूक है और दुन्दुर का अर्थ अभव्य है। कालिंजर का अर्थ भव्य और डिंडिम का अस्पर्श है। कपाल का अर्थ पद्मभाजन है, भक्ष्य का अर्थ तृप्तिकर है। मालतीन्धन व्यंजन है और चतु:सम गोबर है। मूत्र का अर्थ कस्तूरिका है। सिल्हक रक्त है और कर्पूर शुक्र है। शालिज महामांस (नरमांस) है और कुन्दुर का अर्थ है द्वीन्द्रिययोग। इनके अतिरिक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द हैं बोल और कक्कोल। बोल वज्र का द्योतक है और कक्कोल पद्म का।[३] वज्र पुरुष शक्ति का और कक्कोल स्त्री शक्ति का प्रतीक है। इन अर्थों का उल्लेख यहाँ हेवज्रतंत्र की अनुत्तरयोगतंत्रता सिद्ध करने के लिए किया गया है। इन प्रतीकार्थों का विस्मरण हो जाने से ही तांत्रिक बौद्ध साधना का ह्रास हो गया और वज्रचर्या भोगचर्या हो गई। इसीलिए साधना के क्षेत्र में गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेद का इतना महत्त्व है और इसीलिए हेवज्रतंत्र को यह स्पष्ट निर्देश देना पड़ा कि उपर्युक्त प्रकार की चर्या चित्त के स्थैर्य-अस्थैर्य के पर्यवेक्षण के लिए है, भोग के लिए नहीं। योगरत्नमाला की परीक्षा करने से इन तत्त्वों पर और भी प्रकाश पड़ता है।

कृष्णवज्रपाद लिखित टीका योगरत्नमाला के अनुसार भी हेवज्रतंत्र में वर्णित साधना प्रज्ञोपायात्मक है अर्थात् अद्वयसाधना है। हेवज्र शब्द से ही इसकी सिद्धि होती है। हेवज्र के 'हे' का अर्थ है महाकरुणा और वज्र शब्द से प्रज्ञा का बोध होता है। इस प्रकार यह तंत्र प्रज्ञोपायात्मक तंत्र है। 'एवं मया श्रुतम्' की व्याख्या करते हुए ए, वं, म और या को चक्रस्थ बताकर श्रुतं को सहज कहा गया है। इनके अनुसार शून्य और वज्र एकार्थक हैं। इसकी पुष्टि में इससे सम्बद्ध 'दृढं सारं असौशीर्यं' जैसे प्रसिद्ध श्लोक को उद्धृत किया गया है कि इस तंत्र के साधन में भावना का विशेष महत्त्व है। भावना ही

---

१. *हेवज्रतंत्र,* मूल, २.३.५८।

२. *वही,* २.२.२२।

३. *वही,* भाग २, मूल, २.३.५५-६०।

बंधन और मोक्ष दोनों का कारण है।[१] कृष्णपाद महाज्ञान को यद्यपि देहस्थ मानते हैं तथापि वह देहज नहीं है। इसीलिए हेवज्र की काया का वर्णन करते समय वे चक्र-नाड़ी-योजना का परिचय देते हैं। इसी क्रम में मलप्रक्षालन के लिए चार प्रकार के सेकों और मुद्राओं का भी वर्णन करते हैं। इस साधन को सर्वोच्च स्थान देते हुए समयवज्रपाद के प्रमाण पर उनका स्पष्ट कथन है कि जिस व्यक्ति ने वज्रमार्ग के उपाय से अपने मानस को विचित्र कर लिया है, वही स्वसंवेद्य धर्मकाय महासुख को स्फुटीकृत कर पाता है। उसके लिए वज्रधरसिद्धि करतलस्थित है। इस वज्रमार्ग में बोधिचित्त का साधन प्रमुख है जो शून्यताकरुणाद्वयस्वभावात्मक है। इस बोधिचित्त की साधना चक्र-नाड़ी साधना के माध्यम से की जाती है।[२]

परमार्थ का मनन जगत्राणत्व मंत्र का मूल तत्त्व है। पारमार्थिक बोधिचित्त के द्वारा ही यह कार्य संभव है। इस भावना से कृष्णवज्रपाद ने जिस मंत्रयोग का विधान किया है उसमें अनेक प्रकार की साधनोचित्त सामग्रियों के मंत्रोच्चारण सहित प्रतिष्ठान का भी निर्देश है। उनके काल, देश, प्रयोग के साथ वज्रा, गौरी, चौरी आदि देवियों की कापालिक विभावना का भी निर्देश है। मारण, मोहन, स्तम्भन, उच्चाटन आदि के लिए भी मंत्रों का प्रयोग विहित है। इस प्रसंग में कृष्णपाद ने बड़े विस्तार से देवियों और देवताओं के कापालिक लक्षण से सम्पन्न रूप की व्याख्या की है।[३] इन देवियों एवं देवताओं की साधना के लिए किसी मनोरम स्थान में सुखासन में बैठकर स्थानात्मयोग की रक्षा के लिए 'ओं रक्ष रक्ष हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा' मंत्र का तीन बार उच्चारण कर पटादिगत भगवन्मूर्ति की अभ्यर्चना करनी चाहिए। तदुपरांत पापादेशना, पुण्यामोद करके त्रिशरण में जाकर बोधिचित्त का उपस्थापन कर सर्वप्रथम क्षण में मैत्री (सर्वसुखोपनयन), दूसरे क्षण में करुणा (सर्वदु:खापनयन), तीसरे क्षण में मुदिता (सर्वसुखाविच्छेदनीयमाकारा) तथा अन्त में उपेक्षा की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार के योग के उपरान्त भावना योग का विधान किया गया है, जिसमें भगवान् के रूप का वर्णन कर स्वयं भावक योगी ही द्वेषात्मक हेरुक के रूप में अपनी ही भावना करता है।[४]

आध्यात्मिक योग का वर्णन करते हुए कृष्णपाद ने यह बताया कि प्रज्ञा के कई रूप हैं—१. जननी (हितैषिणी), २. भगिनी (वत्सला), ३. नटी (पटुप्रचारा), ४. रजकी (शुक्लकर्मरता), ५. वज्री (ध्यानप्रेया), ६. चंडाली (निहतमान के कारण क्षमाशीला), ७. ब्राह्मणी (अनवद्यकर्मरता)। यह प्रज्ञा ही नैरात्म्या है और उपाय हेवज्र है। इनका एकत्वसाधन करना चाहिए। अवधूती, ललना और रसना वस्तुत: प्रज्ञोपायाद्वयस्वभाव की हैं। इन तीनों नाड़ियों के योग से महासुख उत्पन्न होता है।

---

१. *हेवज्रतंत्र,* भाग २, *योगरत्नमाला,* १.१, पृ. १०४-१०६—'हेकारेण महाकरुणा वज्रं प्रज्ञा च भण्यते। प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं तन्मे निगदितं शृणु॥'

२. *हेवज्रतंत्र,* भाग २, पृ. १०६-११०।

३. *वही,* १.२, पृ. १११-११३—'परमार्थमननात् जगत्राणनाच्च मन्त्र:। पारिमार्थिकबोधिचित्तं मन्त्र: मन्त्रनिष्पन्दत्वात्।'

४. *वही,* भाग २, *योगरत्नमाला* १.३, पृ. ११३-११५।

इसलिए योगवित् योगी लोग सदैव इनकी महासुखमयी पूजा करते हैं।[१] वज्र का अर्थ है अभेद्य ज्ञान। मोद अथवा हर्ष अथवा महासुख उत्पन्न करने वाली होने के कारण शक्ति को मुद्रा कहते हैं। निष्पन्नक्रमसमाधि के अन्तर्गत जप-ध्यान-मुद्रा-मंडलादि का विधान किया गया है। ये सारे कर्म आदिकर्म में अन्तर्भूत हैं। इसी प्रकार निःप्रपंचक्रम में जपध्यानादि का विधान है जिसमें वाम-दक्षिण-नासापुट-नाड़ी में वायु के आगमन और निर्गमन का निरीक्षण करने के लिए कहा गया है। उसके साथ गुरुपदेश से वज्रजाप करने के लिए भी कहा गया है। मंडल अर्थात् साररूप महासुखज्ञान को लाने के कारण ही मंडल अभिधा सिद्ध होती है। इसी क्रम में अंगुलियों की मुद्राओं की भी व्याख्या की गई है किन्तु ये सभी बाह्य मुद्राएँ हैं। ध्याता, ध्यान और ध्येय, इन तीनों के अभाव अथवा इनके मरण को ही मोक्ष बताया गया है।[२]

पहले बताया जा चुका है कि आरम्भिक साधन में कर्मकाण्डीय विधानों का आधिक्य रहता है और दीक्षा एवं अभिषेकक्रम से क्रमशः इनकी न्यूनता होती जाती है और भावसाधन का आधिक्य हो जाता है। समाधि और मंत्रों से साधक में उत्पन्न ऊष्मा के कारण अनेक प्रकार के सांसारिक कष्टों और योग की बाधाओं का अभाव हो जाता है। लोभ और मोह, ब्रीड़ा और निद्रा ये दोनों ही योग के महाविघ्न हैं। ब्रीड़ा के कारण वीरसाधन में अनेक प्रकार के मकारों के प्रयोग में साधन विचलितचित्त हो जाता है। निद्रा के कारण सातत्य में बाधा पड़ती है। इस चर्या में बाह्य होमादि सर्वथा परिहर्तव्य हैं। इसमें यत्किंचिद् भक्षण ही होम है और प्रज्ञासेवन ही योग है। इस प्रकरण में हेवज्रतंत्र होम, योग, तप, गीत, मंडल, ध्यान सबका निषेध करता है किन्तु योगरत्नमाला इसकी व्याख्या में पश्वाचारेतर विधान का उल्लेख करती है। इसी दृष्टि से 'माला' चर्या के तीन भेद बतलाती है—सप्रपंचता, निःप्रपंचता और अतिनिःप्रपंचता। इनमें से अन्तिम में जगदर्थकारण के लिए नित्य ही अहर्निश महाकरुणा के महासुखरस का पान करना चाहिए। इस स्थिति में योग ही समाधि है। रति प्रीति है। अतः इस चर्यायोग में अन्य मदिरादि का पान कर्तव्य नहीं है।[३]

जैसा पहले कहा जा चुका है, योगरत्नमाला बौद्ध तांत्रिक साधन के अनेक गूढ़ रहस्यों को, गूढ़ार्थों को, उद्‌घाटित करती है। उनमें से कुछ का ही उदाहरण पर्याप्त होगा। 'वामांगुष्ठनिपीडन' पद में वामा का अर्थ प्रज्ञा है। प्रकरण के अनुसार वामा का अर्थ है प्रज्ञा या शक्ति या मुद्रा के कमलोदर में। अंगुष्ठ का प्रतीकार्थ वज्र है। निपीडन का अर्थ निवेश है। प्रकारान्तर से प्रतीकात्मक ढंग से यह वज्राब्जसंयोग अथवा प्रज्ञोपाययोग का ही विधान किया गया है। इसी प्रकार अनामिका प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का द्योतन करती है और त्रिशूल ललना-रसना-अवधूती के अद्वयसाधन अथवा प्रज्ञा-उपाय एवं अद्वय की स्थिति

---

१. *हेवज्रतंत्र,* भाग २, १.५, पृ. ११६-११७।

२. *हेवज्रतंत्र,* भाग २, १.५, पृ. ११६-११७ 'मुदं हर्षं महासुखं जन्यते तेन ईतुना मुद्रेत्युच्यते।' 'मण्डं सारं इत्युक्तं महासुखं ज्ञानं लाति गृह्णातीति मण्डलम्।'

३. *हेवज्रतंत्र,* भाग २, *योगरत्नमाला* १.६, पृ. १२०-१२१-'बाह्यहोमादि सर्वथा परिहर्त्तव्यः। कुतः यतोऽस्य हेवज्रात्मनो यत् किंचिद् भक्षणं होमःप्रज्ञासेवनञ्च योगः।'

की ओर संकेत करता है। मेदिनी से निर्माण चक्र का बोध होता है, क्योंकि यह चक्र पृथ्वी तत्त्व का चक्र है। इसके पश्चात् धर्मचक्र का स्थान है। भृकुटी से संभोगचक्र का बोध होता है। इसी प्रकार ध्वज का अर्थ सालम्बन चित्त है और शस्त्रहतम् का अर्थ है प्रज्ञारूपी शस्त्र द्वारा हत अथवा निःस्वाभावीकृत। वज्रकपालयोग की व्याख्या से भी इसी प्रज्ञोपाययोग की सिद्धि होती है। वज्र तो हेवज्र का बोधक है और कपाल से नैरात्म्य का बोध होता है। कं अर्थात् सुख का पालन करने के कारण ही उस नैरात्म्य को कपाल कहते हैं। इस प्रकार शून्यता और करुणा दोनों का योग ही समाधि है।[१]

योगविवेचन में कृष्णवज्रपाद ने चक्रों, बीजाक्षरों, वर्णों और मंडलों का विस्तार के विचार किया है और उनका सम्बन्ध, पूर्व वर्णन के समान ही, पृथ्वी, अप, तेज और वायु से स्थिर किया है। नाड़ी के सम्बन्ध में उनका कथन है कि आलि एवं कालि का समायोग अथवा चन्द्रसूर्यमंडलयुग्म ही वज्रसत्व का आसन है।[२] सांवृतिक रूप में हम जिसे कमल-कुलिश कहते हैं, वही आध्यात्मिक रूप में प्रज्ञा और उपाय है। उनका योग ही सहज है। यह अनास्रवलक्षण एवं परमार्थ है। यही सभी धर्मों की प्रकृति है, भूतकोटि है, स्वभाव है।[३] चार प्रकार के तंत्रों का जो परिचय पहले दिया जा चुका है, साधन की दृष्टि से अथवा देव-देवी क्रिया अथवा साधक-साधिका क्रिया की दृष्टि से उनमें स्पष्ट भेद है। तदनुकूल अभिषेक का भेद है। क्रियातंत्र में देवताओं का अथवा प्रज्ञा एवं उपाय का परस्पर अनुरागसूचक हास दृष्टिगोचर होता है। इनकी विशुद्धि आचार्याभिषेक है। कुछ चर्यातंत्रों में प्रज्ञा एवं उपाय के परस्पर अनुरागसूचक ईक्षण की विशुद्धि गुह्याभिषेक है। कुछ योगतंत्रों में प्रज्ञा एवं उपाय के परस्परालिंगन की विशुद्धि प्रज्ञाभिषेक है। कुछ अनुत्तरतंत्रों में प्रज्ञा एवं उपाय के द्वंद्वतंत्रण अथवा द्वंद्वसमापत्ति की विशुद्धि चतुर्थाभिषेक है।[४] इस प्रकार के विभेदक तत्त्वों के व्याख्यान की उपलब्धि अन्यत्र कठिन है। योगरत्नमाला सभी साधनांगों का विवेचन करती हुई अन्ततः प्रज्ञोपाययोग अथवा वज्रकपालयोग के बिन्दु पर ही आकर विराम लेती है और बार-बार वह इसकी व्याख्या करती है कि प्रज्ञोपाय की द्वयता के आभास का राहित्य ही अद्वय है। इसी प्रकार महासुख की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि वह सभी प्रकार के क्लेशोपक्लेशों से उत्पन्न दुःखों का रतिलक्षणात्मक क्षय है। बोल और कक्कोल के दिव्यार्थ का भी व्याख्यान मिलता है जिसके अनुसार महाकरुणामय चित्त वज्र ही बोल है और सभी धर्मों की प्रकृति ही कक्कोल है। इस प्रकार ये क्रमशः उपाय और प्रज्ञा के द्योतक हैं। इनका योग ही संयोग है।[५]

---

१. *हेवज्रतंत्र,* भाग २, *योगरत्नमाला,* १.७, '१२१-१२३ वज्रो हेवज्रः, कं. सुखं पालयतीति नैरात्म्या शून्यताकरुणयोरुभयोर्योगः समाधिः।'

२. *वही,* १.८, पृ. १२३-१२५।

३. *वही,* १.१०, पृ. १३४-१३५।

४. *वही,* पृ. १४२।

५. *वही,* भाग २, *योगरत्नमाला,* २.३-पृ. १४४। 'अद्वयं प्रज्ञोपायद्वयाभासरहितम्।' 'महासुखं सकलक्लेशोपक्लेशजनितदुःखक्षयरतिलक्षणम्।' 'बोलं महाकरुणामयश्चितवज्रः।' 'कक्कोलं सर्वधर्माणां प्रकृतिः। तयोर्योगः संयोगः।'

इसी साधनाधारा और विचारधारा के अनुकूल अन्य शब्दों का भी अर्यविधान दिखाई पड़ता है। इसीलिए खग की 'ख योनौ खगम्' के रूप में व्याख्या की गई है। नैरात्म्या और हेरुक की एकता को ही सुरत के रूप में स्वीकार किया गया है। इन शब्दों को गुह्यसमापत्ति और आध्यात्मिक समापत्ति के दोनों अर्थों में ग्रहण किया जा सकता है और साधन में भी ये वीरभाव और दिव्यभाव दोनों में समान रूप से संयत दिखाई पड़ते हैं। वीरभाव साधन में बिन्दुसिद्धि की प्रधानता है। तदनुसार चक्रक्रम से क्रमशः निर्माण-चक्र में निस्यन्दफल, धर्मचक्र में विपाकफल, संभोगचक्र में पुरुषकारफल तथा महासुखचक्र में वैमल्यफल की उपलब्धि होती है। इसी क्रम से पुनः चक्र, मुद्रा, अभिषेकादि का उल्लेख कृष्णपाद ने किया है।[१] (इसके लिए पूर्वगत चक्रसारिणी देखी जा सकती है।) मुद्राओं की आध्यात्मिक व्याख्या में उनकी संख्या छः बताई गई है जिनमें से भगिनी कायगत चक्षु है, भागिनेयी श्रोत्र है, जननी घ्राण है, दुहिता रसना है और भार्या मन है।[२] इस अवस्था तक पहुँचने के पूर्व प्रारम्भिक अवस्था में मंत्रों का जो विधान मिलता है, उसका भी प्रायः सभी तंत्र रहस्यात्मक ढंग से वर्णन करते हैं। अतः देवियों, शक्तियों एवं देवताओं के वर्णों के आधार पर अथवा केवल संख्यात्मक संकेतों के आधार पर मंत्ररचना की विधि का उद्धार मंत्रोद्धार है। कृष्णपाद ने इस उद्धार-प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन किया है। इसके अनुसार वर्णाधिप ओंकार है। खेचरी 'अं' कार है। ऊष्म में चौथा ह-कार है। प्रथम का प्रथम क-कार है और प्रथम का द्वितीय ख-कार है। इस प्रकार के निर्देश देकर कृष्णपाद ने विभिन्न देवियों एवं देवताओं के साथ उनकी सम्बद्धता का भी उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए नैरात्मा अ है, वेताली ऐ है, पुक्कसी छः स्वर है। वारी इकार है, डाकिनी उकार है आदि।[३] इस प्रकार यदि योगरत्नमाला का विस्तृत अध्ययन किया जाय तो कृष्णवज्रपाद की साधना-पद्धति, तद्गत सिद्धांतों और साथ ही बौद्ध कापालिक साधना सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हमें मिल सकती हैं।

९. अपभ्रंश रचनाओं में साधना का स्वरूप और कापालिक तत्त्व

बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं की साधनाधारा के रहस्यों को समझने के लिए संस्कृत रचनाओं में विवेचित साधना को ध्यान में रखना परमावश्यक है। इसका कारण यह है कि चर्यापदों और दोहाकोषों में साधना-पद्धति की विभिन्न क्रियाओं और विधानों का विस्तृत विवेचन नहीं मिलता। उनमें केवल उपलब्धियों एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति मिलती है। दूसरे, अपभ्रंश रचनाएँ साधना की सर्वोच्चावस्था की रचनाएँ हैं। साधनागत सोपानों का परिचय उनसे नहीं मिलता। तीसरे, साधना की पारिभाषिक पदावली का अनुभूति की अभिव्यक्ति के रूप में प्रयोगमात्र इन अपभ्रंश रचनाओं में मिलता है, उनके सांकेतिक अर्थों तक पहुँचने के लिए, दिव्यभावपरक अपभ्रंश

१. *हेवज्रतंत्र*, २.४, पृ. १४७, १४८-१४९।

२. *वही*, २.७, पृ. १५६। 'अशुद्धचित्तशोधनात् भगिनी भवेच्यक्षुर। भागिनेयी श्रोत्रं एवं च जननी भण्यते घ्राणम्। रसना दुहिता तथा मनो भवेद् भार्या षड् एता वरा दिव्या महामुद्राप्रदायिका।'

३. *वही*, २.९, पृ. १५७।

रचनाओं की आत्मा तक पहुँचने के लिए इन तांत्रिक रचनाओं में विविक्त साधना-पद्धति का व्याख्यान परमावश्यक था। चौथे, तांत्रिक बौद्ध कापालिक साधना का इस विवेचन के पूर्व और कहीं भी विवेचन नहीं मिलता। अतः उसके संधान और स्वरूप-निरूपण के लिए भी इन रचनाओं और विशेषकर हेवज्रतंत्र एवं योगरत्नमाला की सामग्री का विश्लेषण परमावश्यक था। पाँचवें, तांत्रिक बौद्ध सिद्धाचार्य एवं बौद्ध कापालिक कृष्णपाद के स्वरूप निर्वचन के लिए उपर्युक्त ग्रंथों से शास्त्रीय सामग्री का संचयन एवं विश्लेषण करना भी अतीव आवश्यक था। आगे सरहपाद और कृष्णपाद की रचनाओं में विवृत्त साधना-पद्धति का जो विवेचन किया जा रहा है, उसके रहस्यों को हृदगत करने के लिए यह पूर्व विवेचन अनिवार्य रूप से ध्यातव्य है।

सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं की साधना का भी मूलाधार पिण्ड-ब्रह्मांडवाद है जो अंतस्साधना में अनुस्यूत सिद्धांत है। सरहपाद का कहना है कि साधना की चरमावस्था वहाँ है जहाँ चित्त धर्ममहासुख में उसी प्रकार लीन हो जाता है जिस प्रकार नमक पानी में। यह चित्त की पूर्ण शांति की अवस्था है; किन्तु सरह के अनुसार इस चरम शांति और महासुख में चित्त की एकांत विलीनता की अवस्था की प्राप्ति तंत्र और मंत्र से नहीं होती। ये सभी बाह्य हैं। जब तक स्वतः अनुभव न किया जाय, तब तक यह अवस्था नहीं आती। तंत्र तो उसी प्रकार निस्सार है, संतोष और शांति देने वाले हैं, जैसे पेड़ में लगे हुए फल। फलों को देखने से कभी संतोष नहीं होता और न वैद्य को देखने मात्र से कभी रोग ही दूर भाग जाता है।[1] सरहपाद ने अपने ही संप्रदाय में फैले अनेक कृच्छ्राचारप्रधान विधानों का विरोध करने के साथ ही परधर्मों की भी कठिन साधनाओं और आडंबरों का विरोध किया। उनका स्पष्ट कथन है कि ब्राह्मण परमतत्त्व के रहस्य को नहीं जानता। चारों वेद तो उसने यों ही पढ़ लिया है। मिट्टी, कुश, पानी, होम आदि के कर्मों को अकारण ही संपादित करते हुए वह अपने को कष्ट देता है और कड़ुए धुएँ से अपनी आँखों को दग्ध करता है। एकदंडी, त्रिदंडी, भगवावेषी, हंस आदि सभी मिथ्या उपदेश देते हैं, बाहर भूले हुए हैं। उन्हें धर्म-अधर्म का कुछ भी पता नहीं। राख लपेट कर अनेक प्रकार के आचार करते हैं। शीश पर जटाधार धारण किए रहते हैं। दक्षिणा के उद्देश्य से अनेक प्रकार के रूप बनाते हैं, दीपार्चन करते हैं, घड़ी और घंटा बजाते हैं, आसन बाँधते हैं, आँख बंद करते हैं। वे बड़े-बड़े नाखून रखते हैं, मलिन वेष में रहते हैं, नग्न रहते हैं, अपने केश नुचवाते हैं। क्षपणक लोग जो ज्ञानविडंबित हैं। वे अपने से बाहर मोक्ष ढूँढ़ते हैं। कर्मकांड, वेदपाठ, 'उंछभोजन', केशधारण आदि सरह को तनिक भी पसंद नहीं। यदि यह सब करने से मुक्ति होती है तो पशु, पक्षु, युवतिनितंब सभी को मुक्त क्यों नहीं होने देते?[2] इसी प्रकार उन्होंने मंत्र, मंडलचक्र, तर्क, सूत्रांत, धूप-दीप नैवेद्य, तपोवनगमन, गंगास्नान, शास्त्रपुराण, प्रयाग,

१. *दोहाकोष*, बागची, पृ. ९-१०, दो. १-७; *ज. डि. ले*, वॉ. २८, पृ. ५.२, ६; वही, पृ. १३-१४, ३२-३६।

२. *वही*, पृ. १४-१६, १-१०; *ज. डि. ले.*, वॉ. २८, पृ. ९-१०. १-१०।

वाराणसी, चन्द्रमा, सूर्य, क्षेत्र, पीठ और उपपीठ, ये सभी निरर्थक और निरसार हैं। इस शरीर जैसा तीर्थ सरहपाद को अन्यत्र नहीं मिला।[१]

इन सब साधना-पद्धतियों को अस्वीकार करने के साथ ही सहजमार्गी सरह ने अपना मार्ग भी बताया है, जो उनके पूर्ववर्ती और तत्कालीन प्रचलित सभी प्रकार की साधना-पद्धतियों से सहज और सरल है। उनकी यह साधना सहज साधना कहलाती है। इस साधना के लिए सरहपाद योग्य गुरु की आवश्यकता पर सबसे अधिक जोर देते हैं। उनका मत है कि गुरु उसी को बनाना चाहिए जो परमार्थ, निर्वाण, परममहासुख में प्रवीण हो तथा उनका भलीभाँति अनुभव प्राप्त कर चुका हो। गुरु को भी चाहिए कि वह तब तक शिष्य बनाना प्रारम्भ न करे, जब तक की वह स्वयं परमज्ञान या प्रज्ञा का लाभ न कर ले, अन्यथा अंधा होने के कारण वह तो स्वयं कुएँ में गिरेगा और शिष्य को भी गिराएगा। गुरु के वचन सभी शंकाओं का निवारण करने वाले हैं। शिष्य जब तक अपने चित्त के दोषों को दूर नहीं कर देता, तब तक उसके लिए गुरु के उपदेश भी अस्तव्यस्त हैं।[२] उस गुरु की सहायता से ही सरहपाद कायातीर्थ की साधना करने को कहते हैं। बाहर के तीर्थ इस शरीर के तीर्थ से निकृष्ट हैं। गुरु के इस प्रकार के उपदेश में अमृतरस रहता है। अनेक प्रकार के शास्त्रार्थ उसकी तुलना में मरुस्थल के समान हैं। गुरु के वचन में, इसीलिए दृढ़ भक्ति रखनी चाहिए। इसी से सहज उल्लास की प्राप्ति होती है। जो शिष्य या योगी या साधक, विषय में रमण करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होता, वही मूलतत्त्व को बूझ सकता है। वह जीवित रहते हुए भी जरा को नहीं प्राप्त करता, अजरामर हो जाता है। गुरु के उपदेश से उसकी मति विमल हो जाती है। उससे बढ़कर धन्य कोई नहीं है।[३]

सरहपाद इस लोक को ही इस साधना का चरम साधन मानते हैं। खाते-पीते और सुखपूर्वक रमते हुए साधना करना ही उस परलोक की प्राप्ति कराता है जो भयलोक से भिन्न है। इस साधन से इस भयलोक का दलन होता है। वे साधक से बार-बार वहाँ विश्राम करने के लिए कहते हैं; जहाँ मनपवन का संचार नहीं होता, रवि-शशि का प्रवेश नहीं होता। वहाँ आदि नहीं, अंत नहीं, पराया अपना नहीं। जिस प्रकार जल में जल मिलकर एकमेक हो जाता है, उसी प्रकार परम महासुख में लीन हो जाने के लिए वे बार-बार प्रेरित करते हैं।[४] इस तल्लीनता के लिए साधन बताया गया है— संसार में ही रमण करना; किन्तु इस संसार में ही रमण करते हुए जब चित्त विस्फुरित हो जाता है, चंचल हो जाता है, तब स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। ये संसार और आकाश (निर्वाण) उसी प्रकार एक हैं जैसे तरंग और जल। सब जगह जल ही जल दिखाई दे, समरसता दिखाई दे, तभी सुख की प्राप्ति समझनी चाहिए।[१] चित्त से ही

१. *दोहाकोष,* बागची, पृ. १६-१७, १०-१६, पृ. २५.४७-४८।

२. *वही,* पृ. १०.८, पृ. २३. ३७, ३९, *ज. डि. ले.,* वॉ. २८, पृ. ५.८, पृ. १३. ३४, ३९।

३. *वही,* पृ. २७. ५६-५७, पृ. ३०-३१. ६८-६९।

४. *वही,* पृ. २०-२१. २४-२५, २७, ३२।

मुक्ति की प्राप्ति होती है और चित्त से ही बंधन भी। ये चौदह भुवन, इस शरीर से भिन्न नहीं हैं। अत: इन दोनों में भेद न मानकर साधना करनी चाहिए।[२] हेवज्रतंत्र में भी भावना को बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण बताया गया है। इस प्रकार सरह ने अपनी अपभ्रंश रचना में भी 'भावसाधना' को ही प्रमुखता दी है।

साधना के व्यवहार पक्ष को उन्होंने कमल-कुलिश-साधना के रूप में उपस्थित किया है। इन दोनों के बीच की स्थिति ही सुख की स्थिति है। इसमें पराए और अपने का भाव नहीं रह जाता। चित्तमुक्त गजेन्द्रवत् रमण करने लगता है। इस साधना के लिए न घर में रहने की आवश्यकता है, न वन में जाने की। जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ जाना चाहिए। बोधि और निर्वाण के ऊपर घर और वन का बंधन और सीमा नहीं लग सकती। बोधि तो सर्वत्र स्थित है। भव और निर्वाण में भी भेद नहीं है। इन दोनों में अद्वयत्व का अनुभव करने वाले तरुवर रूप चित्त का (महाकरुणा के कारण) सम्पूर्ण त्रिभुवन में विस्तार होता है।[३] स्नेलग्रोव ने हेवज्रतंत्र की साधना और दर्शन दोनों का लक्ष्य इस भव और निर्वाण के अद्वयत्व को ही माना है। यह उनकी संपूर्ण भूमिका से स्पष्ट होता है। इस अद्वयत्व की सिद्धि सरह की अन्य साधनात्मक क्रियाओं से भी होती है। उनकी यह साधना वाम और दक्षिण को छोड़कर मध्यम मार्ग को अपनाने की साधना है। इसे ही ऋजुमार्ग (उजूवाट) की साधना कहते हैं। यह साधना शरीर में ही होती है। बोधि भी शरीर में ही स्थित है। इसके लिए लंका जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनकी इस साधना में यह शरीर ही नौका है, चित्त डाँड़ा है और गुरुवचन ही पतवार है। उनकी दृष्टि में भवसागर से पार उतरने के लिए, गगन में समा जाने के लिए यह परमोत्तम नौका है।[४] इस प्रकार सरहपाद के ये साधन संबंधी संकेत हेवज्रतंत्र के प्रज्ञोपायसाधन, वज्राब्जसंयोग, महासुखवाद, अंतस्साधना, पिण्डब्रह्मांडवाद आदि के सर्वथा अनुकूल हैं। सरहपाद की अद्वयवादिता भी इन संकेतों से सर्वथा सिद्ध होती है।

कृष्णपाद की अपभ्रंश रचनाओं में उनकी साधना के अनेक ऐसे तत्त्वों के संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर योगरत्नमाला में विवेचित कापालिक साधना से उनका अभिन्न संबंध सिद्ध किया जा सकता है। इस सिद्धि में दोहाकोष और उसकी मेखला टीका जितनी सहायक है, उससे अधिक उनके चर्यापद और उसकी मुनिदत्त कृत टीका सहायता करने में समर्थ है।

कृष्णपाद के दोहाकोष के उपास्य वज्रधर हैं। उन्हें निरंजन विशेषण से विशिष्ट किया गया है। संसार के लोग परमार्थ में प्रवीण होने का गर्व करते हैं; किन्तु कृष्णपाद

---

१. *दोहाकोष,* बागची, पृ. ३१. ७२, पृ. १२८—इस उद्धरण में डॉ. बागची ने 'णाहसरुअ' का संस्कृत रूपान्तर 'नाथ स्वरूप' किया है जो अद्वयवज्र की टीका के अनुसार त्रुटिपूर्ण है और उसे 'नास्ति स्वरूप:' होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ. बागची ने अद्वयवज्र की टीका पर ध्यान नहीं दिया।

२. *वही,* पृ. ३५. ८९।

३. *वही,* पृ. ३८. १०३-१०८।

४. *चर्यागीतिकोष,* बागची और शास्त्र, चर्यापद सं. ३२, ३८, पृ. १०५, १२४।

की दृष्टि में करोड़ों में एक ही योगी निरंजन में लीन होता है। रागद्वेषादिक्लेश ही अंजन हैं। निरंजन इनसे सर्वथा मुक्त होता है। यह निरंजन सहजकाय है। योगीन्द्र का मन इसी सहजकाय निरंजन में लीन होता है।[१] इसका तात्पर्य यह है कि इस प्रकार बाह्यसाधनागत अहंकार साधक के लिए अपेक्षित नहीं है। आगम-वेद-पुराणादि के अध्ययन से पंडितगण अभिमान वहन करते घूमते हैं। भ्रमर जिस प्रकार पके हुए श्रीफल के बाह्य गन्ध से प्रसन्न होता हुआ बाहर ही घूमता रह जाता है, भीतर प्रवेश नहीं कर पाता उसी प्रकार पंडित लोग भी आगमादिज्ञान से प्रतिरुद्धदृष्टि के कारण यथार्थ गंभीर तत्त्वामृतरस का चिन्तन नहीं कर पाते।[२] रजोभूषित बोधिचित्त (संवृत स्पंदरूप बोधिचित्त—शुक्र) जब अक्षोभ्य चित्तवज्र (अचंचल चित्त) से आश्लिष्ट हो जाता है तब उसकी वैसी स्थिति हो जाती है जैसी पुष्कर में स्थित पद्मवृक्ष की होती है। वह अपने सुख स्वभाव में स्थित रहता है। उसकी यह ज्ञानाधिष्ठित स्थिति योगी के शरीर में ही सम्पन्न होती है।[३] वज्रयानसम्मत चक्र-योजना की सारिणी के अनुसार यह स्थिति धर्मचक्र में निष्पन्न होती है और हेवज्रतंत्रानुसार संभोगचक्र में। बिन्दुसाधन की दृष्टि से यह क्रिया वीरभावात्मक है। कृष्णपाद ने भी साधना की कायगत नाड़ियों में अवधूती को प्रधान नाड़ी माना है। यह बोधिचित्त को ऊर्ध्वमुख वहन करने वाली एवं उसे अचंचलता प्रदान करने वाली है। मूलनाल (निर्माणचक्रगत नलिका) के अवधूनन का तात्पर्य है निर्माण चक्रगत नलिका में स्थित चंचल बोधिचित्त का अवधूनन। क्लेशादि पापों का अवधुनन करने वाली शक्ति ही अवधूती है।[४]

नाड़ियों के माध्यम से बिन्दुसाधन का विस्तृत विवरण पहले दिया जा चुका है। इसका बौद्ध कापालिक साधना में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृष्णपाद ने नाड़ीसाधन और चक्रसाधन का घनिष्ठ संबंध स्वीकार करते हुए अद्वयसाधना का समर्थन किया है। उनके अनुसार ललना और रसना, रवि और शशि दोनों के किनारों को तोड़ देना चाहिए। मेखला ने इसकी व्याख्या में हेवज्रतंत्र को उद्धृत कर, अपनी साधनात्मक परम्परा की पुष्टि कर, यह स्पष्ट किया है कि प्रज्ञा और चन्द्र स्वभाव वाली ललना वाम नासापुट में स्थित है। इसी प्रकार उपाय एवं सूर्य स्वभाव वाली रसना दक्षिण नासापुट में स्थित है। इस प्रकार ललना प्रज्ञास्वभावा है और रसना उपायस्वभावा। ग्राह्यग्राहक-वर्जिता अवधूती इनके मध्य में स्थित है। अर्थात् अवधूती द्वयता से भिन्न भाव की है। इसका वास्तविक और अंतिम विश्रामस्थल उष्णीषकमल है। यह उष्णीषकमल महासुखावास है और सर्वशून्यालय है (मेखला के अनुसार शेष प्रथम तीन कमल शून्य, अतिशून्य और महाशून्य के आलय हैं)। यही जालंधर पीठ है क्योंकि यह उष्णीषकमल

---

१. *दोहाकोष*, बागची, पृ. १४९, दो. १ तथा टीका—'निर्गतानि अञ्जनानि रागद्वेषादिक्लेशाः अस्मिन्निति निरञ्जनः।'

२. *दोहाकोष*, पृ. १४९, दो. सं. २ तथा मेखला टीका।

३. *वही*, पृ. १५०, दो. सं. ३, तथा मेखला टीका।

४. *वही*, बागची, पृ. १५०, दो. सं. ४ तथा मेखला टीका—'क्लेशादिपापान् धुनोति इत्यवधूती।'

डाकिनीजालात्मक है (क्योंकि डाक शब्द प्रज्ञार्थक है) यही मेरुगिरि शिखर है।[1] इस प्रकार का महासुखार्थी योगी प्रज्ञोपाययोग से एवं-कार रूप बीज को लेकर कुसुमित कमलों के क्रम से भ्रमररूप में ऊर्ध्वगमन करता है और वीरभाव से अग्रसर होता हुआ अच्युत महाराग सुख का अनुभव करता है अथवा मकरन्द का सुगन्धिसुख लेता है। विराग का दमन करने के कारण तथा सुरत अर्थात् अनवच्छिन्न महाराग में लीन होने के कारण ही इस प्रकार का साधक वीर कहा गया है। यह सुरतवीर है।[2] हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला में वीर शब्द का प्रयोग हेवज्र के लिए किया गया है। वहाँ 'निरुत्तरवीर्ययोगाद्वीर:' के रूप में इसकी व्याख्या की गई है। वीर्ययोग ही बिन्दुयोग है। इसीलिए वीर शब्द का प्रयोग सर्वथा सार्थक है। विराग के दमन के उपरान्त ही राग विकास होता है। रति और प्रीति पर्याय हैं। अत: सुरत शब्द का वीर के साथ प्रयोग भी संगत है। मेखला ने हेवज्रतंत्र को उद्धृत कर इस प्रसंग में बोलकक्कोलयोग का उल्लेख किया है। इस साधन से सहज में ही बोधिचित्त की उत्पत्ति होती है।

कृष्णपाद ने अपने दोहों में इस सहजतत्त्व का विस्तार से प्रतिपादन किया है। वही एक परमतत्त्व है। इसका ज्ञान शास्त्र, तर्क, आगम, क्रिया, चर्या, बहुविध पठन-पाठन, श्रवण-श्रावण आदि से नहीं होता। (इस सहज तत्त्व का विवेचन दर्शन एवं सिद्धांत प्रकरण में द्रष्टव्य है।) इस तत्त्व की सिद्धि के लिए कृष्णपाद बार-बार बोधिचित्तसाधन का विधान करते हैं। यदि यह बोधिचित्त कालाग्नि में गिर जाय अथवा वह अध:पतित हो जाय तो उसका शोषण हो जाता है। ऐसी स्थिति में अनिन्दित सिद्धि का उपलब्धि असंभव है। मेखला ने शुक्रसिद्धि के प्रमाण पर इस साधना की पुष्टि की है।[3] बोधिचित्त की अचंचलता कायसिद्धि और अजरामरता का हेतु है। अत: कायसिद्धि अथवा परिपक्व काया के न रहने पर सिद्धि का प्रयोजन ही व्यर्थ हो जाता है। उसके रहने पर ही महाकरुणा की चर्या संभव है। इसीलिए कृष्णपाद बार-बार कहते हैं कि स्पन्दरूप बोधिचित्त का योगीन्द्र द्वारा स्थिरीकरण परमावश्यक है। ऐसा करने वाला योगीन्द्र कायानन्दादि का संहार कर पुन: सुखाभिदान सहजानंद में प्रवेश करता है।[4] इसीलिए उनकी साधना में सहज, चित्त की निश्चलता और राग तत्त्व बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। जो व्यक्ति अपने मन के राग को समरसभाव से सहज में निश्चल कर लेता है वह तत्क्षण ही सिद्ध हो जाता है और उसे जरामरण का भाव (अथवा भय?) नहीं रहता।[5]

---

१. *दोहाकोष,* बागची, पृ. १५१, दो. सं. ५ तथा उसकी मेखला टीका—'महासुखं वसत्यस्मिन्निति महासुखवासं उष्णीषकमलं तत्र सर्व्वशून्यालयो डाकिनीजालात्मक-जालंधराभिधानं मेरुगिरिशिखरमित्यर्थ:।'

२. *वही,* पृ १५१-१५३, दो. सं. ६ तथा टीका—'विरागदमनाद्वीर:'।

३. *वही,* पृ. १५६, दो. सं. १४ तथा टीका—'पतिते बोधिचित्ते तु सर्व्वसिद्धिनिधानके। मूर्च्छितेस्कन्धविज्ञाने कुत: सिद्धिरनिन्दिता।'

४. *वही,* पृ. १५७-१५८, दो. सं. १७ तथा टीका।

५. *वही,* पृ. १५८, दो. सं. १९ तथा टीका।

यह अवस्था निर्वाण है। यह सभी प्रकार के संकल्पों की वायु से अचल है और मुद्राराहित्य के कारण निर्विकल्प है। इन इन्द्रियों से अतीत होने के कारण निर्विकार है। उदय और अस्त के गमनराहित्य के कारण शरदकालीन मध्याह्न के समान आकाश के आकार का होने के कारण यह सुसार है। इस स्थिति में मन और मानस से उत्पन्न प्रकृतियाँ क्रियाशील नहीं रहतीं। इस स्थिति में अपने और पराए से संबंधित संकल्प उत्पन्न नहीं होते। यही प्रभास्वर ज्ञानोदय का समय है। कृष्णपाद साधना से इसी अवस्था को प्राप्त करने का निर्देश देते हैं।[१] यह साधना, बीजाक्षरों की दृष्टि से 'एवंकार' साधना है। एकार की आकृति के मध्य में दिव्य वकार विभूषित है। इस प्रकार का आलय सभी सुखों का आलय है। यही बुद्धरत्नकरंडक है। सांकेतिक अर्थों की दृष्टि से एकार माता है और वकार रताधिप वज्रसत्व है। अनुस्वार बिन्दु अनाहत ज्ञान है जिससे अक्षरों की उत्पत्ति होती है। इस 'एवं' से भी कापालिक प्रज्ञोपाययोग अथवा वज्राब्जयोग की सिद्धि होती है। इस 'एवंकार' का ज्ञाता सर्वज्ञ है। यह निज प्रभु वज्रधर (युगनद्ध) का वेष है। मेखला ने यह व्याख्या हेवज्रतंत्र तथा अन्य स्रोतों के आधार पर की है।[२] किन्तु बिना प्राणायाम के, जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है, यह साधना सम्भव नहीं है। इसीलिए कृष्णपाद ने भव और निर्वाण दोनों के युगपत् साधन के लिए साधना का पूरा स्वरूप उपस्थित करते हुए उसमें प्राणायाम के महत्त्व की ओर भी इंगित कर दिया है। इसमें पवन के गमन के द्वारों को दृढ़भावेन रुद्ध कर देना चाहिए जिसे कृष्णपाद दृढ़ ताला लगाना कहते हैं। यह दूसरे शब्दों में चन्द्र और सूर्य के मार्ग का निरोध है। चंचल मनोवृत्तियों के कारण बोधिचित्त भी चंचल रहता है और घोरान्धकार से आवृत्त रहता है। उसे अचंचल कर महासुख प्रकाश वाले दीपक के रूप में प्रकाशित कर देना चाहिए। ऐसा तभी होता है जब अवधूती उसका आलिंगन करे। यदि ये योगक्रियाएँ साधित हों तभी भव और निर्वाण का एकत्र साधन हो सकता है। कृष्णपाद के ये विचार भोग में भी योग की सिद्धि की ओर संकेत करते हैं। इसी साधन से महामुद्रापद का साक्षात्कार होता है।[३] यह ध्यान देने योग्य है कि समयमुद्रा का उल्लेख न कर यहाँ महामुद्रासिद्धि की ही बात कही गई है जो संभोगचक्रगत साधनावस्था की ओर संकेत करता है।

कृष्णपाद द्वारा विवेचित इस योगसाधन में, इस प्रकार चार क्रियाओं की आवश्यकता है—वज्राब्जयोग, अक्षर धर्म में मन की निश्चलता, प्राणवायु की बद्धता और विषयों से निराशा। इन साधनों में सिद्ध व्यक्ति ही कृष्णपाद की दृष्टि में नाथ है।[४]

---

१. *दोहाकोष,* बागची, पृ. १५८-१५९, दो. सं. २० तथा टीका।

२. *वही,* पृ. १५९, दो. सं. २१ तथा टीका-'एकाराकृति यद्दिव्यं मध्ये वंकारभूषितम्। आलयः सर्वसौख्यानां बुद्धरत्नकरण्डकम्॥' 'एकारस्तु भवेत माता वकारस्तु रताधिपः। बिन्दुचानाहतं ज्ञानं तज्जातान्यक्षराणि च॥'

३. *वही,* पृ. १६० , दो. सं. २२ तथा टीका।

४. *वही,* पृ. १६०, दो. सं. २३ तथा टीका।

यह वज्राब्जयोग अद्वयसाधना है जिसमें द्वैत की उपेक्षा की जाय और षोडशीकलारूपा, धर्माक्षर मुक्तलक्षणा मध्या (अवधूती) को लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाय। इसी साधना में प्राणवायुरूपा गृहिणी अर्थात् ज्ञानमुद्रा शवरी निश्चल हो जाती है।[१] इसीलिए कृष्णपाद का कथन है कि जिस योगी ने इस सहज क्षण की अनुभूति प्राप्त कर ली है, उसने जग के अशेष परिमाण वाले विषय-विकल्पों को तोड़ दिया है। ऐसे व्यक्ति के लिए वेद-पुराण की क्या उपयोगिता है जिसने स्वगृहिणी दिव्य मुद्रा में अपने मनरत्न (बोधिचित्त) को निश्चल कर लिया है अर्थात् जिसका बोधिचित्त एवंकाररूप महासुखस्थान में निश्चल हो गया है, वही वज्रधरनाथ है। उसका चित्त अपनी ज्ञानरूपिणी गृहिणी में समरस हो जाता है, एकलोलीभाव को प्राप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में वह युगनद्धरूप वज्रसत्व पद को प्राप्त कर लेता है। यह समरसता की स्थिति ठीक उसी प्रकार की है जिस प्रकार नमक पानी में विलीन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कृष्णपाद स्वगृहिणी ज्ञानमुद्रा में लवण-जल की कोटि की नित्य एकान्त विलीनता चाहते हैं।[२] इसके लिए न तो तंत्र की आवश्यकता है न मंत्र की। केवल आवश्यकता है निजगृहिणी ज्ञानमुद्रा के नित्य केलिमय संग की, जब तक अपने घर महासुखकमल में अपनी इस महामुद्रारूपा ज्ञानमुद्रा गृहिणी में योगी का चित्त निमज्जित नहीं होता तब तक पाँचों वर्णों में विहार करने से कोई लाभ नहीं। इसलिए कृष्णपाद का स्पष्ट आदेश है कि रोज-रोज बाह्य होम, मंडलकर्म में पड़े रहना व्यर्थ है। तरुणी महामुद्रा में निरन्तर स्नेह के बिना, उसके साथ रति अथवा निरन्तर अनुराग के बिना इस शरीरस्थित बोधि की प्राप्ति नहीं हो सकती।[३] इससे यह भी स्पष्ट है कि कृष्णपाद पूर्व विवेचित दिव्य अंतस्साधना के समर्थक हैं एवं बाह्याचार के विरोधी हैं। इन पंक्तियों से दिव्यभाव की साधना का भी पूर्ण संकेत करते हैं।

कृष्णपाद के चर्यापदों की साधनागत उपयोगिता दो प्रकार की है। प्रथमतः इनसे साधना की विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त होने वाली अनेक प्रकार की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है। दूसरे, इनसे कृष्णपाद की कापालिक साधना के भी बहुत महत्त्वपूर्ण संकेत मिलते हैं। मुनिदत्तकृत टीका इन सूचनाओं के उपवृंहण में विशेष योग देती है। अतः इस टीका से भी इस साधना-स्वरूप के संधान में सहायता ली गई है।

बिन्दुसाधन और प्राणायाम के घनिष्ठ संबंध का निरूपण हम एकाधिक बार कर चुके हैं। कृष्णपाद ने अपने दोहों में इस संबंध का निरूपण किया है। प्राणायाम क्रिया का मूलाधार नाड़ियाँ हैं और साथ ही द्वैत की द्योतक भी है। कृष्णपाद ने इन दोनों के मार्ग के अवरोध का उपदेश दिया है। इन मार्गों के रुद्ध हो जाने पर अवधूती का मार्ग मुक्त हो जाता है। इन मार्गों के अवरोध का अर्थ एकीकरण अथवा अद्वैत साधन है। टीकाकार ने वज्रजाप के द्वारा लोकज्ञान और लोकाभास रूपा आलि-कालि

---

१. *दोहाकोष,* बागची, पृ. १६१, दो. सं. २४ तथा टीका।

२. *वही,* पृ. १६३-१६४, दो. सं. ३०-३२ तथा टीका।

३. *वही,* पृ. १६२-१६३, दो. सं. २८-२९ तथा टीका।

के एकीकरण से अवधूती मार्ग के सुदृढ़ होने का संकेत किया है। इस प्रकृतिपरिशुद्धावधूतिका के कारण ही योगी विशिष्ट मानस से सम्पन्न हो जाता है। जितना भी मनोगोचर जगत् है, सर्वत्र ही उसे उदास ही होना पड़ता है। सरहपाद ने चित्त के विश्राम के जिस स्थल की ओर संकेत किया है वहाँ मन-पवन-रवि-शशि किसी का प्रवेश नहीं है।[१] कृष्णपाद का विशिष्ट चित्त कहीं किसी मनोगोचर स्थल पर विश्राम नहीं करता। बाह्य जगत् के स्वर्ग-मर्त्य-पाताल आध्यात्मिक दृष्टि से काय-वाक् चित्त हैं। इन्हें दिवा-रात्रि-सन्ध्या भी कहा जा सकता है। ये तीनों ही भिन्न-भिन्न हैं किन्तु परमार्थविद योगियों के लिए इनमें भेद नहीं है। स्वर्ग-मर्त्य-पाताल उसके लिए एकमूर्ति है। कृष्णपाद उसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए भव के परिच्छिन्न होने की बात कहते हैं। तात्पर्य यह कि इस अद्वैत की स्थिति में भव परिच्छिन्न हो जाता है। सभी उत्पन्न होने वाले भाव विलीन हो जाते हैं—यह देखकर, संवृत्तिसत्यस्वभाव के परिज्ञान के कारण योगी विशिष्टमानस हो जाता है। आगमानुसार भव का परिज्ञान ही निर्वाण है।[२] इस प्रकार विशिष्टमानस को आयत्त करने का उपाय अद्वयसाधन है और अद्वयसाधन आलि और कालि के द्वैतपरक मार्ग के अवरोध से ही संभव है। भिन्नात्मक, मनोगोचर स्वर्ग-मर्त्य-पाताल और काय-वाक्-चित्त की अभेदता की सिद्धि भी तभी संभव है।

यही अद्वय की साधना एवंकार साधन से भी व्यक्त की गई है। एकार चन्द्राभास है और वंकार सूर्याभास। वे दोनों ही रात्रि और दिवा रूप हैं। भेदात्मक एवं द्वयात्मक इन दो दृढ़ स्तम्भों का मर्दन कर विविध प्रकार के व्यापक बन्धनों को तोड़ा जा सकता है। इन्हें तोड़कर, इनके अभाव के कारण उत्पन्न आसव के पान से उन्मत्त होकर ज्ञानगजेन्द्ररूप योगी महासुखकमलरूप नलिनीवन में प्रवेश करता है और निर्विकल्प क्रीड़ा करता है। करिणीरूप नैरात्मा के संगलाभ से वह तथतापद (तथागत के ऐश्वर्य) का वर्षण करता है, मैथुनेच्छा की अभिव्यक्ति करता है। इस समय भाव एवं अभाव की तनिक भी अशुद्धता नहीं रहती। तथतारत्न की सहायता से ज्ञानगजेन्द्ररूप योगी अविद्यारूपी गज को बिना किसी क्लेश के ही पराजित कर देता है।[३] कृष्णपाद ने अद्वयसाधना के माध्यम से नैरात्मा के साथ क्रीड़ा करते हुए तथता की उपलब्धि का निर्देश किया है। यह क्रीड़ा महासुखकमल में ही सम्पन्न होती है। इसी चर्यापद में आसवपान, उससे उत्पन्न उन्मत्तता और उसके साथ ही नैरात्मारूपी हस्तिनी के साथ उन्मत्त एवं उन्मुक्त क्रीड़ा—ये सभी कृष्णपाद की विशिष्ट साधना-पद्धति की ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार की साधना वे डोम्बी (डोमिन) के साथ भी सम्पन्न करते हैं जिसका आध्यात्मिक अर्थ अथवा कृष्णपाद का अभिप्रेतार्थ परिशुद्धावधूती नैरात्मा है

---

१. *चर्यागीतिकोष,* बागची तथा शास्त्री, च. सं. तथा टीका, पृ. २३-२४।

२. *वही,* च. ७ तथा टीका, पृ. २३-२५।

३. *वही,* च. ९ तथा टीका, पृ. ३०-३२।

जिसका निवास रूपादि विषयसमूहरूपी नगर के बाहर है। योगदृष्टि से यह आगार महासुखचक्र है। ऐसी डोम्बी के साथ क्रीड़ा करने के लिए कृष्णपाद अपने को सर्वथा उपयुक्त समझते हैं क्योंकि रूपादि विषयों से सर्वथा अतीत डोम्बी के साथ क्रीड़ा करने के लिए साधक को निर्घृण होना चाहिए, नग्न अर्थात् लज्जादि दोषों से रहित होना चाहिए, योगी होना चाहिए। इस प्रकार कृष्णपाद डोम्बी के स्वभाव के सर्वथा अनुकूल हैं। इस पद्धति से प्रज्ञोपायात्मिका महामुद्रासिद्धि की उन्होंने प्राप्ति की। इसी के लिए उन्होंने चतुष्षष्टिदलसंयुत निर्माणचक्र पर आरूढ़ होकर नृत्य करने वाली डोम्बी के साथ उन्होंने हेरुक रूप में नृत्य किया। हेवज्रतंत्र में इस प्रकार की महामुद्रा की साधना और हेरुक रूप में नृत्य का उल्लेख मिलता है। कृष्णपाद इस साधना में गुरुप्रसाद से अविद्या और विषयाभास दोनों का और संसार रूप पेटक का परित्याग कर देते हैं। वे अस्थिमालिका धारण करते हैं, चक्री, कुण्डल, कण्ठी आदि धारण करते हुए चर्या करते हैं तथा बाह्य तन्त्रमंत्रादि की निरपेक्षता व्यक्त करते हैं। इस प्रकरण में मुदिनत्तने कापालिक की वही परिभाषा (कं तव सुखं पालितुं समर्थः इति कापालिकः) दी है जो हेवज्रतंत्र तथा उसकी टीका योगरत्नमाला में उपलब्ध है।[१]

कृष्णपाद की इस साधना के दिव्य पक्ष के भी अनेक प्रमाण उनके चर्यापदों में मिलते हैं। इसमें अनाहत डमरू का वीरनाद में वादन होता है। हठयोग की साधना में अथवा प्राणायामसाधन में अनाहत ध्वनियों का श्रवण अति प्रसिद्ध है। कृष्णपाद भी उसका उल्लेख बत्तीस नाड़ियों में प्रधानतम अवधूती के साधन में करते हैं। वीरनाद शून्यता का सिंहनाद है। इस साधन में बाह्याचार नहीं है। कायानगरी के भीतर ही, इस आचार में कृष्णपाद प्रवेश करते हैं। इसमें वे कापालिकजनोचित बाह्य अलंकारों का भी परित्याग कर देते हैं जिनका उल्लेख हेवज्रतंत्र और चर्यापद (सं. ९) की टीका में भी मिलता है। इस दिव्यसाधन में घंटा और नूपुर के रूप में आलि एवं कालि हैं तथा रवि और शशि कुण्डल के रूप में धारण कर लिए जाते हैं। राग, द्वेष और मोह के दग्ध रूप ही शरीर में छार या राख के रूप में लिप्त हैं। परम मोक्ष को ही मुक्ताहार के रूप में वे धारण कर लेते हैं। वे सास (श्वास) को मार डालते हैं और चक्षु आदि इन्द्रियों के व्यापारों से उत्पन्न विज्ञानों के प्रवाह (ननद) को उनके घरों में बन्द कर देते हैं। माता (माया) का वध कर कृष्णपाद कापालिक के रूप में मुक्त विचरण करते हैं। टीकाकार मुनिदत्त इसी प्रसंग में दउड़ीपाद के प्रसिद्ध कापालिक लक्षणोल्लेखक श्लोक को उद्धृत कर यह व्यक्त करना चाहते हैं कि इस साधना में प्रत्येक प्राणी (तत्त्वतः) वज्रधर है और जगत् के सभी स्त्रीजन कपालवनिता तुल्य हैं। इस प्रकार की भावना करता हुआ प्रत्येक साधक अपने को हेरुक मूर्तिरूप समझता है और अतीन्द्रियैक मानस से वह सिद्धि को प्राप्त करता है।[२] इस रूप में कृष्णपाद ने स्पष्टतया भावनासाधन अथवा मानससाधन की

---

१. *चर्यागीतिकोष,* च. सं. १० तथा टीका, पृ. ३५-३६।

२. *वही,* च. ११ तथा टीका, पृ. ३९-४०।

व्याख्या की है। उनकी दृष्टि में बौद्ध कापालिक योगी की यह चर्या मानसिक है, अंतस्साधनात्मक है। मुनिदत्त ने इसकी व्याख्या अद्वयसाधना अथवा प्रज्ञोपायसाधना के रूप में की है जिसमें माया और अविद्या का नि:स्वभावीकरण हो जाता है।[१]

इस प्रकार यह दिव्य चैतसिक साधना है जिसमें चतुर्थानन्द के बल पर करुणा-रूपी पीठिका पर द्यूतक्रीड़ा करते हुए कृष्णपाद सद्गुरु के बताए गए उपाय से भवबल अर्थात् विषयाभास बल को जीत लेते हैं। यह क्रीड़ा भी कुलिशाब्जसंयोग से अथवा प्रज्ञोपाययोग से सम्पन्न होती है। इसमें द्वैतता का नाश कर योगी जिनपुर के निकट पहुँच जाता है। प्रकृति के दोषों का नि:स्वाभावीकरण हो जाता है तथा योगीन्द्र का तथता चित्तगजेन्द्र पंचस्कन्धात्मक पंचविषयों, अहंकारादि को मार डालता है।[२] नागार्जुनपाद का यह कथन कि जिस चित्त से मूर्ख लोग सांसारिक बन्धनों में बँधते हैं, उसी चित्त से योगी सुगत लोगों की गति को प्राप्त करता है, सांवृतिक और पारमार्थिक चित्त के दो भेदों का स्मरण कराता है। योगीगण उसी चित्त से प्रज्ञोपाययोग की सहायता से रूपादि विषयों के समूह को जीत लेते हैं। जिस चित्त के द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता है, उसका स्थिरीकरण चतु:षष्टिकोष्ठात्मक निर्माणचक्र में ही किया जाता है।[३] (पूर्व वर्णित चक्र-योजना इस संबंध में द्रष्टव्य है।) इसीलिए चित्त ही वह कर्णधार है जो शून्यता मार्ग से योगी को महासुखचक्ररूपी द्वीप तक ले जाता है।[४]

इस अद्वयसाधना में महाकरुणामय चित्तयोगीन्द्र शून्यता अथवा प्रज्ञा सुन्दरी (वज्रवनिता) की साधना करता है। यह सुन्दरी ही डोम्बी है। इसके साथ ही महासुख लीला करते हुए योगी योगनिद्रा में लीन हो जाता है। इस प्रसंग में मुनिदत्त ने कुलीन का अर्थ शरीर में (को) लीन वह व्यक्ति किया है जो प्रभास्वर तत्त्व को नहीं जानता। परिशुद्धावधूतिका डोम्बी ऐसे व्यक्ति को घर से बाहर ही रखती है और इसके विपरीत वह कापालिक (सांवृत्तिक बोधिचित्त शुक्र का पालन करने वाला—यह परिभाषा योगरत्नमाला और हेवज्रतंत्र में प्राप्त परिभाषा से भिन्न है) को घर के बीच में प्रतिष्ठित करती है। कापालिक चित्तवज्र का आधान करता है। कृष्णपाद इसी परिशुद्धावधूतिका डोम्बी के घर में अधिष्ठित होकर उसके साथ महासुखलीला करते हुए योगनिद्रा में लीन होते हैं। यही अपरिशुद्धावधूतिका डोम्बी त्रैधातुक देव-मनुष्य-असुरादि को मिथ्या ज्ञान में निमज्जित कर उनका नाश करती है। भिन्न सम्प्रदायानुयायी योगीजन कार्य-कारण-कल्पना में निमज्जित होकर प्रभास्वर हेतुभूत संवृत्तिबोधिचित्त को नष्ट करते हैं। यद्यपि डोम्बी के पारमार्थिक स्वरूप को न समझ पाने के कारण कुछ लोग उसकी

---

१. *चर्यागीतिकोष,* पृ. ४०—'तं निस्वभावीकृत्य अविद्यां च मायारूपां प्रज्ञोपायाभेदोपचारेण कृष्णाचार्यः जगति जगदार्थाशयेन वज्रकापालिको भूत्वा भ्रमतीति।'

२. *वही,* च. सं. १२ तथा टीका, पृ. ४१-४३।

३. *वही,* पृ. ४३—'येन चित्तेन ते बालाः संसारे बन्धनं गताः। योगिनस्तेन चित्तेन सुगतानां गतिं गताः।'

४. *वही,* पृ. ४४, चं. सं. १३ तथा टीका—'सर्वाकारवरोपेतशून्यतानौमार्गे चित्तकर्णधारं समारोप्य तत्प्रसंगेन कृष्णाचार्यचरणाः महासुखचक्रं द्वीपं गताः।'

निन्दा करते हैं किन्तु जो सम्यक् वज्राब्जसंयोग (प्रज्ञोपाययोग) से उत्पन्न होने वाले अक्षरसुख के द्वारा इस डोम्बी को (अथवा इसके परिशुद्ध रूप को जानते हैं) वे कण्ठ में (अर्थात् संभोगचक्र में) अहर्निश धारण किए रहते हैं। आगम को उद्धृत कर मुनिदत्त ने प्रेतावास (श्मशान) में निवास करने वाले नित्यरसिक योगियों (कापालिकों) के बोलकक्कोलयोग और उसकी विविध क्रियाओं की ओर संकेत किया है।[१]

इससे स्पष्ट होता है कि कृष्णपाद की साधना में मध्यगता अवधूतिका नाड़ी में प्रवहमान बोधिचित्त के अद्वयसाधन का स्फुट विधान है। इस साधन की क्रियाओं का विवेचन पहले ही किया जा चुका है। इसी साधना को वे डोम्बी के साथ विवाह के सांग रूपक द्वारा भी व्यक्त करते हैं। इस विवाह के फल के रूप में यम का नाश होता है और अनुत्तर धर्म का साक्षात्कार होता है। विवाहोत्तर सुरताभिष्वंग में योगिनीजाल अर्थात् ज्ञानरश्मि के कारण क्लेशान्धकार पलायित हो जाता है। आगम के वाक्यों से भी भगवती प्राणाधिका स्वामिनी में इस प्रकार के लय की पुष्टि होती है। यह भगवती 'प्रकृति-प्रभास्वरपरिशुद्धावधूतिका' ज्ञानमुद्रा है और यही डोम्बी भी है।[२] इस अभिष्वंग में जो अनुभूतिमयी अवस्था प्राप्त होती है, वह सहजोन्मत्तावस्था है जिसमें महासुखानन्दाधार होने के कारण योगी डोम्बी ज्ञानमुद्रा को क्षण भर के लिए भी नहीं छोड़ता।[३]

सहजोन्मत्तावस्था योगनिद्रा की अवस्था है जिसमें न तो चेतना रहती है न वेदना। यह पूर्ण सुखमयी मुक्तावस्था है। परमानुभूतिमयी इस अवस्था के लिए कृष्णपाद ने जालंधरिपाद की साक्षी दी है। पुस्तकदर्शी पंडिताचार्यगण कृष्णपाद की इस सहज स्थिति को नहीं देख सकते अर्थात् वे इसका साक्षात्कार नहीं कर सकते।[४] यह सहज तत्त्व अथवा सहज अनुत्तर ज्ञान कथनातीत है। पृथग्जनों के कायवाक्चित्त का इस सहज में अन्तर्भाव नहीं है।

यह सहज आगम शास्त्र, मन, इन्द्रिय आदि से अतीत है। यह वाक्पथातीत है। यह जिनरत्न है जिसके स्वरूप का वर्णन मूकवधिर-संवाद की तरह असंभव है।[५] इस प्रकार उपर्युक्त अद्वयसाधना सहजसाधना है और इस साधना से प्राप्त सहजोन्मत्तावस्था अवाङ्मनोगोचर है। सहज ही चित्त के शून्यसम्पूर्ण हो जाने पर स्कंधवियोग के लिए विषण्ण होने की कोई आवश्यकता कृष्णपाद नहीं समझते, क्योंकि इस अवस्था में वे अनुदिन परमार्थजलधि में क्रीड़ा करते हैं। मूढ़ लोगों को दूध में नवनीत नहीं दिखाई पड़ता। भवस्वभावपरिज्ञान से भव में ही इस प्रकार क्रीड़ा कृष्णपाद को प्रिय है।[६] इस

---

१. *चर्यागीतिकोष,* च. सं. १८, पृ. ६१-६३—'कक्कोलप्रियबोलमेलकतयाऽऽनन्दस्फुरत्कुन्दराः............प्रेतावासनिवास नित्यरसिकाः केचित् क्वचिद् योगिनः।'

२. *वही,* च. सं. १९, पृ. ६४-६६ तथा टीका।

३. *वही,* च. १९ तथा टीका, पृ. ६४-६६।

४. *वही,* च. ३६ तथा टीका, पृ. ११८-१२०।

५. *वही,* च. ४० तथा टीका, पृ. १३१-१३३।

६. *वही,* च. सं. ४२ तथा टीका, पृ. १३७-१३९।

रूप में भव साधन है, परित्याज्य नहीं; किन्तु विशिष्ट योग से ही यह संभव है। भवभोग से भागने वाले योगिजन बालक हैं। वे भवभोग के मूल उपकरण मनरूपी तरुवर, उसकी शाखारूप इन्द्रियों और उनके विस्तार को, उसके रहस्य को बिना जाने ही छिन्न करते हैं। इसीलिए वे संसारदुःख वारिधि में गिरते हैं, नष्ट होते हैं। अतः उसका छेदन गुरु के वचनानुसार प्रकृति प्रभास्वररूपी कुठार से करना चाहिए जिससे पुनः उसमें मूल और शाखाओं का उद्भव न हो।[१]

चर्यापदों में वर्णित इस सम्पूर्ण साधन-पद्धति का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट होता है कि कृष्णपाद की चर्यापदों में व्यक्त साधना दिव्य साधना है। कुलिशाब्जयोग, वज्राब्जयोग, प्रज्ञोपाययोग आदि शब्द इसी सहज महासुखमयी अद्वयसाधना के पर्याय हैं जिनमें प्राणायाम, नाड़ीसाधन, बिन्दुसाधन, नादानुसन्धान आदि अन्तर्भूत हैं। कृष्णपाद ने जिस अनिर्वचनीय अवाङ्मनोगोचर परमावस्था का वर्णन किया है, वह सहजावस्था है और इस अवस्था में सहज तत्त्व की ही उपलब्धि भी होती है जो परमतत्त्वस्थानीय प्रतीत होता है। परिशुद्धावधूतिका ज्ञानमुद्रा डोम्बी प्रज्ञापारमितास्थानीया है अथवा हेवज्रतंत्र की वज्रवाराही का ही शब्दान्तर है।

इस प्रकार कृष्णपाद के चर्यापदों की साधना बौद्ध कापालिक साधना का चरमोत्कर्ष है। यह साधना हेवज्रतंत्र और उसकी कृष्णपादरचित टीका योगरत्नमाला के सर्वथा अनुरूप है। उक्त दोनों ग्रंथों में जिस प्रकार साधनात्मक कापालिक तत्त्वों का नियोजन है, ठीक उसी प्रकार कृष्णपाद के चर्यापदों में भी मिलती है किन्तु यह वैशिष्ट्य है कि चर्यापदों में वर्णित साधना में तंत्र और मंत्र से युक्त किसी भी प्रकार के बाह्याचार की स्पष्ट अनावश्यकता घोषित है। यहाँ तक कि मंत्र, मुद्रा, मंडल, पंचमकार, पंचामृत आदि के विधान का भी सर्वथा अभाव है। दूसरी ओर हेवज्रतंत्र और योगरत्नमाला दोनों में उनके अनुत्तरयोगतंत्र होते हुए भी इनका स्पष्ट विधान मिलता है। इसीलिए उनमें वीरभावसाधना के भी पुष्कल प्रमाण मिलते हैं। यद्यपि अंतस्साधनात्मक योगपरक दिव्यभाव की भी सामग्री कम नहीं है।

१०. रहस्यवाद

कापालिक साधनात्मक परम्परा की दृष्टि से कृष्णपाद की साधना का उपर्युक्त स्वरूप प्रस्तुत किया गया। पाश्चात्य रहस्यवादी दृष्टि से भी प्रायः विवेचकों ने तांत्रिक बौद्ध साधना का विचार किया है। रहस्यवाद शब्द प्रथमतः परमतत्त्व के साथ प्रत्यक्ष संयोग और स्वानुभव तथा दूसरे, परमतत्त्व अथवा ईश्वर के साथ आत्मा के संभव एकात्म के धर्मदर्शन-तत्त्ववैज्ञानिक सिद्धान्त, इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। संयोग, मिलन, एकात्म, अद्वैतता, आदि की अवस्था में विषयी और विषय अथवा ग्राहक एवं ग्राह्य दोनों ही एक-दूसरे से अविभाज्य भाव से विमिश्रित रहते हैं। इन क्षणों में जो कुछ भी देखा, सुना अथवा अनुभव किया जाता है, वह आन्तरिक जीवन (इनर लाइफ) के आवेगमय प्रवाह से भरपूर रहता है। अत्यधिक गंभीरता में छिपी रहने वाली व्यक्ति की

१. *चर्यागीतिकोष,* च. सं. ४५ तथा, पृ. १४७-१४९।

शक्तियाँ जो सामान्यतया क्रियाशील नहीं रहतीं, इस अवस्था में, अकस्मात् मुक्त हो जाती हैं। सर्वातीत शक्तियाँ जीवात्मा को आक्रान्त करती प्रतीत होती हैं। इस समय जो चेतना उदित होती है वह सर्वातीत चेतना होती है। सौन्दर्य अथवा विराट् का अत्युच्च साक्षात्कार, संगीत में विलीन आनन्दानुभव, प्रकृति के साथ परम शान्त सौख्य, किसी सत्य के अर्थ में अकस्मात् अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति, प्रेमोदय, कर्त्तव्यानुसरण में जीवन का नैतिक उत्थान आदि कुछ इसी प्रकार की अनुभूतियाँ हैं।[१]

दूसरे अर्थ में जीवात्मा और परमात्मा अथवा परमतत्त्व के स्वरूप और मार्ग के स्वरूप का सैद्धान्तिक विवेचन किया गया मिलता है। इसके अनुसार वह पूर्ण तत्त्व, शुद्ध तत्त्व, पूर्णरूप, भूत तत्त्वों के मिश्रणों से सर्वथा मुक्त, एक, नित्य, स्थिर, अपरिवर्तनशील, देश-काल-मुक्त नाम-रूप-ज्ञेय-दृश्यादि से अतीत होता है। इसी प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा में भी कुछ ऐसे तत्त्व माने जाते हैं जो उस पूर्ण तत्त्व से तत्त्वतः अभिन्न हैं जिन्हें प्रायः चेतना का आधार, दिव्य स्फुलिंग, ईश्वरवाणी, अन्तरोन्मुख दृष्टि या अन्तर्दृष्टि आदि कहा जाता है। यही पूर्ण सत्य के वास्तविक ज्ञान एवं सम्पर्क का स्रोत है। वैश्व स्तर के समस्त विचारों का भी यही स्रोत है।[२]

कुछ दूसरी परिभाषाओं के अनुसार रहस्यवाद दिव्य सत्तत्व अथवा संसार की वस्तुओं के चरम सत्य को ग्रहण करने (साक्षात्कार) करने का मानव-मन का प्रयत्न है। रहस्यवादी का भाव यह रहता है कि 'वह' परमोच्च, सर्वव्यापक, अन्तर्यामी शक्ति है जिसमें सभी वस्तुएँ एक हो रहती हैं। अतः रहस्यवाद के चिंतनप्रधान कथन सदैव प्रकृत्या न्यूनाधिक मात्रा में विश्वदेववादी होते हैं किन्तु विश्वदेववाद प्रकृत्या धार्मिक होता है जबकि रहस्यवाद प्रकृत्या चिन्तनात्मक होता है।[३] जब कोई धर्म कुछ बँधे हुए सिद्धान्तों, व्रतों, आचारों आदि से संकुचित हो जाता है, तब जो लोग 'हृदय के धर्म' के नाम पर उसका विरोध करते हैं, वे प्रायः रहस्यवादी कहे जाते हैं।[४]

रहस्यवादी की अनेक विशेषताओं और लक्षणों से भी रहस्यवाद की कुछ विशेषताएँ सामने आती हैं। इस प्रकार के रहस्यवादी के जीवन में सामान्य इच्छाशील की कठोर परावृत्ति (परावर्तन-रिवर्सल) आवश्यक है। रहस्यवादी प्रत्येक वैसी वस्तुओं में विमुख हो जाता है जिन्हें हम संस्कृति और सभ्यता शब्द के अन्तर्गत ग्रहण करते हैं। वह समाज के स्थान पर एकान्त और तर्क के स्थान पर आध्यात्मिक आनन्द को स्वीकार करता है। कुछ लोग इसे रहस्यवादी का जगत् से पलायन कह सकते हैं।[५] किन्तु बेनेट ने यह माना है कि रहस्यवादी इस संसार में रहकर भी संसार की ही वस्तुओं को एक भिन्न रूप में ग्रहण करता है। ऐसे जीवन का आरम्भबिन्दु वह

१. *इं. रे. ए.*, वॉ. ९, पृ. ८३-८४।
२. *इं. रे. ए.*, पृ. ८४।
३. *इं. ब्रि.*, वॉ. १६, पृ. ५१।
४. *वही*, पृ. ५१।
५. *दि फिलास्फिकल स्टडी ऑव मिस्टिसिज्म*, बेनेट, पृ. १५।

ज्योतिसाक्षात्कार अथवा ज्ञान का क्षण है जिसमें उसके सामने एक विलक्षण दृश्यावली गतिशील हो उठती है और विश्व एक नवीन ज्योति से प्रकाशित हो उठता है। तब, उस समय संसार की वस्तुएँ सामान्य वस्तुएँ नहीं रह जातीं। उस रहस्यवादी को तब यह निश्चय हो जाता है कि यही वास्तविक विश्व है, जिसके वास्तविक स्वरूप को मनुष्य के अन्धत्व ने छिपा रखा था।[१]

सामान्यतया सभी रहस्यवादी यही मानते हैं कि अनेकता के अन्तर्गत ही एकता है और इसका वे अनुभव भी करते हैं। यहीं से उनकी साधनात्मक यात्रा का आरम्भ होता है और यही उनका लक्ष्य भी है। आगे चलकर उनका यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि उनके चारों ओर की सभी वस्तुएँ उस एक दिव्य की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। वह मानता है कि ईश्वर को जानने के लिए 'ईश्वर समान' होना चाहिए। वह तार्किक, ईश्वरवादी, बुद्धिवादी, दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि से सर्वथा भिन्न होता है। वह भावन करता है, देखता है और परिणामतः विश्वस्त हो जाता है; किन्तु उसकी अनुभूति किसी अन्य को विश्वस्त नहीं करती। फिर भी रहस्यवादी अपने अनुभवों में एकाकी नहीं रहता। देश और काल का अतिक्रमण कर समान अनुभूतियाँ सभी रहस्यवादियों में मिलती हैं।[२] किन्तु इस अनुभूति का वर्णन सम्भव नहीं होता। रहस्यवादी इसे अनिर्वचनीय, अवर्णनीय मानता है। वह इन्द्रियप्रत्यक्ष को इतनी सूक्ष्मता से विकसित करता है कि वह शक्ति आगे चलकर उसकी सूक्ष्म साक्षात्कार शक्ति बन जाती है। इसी शक्ति को विभिन्न लोगों ने सर्वातीत भावना, 'कल्पना', रहस्यवादी युक्ति, वैश्व चेतना, दृष्टि आदि शब्दों से अभिहित किया है।[३] अनुभूति एवं ज्ञान की विभिन्नता के आधार पर रहस्यवादियों के अनेक वर्ग दिखाई पड़ते हैं। प्रेम, सौन्दर्य, प्रकृति, ज्ञान, भक्ति आदि के आधार पर उनके वर्गों के विभाजन मिलते हैं,[४] किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि किसी विशेष वर्ग के रहस्यवादी में दूसरे तत्त्व मिलते ही नहीं। वस्तुतः यह विभाजन प्रामुख्य के आधार पर किया गया प्रतीत होता है। रहस्यवादी की भाषा-शैली भी सामान्य से भिन्न और विलक्षण होती है। वह प्रतीक पद्धति और पुराणकथा-पद्धति का अनुसरण करता है और इनके माध्यम से अपनी गंभीर, जटिल एवं अनिर्वचनीय अनुभूतियों की ओर संकेत करता है।[५]

भारतीय रहस्यवाद के विकास में सर्वात्मवाद और विश्वदेववाद की धारणाएँ विविध रूपों और अंशों में अनुस्यूत मिलती हैं। आस्तिक परम्परा के दर्शनों, धर्मों एवं सम्प्रदायों के संबंध में यह मत व्यक्त किया जा सकता है किन्तु नास्तिक परम्परा में रहस्यवादिता का विचार ही विवादास्पद है। पुसिं और टामस ने रहस्यवाद की सीमित

---

१. *दि फिलास्फिकल स्टडी ऑव मिस्टिसिज्म,* बेनेट, पृ. २३।
२. *मिस्टिसिज्म इन इंग्लिश लिटरेचर,* स्पर्जन, पृ. १-६।
३. *वही,* पृ. ७।
४. *वही,* पृ. ३३-३४।
५. *वही,* पृ. ८-९।

परिभाषा की दृष्टि से, जिसमें निर्गुण अथवा सगुण परमतत्त्व से प्रत्यक्ष, अतर्कित, प्रातिभ, संबंध स्थापित होता है। बौद्ध मत में रहस्यवाद की स्थिति स्वीकार नहीं की है क्योंकि कट्टर बौद्ध मत की दृष्टि से चाहे वह हीनयान हो अथवा महायान, किसी परमतत्त्व की सत्ता नहीं है। किन्तु रहस्यवाद की अपेक्षाकृत कम संकुचित परिभाषा के अनुसार बुद्धि से अतीत अथवा अतिबौद्धिक साधनों से जैसे विचारेकाग्रता के उपाय, ध्यान-समाधि, आनन्दावस्था आदि किसी अतिबौद्धिक लक्ष्य की प्राप्ति को रहस्यवाद से अभिहित किया जा सकता है यद्यपि इसमें परमतत्त्व के साथ प्रत्यक्ष प्रातिभ संबंध स्थापित नहीं होता। इस लक्ष्य निर्वाण का रहस्यमयी शब्दावली में वर्णन बौद्ध साहित्य में मिलता है।[१] हैपोल्ड ने भी लगभग इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है कि बौद्ध ग्रंथों में निर्वाण का वर्णन रहस्यमयी भाषा में मिलता है और निर्वाण भी वस्तुतः शुद्ध रहस्यमयी धारणा है। इसकी स्थूलतः न तो धारणा ही हो सकती है और न अभिव्यक्ति ही हो सकती है। इसका साक्षात्कार केवल रहस्यमयी प्रतिभा से ही हो सकता है। फिर भी बौद्ध रहस्यवाद ऐश्वरिक रहस्यवाद नहीं है। बौद्ध मत में सगुण ईश्वर तो है ही नहीं, साथ ही उसकी आत्मा भी एखार्ट की 'उदार आत्मा' की तरह है। यदि कोई बौद्ध रहस्यवाद की अमिधा चाहता ही है तो वह इसे अधिक से अधिक 'विश्लेषणात्मक आत्म-रहस्यवाद' ही कह सकता है क्योंकि इस मत का आधार पूर्णतया विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक है।[२]

बौद्ध रहस्यवाद संबंधी उपर्युक्त विचारों का यदि विश्लेषण किया जाय और समग्र रूप में उक्त लेखकों के विचारों को ध्यान में रखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि बौद्ध मत का रहस्यवाद आचारप्रधान है और उसका मुख्य आग्रह आचार अथवा संयम (अथवा 'एथिक्स') पर है। कट्टर हीनयान में वैयक्तिकता की प्रधानता है और महायान में प्रथमतः साधना वैयक्तिक है और अन्ततः महाकरुणा के कारण विश्वगत है। शुद्धाचारपूर्ण महायान में यह आचारप्रधान रहस्यवाद किसी प्रकार स्वीकार किया जा सकता है जिसमें पारमार्थिक चित्त की महाप्रज्ञाप्राप्ति अथवा संसार के पदार्थों की नश्वरता के सत्य का साक्षात्कार ही प्रमुख है। इस अन्तिम वैशिष्ट्य के आधार पर यह रहस्यवादियों के पूर्ववर्णित वर्गों के अनुसार ज्ञानात्मक रहस्यवाद कहा जा सकता है। उक्त आचार का लक्ष्य ज्ञानप्राप्ति ही है। निर्वाण का सुखात्मक स्वरूप स्वीकृत हो जाने पर महायान एक ऐसे आचारप्रधान ज्ञानात्मक रहस्यवाद के रूप में विकसित होता दिखाई पड़ता है जिसमें रहस्यवादी प्रज्ञाप्राप्ति के अनन्तर महाकरुणा को चरितार्थ करते हुए महासुख की अनुभूति करता है। स्पष्टतः यह बोधिसत्व का आदर्श है।

इस विवेचन के आधार पर बौद्ध मत को उदार आत्मोन्मुख रहस्यवाद कहना कुछ अंशों में ठीक है किन्तु तांत्रिक महायान मत अथवा महायान के तांत्रिक विकासों के संबंध में यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। क्योंकि बौद्ध धर्ममत का यह रूप वस्तुतः हिन्दू बौद्ध धर्ममत कहा जा सकता है। कुछ लोग महायान बौद्ध धर्म को ही

---

१. इं. रे. ए., १९५३, वॉ. ९, पृ. ८५-८६।

२. *मिस्टिसिज्म,* हैपोल्ड, पृ. ८१।

प्रकारान्तर से हिन्दू बौद्ध मत मानते हैं। वज्रयान को भी विद्वानों ने व्यवहारतः हिन्दू बौद्ध धर्म या बौद्ध वेश में हिन्दू अथवा शैवमत कहा है।[१] इसके प्रमुखतम मंत्र 'ओं मणिपद्मे हूँ' जैसे मंत्र भी शुद्ध अद्वैतवाद के उद्घोषक हैं।[२] वज्रयान में हिन्दू तांत्रिकों के समान ही समरस की भावना प्रचलित है, जिसका अर्थ है विश्व की अनेकता में एकता की उपलब्धि अथवा सर्वव्यापी सुख के अनूठे प्रवाह में एक परम सुख का साक्षात्कार। हेवज्रतंत्र के अनुसार सहजावस्था में प्रज्ञा और उपाय की अभेदता रहती है। उस समय किसी का पृथक् प्रत्यभिज्ञान नहीं होता।[३] हिन्दू तंत्रों का सामरस्य भी संयोग अथवा शिव-शक्ति के भावैकरसत्व की ओर संकेत करता है जो बौद्ध तंत्रों में यौन-यौगिक साधना से उदित अद्वयत्व के समान है। बौद्ध तंत्रों में हिन्दू तंत्रों के समान ही बहत्तर हजार नाड़ियों, उनमें प्रमुख बत्तीस नाड़ियों और उनमें भी प्रधान तीन नाड़ियों की समतुल्य कल्पना मिलती है। इनकी शारीरिक स्थिति भी लगभग समान है। (ललना, रसना, अवधूती, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, वाम, दक्षिण, मध्य)।[४]

तांत्रिक बौद्ध मत में परवर्तीकाल में विकसित कालचक्रयान का कालचक्र स्पष्टतः हिन्दू धारणा है। शिव और शक्ति के समायोग से उत्पन्न सतत परिवर्तनशील विश्व का प्रतीक चक्र है। बौद्ध शब्दों की परम्परा की दृष्टि से विचार करने पर कालचक्रयान में काल, उपाय तथा करुणा एक-दूसरे के पर्याय हैं। आस्तिक ग्रंथों में इसे ही शिव या पुरुष कहा गया है। बौद्ध शब्दों में यह ज्ञाता अथवा बुद्ध है। चक्र, प्रज्ञा और शून्यता भी एक ही तत्त्व के पर्याय हैं। इसी को प्रकृति या शक्ति कहते हैं। इनका एकात्म ही कालचक्र है।[५] वज्रयानान्तर्गत आदि बुद्ध सिद्धांत का जो स्वरूप मिलता है[६] वह तांत्रिक बौद्ध धर्म की ऐश्वरिकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी प्रकार के अन्य अनेक तत्त्व ऐसे हैं जो दोनों साधना-पद्धतियों में मिलते हैं। इनमें से कौन-सी पद्धति प्राचीन है और किसने किसको प्रभावित किया, इस विवाद के लिए यहाँ अवसर नहीं है किन्तु इतना निश्चित है कि परवर्ती महायान धर्मसाधना अथवा तांत्रिक बौद्ध साधना किसी न किसी रूप में ईश्वरवादिनी अवश्य है; क्योंकि इसके अनेक ग्रंथों एवं साधन सम्प्रदायों में हेरुक अथवा हेवज्र अथवा उनके कोई रूप परमोपास्य के रूप में स्वीकृत हैं। वे उपास्य हैं, अनुकरणीय हैं, कृपालु हैं, रक्षक हैं और इतना ही नहीं, सहजयान में इनका भावात्मक, साधनात्मक, वैचारिक रूप सहज के रूप में स्वीकृत हो गया। यह एक परमोच्च परमतत्त्वीय अवस्था है, सत्ता है, युगनद्धात्मक आन्तरिक सूक्ष्म तत्त्व है जिसमें साधक उसी प्रकार लीन हो जाता है, जिस प्रकार नमक पानी में। ऐसी अवस्था में

---

१. *इं. रे. ए.* १९२१, वॉ. १२, पृ. १९३।

२. *ज. रा. ए. सो.*, १९१५, पृ. ३९७-४०४, एच. फ्रैंके का लेख।

३. *आ. रे. क.*, पृ. ३४।

४. *ऐन इं. तां. बु.*, पृ. ११८, १७०-१७४; *साधनमाला,* भट्टाचार्य, पृ. ४४८।

५. *बौद्ध दर्शन मीमांसा,* पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. ३८६-३८७।

६. *बौ. द. मी.*, पृ. ३८२-३८७; *इं. तां. बु.*, पृ. ७२-७८; *तां. बौ. सा. सा.*, पृ. १५५-१६२।

साधक, साध्य और साधन तीनों ही एक, अद्वैत हो जाते हैं। इस स्थिति का निर्वचन भी नहीं हो सकता। शास्त्र, ग्रंथ, तर्क, वाद-विवाद, बाह्याचारादि इस स्थिति की प्राप्ति नहीं करा सकते। इसकी उपलब्धि केवल स्वसंवेदन से ही हो सकती है।

सरहपाद और कृष्णपाद के चर्यापदों एवं दोहों के आधार पर जिन साधना-पद्धतियों और अद्वैतानुभूतियों का विवेचन किया जा चुका है, उनसे यह सिद्ध होता है कि कम से कम तांत्रिक बौद्ध साधना का सहजयानगत रूप अवश्य ही रहस्यात्मक है। जो विद्वान् बौद्ध मत को ऐश्वरिक रहस्यवाद नहीं मानते वे वस्तुतः हेवज्रतंत्र, योगरत्नमाला, चर्यापदों और दोहों की साधना और विचारधारा के साथ उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों पर विचार ही नहीं करते और केवल हीनयान तथा महायान के प्रारंभिक रूपों पर विचार करके अपना मंतव्य प्रकट कर देते हैं।

तांत्रिक बौद्ध साधना का अनुत्तरयोग वस्तुतः रहस्यवादी साधना का निदर्शन करता है। योगतंत्र तो योगाभ्यास का विवेचन करते हैं किन्तु अनुत्तरयोगतंत्र उच्चत्तर रहस्यवाद का विवेचन करते हैं। इस अनुत्तरयोगतंत्र में भावनायोग का क्या स्वरूप है, इसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं। हम यह भी संकेत कर चुके हैं कि वज्रयान तक आते-आते बोधिचित्त और महासुख औपनिषद ब्रह्म के पद को प्राप्त कर चुके थे। कृष्णपाद की अपभ्रंश रचनाओं का जो विश्लेषण किया गया है तथा उनका हेवज्रतंत्र की परम्परा में जो स्थान-निरूपण किया गया है, उनसे यह स्पष्ट है कि अनुत्तरयोगतंत्र हेवज्रतंत्र के समान ही कृष्णपाद की अपभ्रंश रचनाएँ भी अनुत्तरयोगतंत्र अथवा उच्चतर रहस्यवाद का प्रतिपादन करती हैं। डॉ. तुसी ने उक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर मैत्रेयनाथ और असंग पर विचार करते समय अपना यह मत व्यक्त किया था कि वस्तुतः बौद्ध रहस्यवाद का दर्शन लगभग तीसरी शताब्दी में ही होने लगा था। इन आचार्यों का मत विशेषतः रहस्यात्मक है। इस मत में तर्कश्रुतज्ञान आवश्यक था तथापि उसके अतिरिक्त प्रत्यात्मार्यज्ञान भी आवश्यक था। उनकी रहस्यसाधना तथा दर्शन तर्क के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते क्योंकि तर्क से हम केवल विशेष और अपूर्ण ज्ञान की ही प्राप्ति कर सकते हैं। उससे न हम धर्म की प्राप्ति या धर्मों या पदार्थों के स्वभावज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं, न विमुक्तिज्ञान की।[१] मैत्रेयनाथ के मत से यह भी पता चला है कि योग और योगाचार, दोनों ही अद्वैतवादी प्रत्ययवाद के विभिन्न पहलुओं को उपस्थित करते हैं; किन्तु दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि परमतत्त्व का अनुभव अंतःसाक्षात्कार पद्धति पर ही अवलंबित है। उनकी ध्यान की रहस्यात्मक पद्धति अप्रतिम है। इसीलिए दोनों की शब्दावली में भी पर्याप्त समानता है।[२]

यदि भारतीय योगसाधन को रहस्यवाद के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है तो बौद्ध ध्यानयोग को भी इसके अन्तर्गत स्वीकार करना चाहिए। पुसिं और टामस ने भी इस पर विचार किया है। इसके लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि बौद्ध ध्यानयोग लगभग ई.पू.

१. *ऑन ऐस्पेक्ट्स ऑव दि डॉक्ट्रिस ऑव मैत्रेयनाथ ऐंड असंग*, डॉ. तुसी, पृ. २७।
२. *वही*, पृ. २६।

तीसरी शताब्दी में औपनिषद ध्यानयोग के समान था किन्तु उसके बाद लगभग ५वीं शताब्दी तक पातंजल राजयोग के समान ही इसका विकास हुआ। तांत्रिक योग और पिंडकल्पना के प्रभाव से बौद्ध ध्यानयोग ने अपेक्षाकृत अधिक गुह्य और रहस्यात्मक रूप धारण कर लिया। सूत्रालंकार, मैत्रेयनाथ तथा असंग के विचार तांत्रिक बौद्ध योग के पूर्व के बौद्ध योग की विशेषताओं की ओर संकेत करते हैं। बौद्ध योग की अन्तिम विकासावस्था सहजयानी रचनाओं में दिखाई पड़ती है जिसमें नाड़ीचक्रकल्पना आदि का सांकेतिक और प्रतीकात्मक वर्णन मिलता है। डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, अंत:साक्षात्कार, नाड़ी-चक्र-कल्पना, प्रतीक पद्धति आदि पर विचार कर चर्यापदों को रहस्यवादी रचनाओं के रूप में ग्रहण किया है। इन चर्यापदों में बौद्ध रहस्यवाद के सिद्धान्तों को प्रतीकों के सहारे व्यक्त करने का प्रयत्न मिलता है।[१]

यदि पाश्चात्य रहस्यवाद की उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर कृष्णपाद की रचनाओं पर विचार किया जाय तो उनके रहस्यवाद की निम्नलिखित विशेषताओं को प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) कृष्णपाद भी एक सहज अनिर्वचनीय सत्य में विश्वास करते हैं और उसे साधनात्मक जीवन का लक्ष्य मानते हैं। (२) विश्व के अन्य रहस्यवादों की तरह उनका रहस्यवाद भी अद्वैतवादी है। (३) वे भी अद्वयात्मक जीवन दर्शन (युनिटिव फिलॉसॉफी ऑव लाइफ) को स्वीकार करते हैं (४) परमतत्त्व और परमानुभूति दोनों को वे अनिर्वचनीय मानते हैं। (५) उनका भी एक आचारगत आदर्श है। (६) शास्त्र, तर्क, प्रमाण, अनुमान, हेत्वाभास को वे भी प्रमाण नहीं मानते और केवल स्वसंवेद को ही प्रमाण मानते हैं। (७) विश्व और आत्मा के एकात्म में वे भी विश्वास करते हैं। (८) उनकी भी अपनी साधनात्मक भाषा है, जिसे संधाभाषा कहते हैं और जिसका प्राण प्रतीक है। (९) प्रदर्शन, बाह्याडम्बर, अंधविश्वास, भेदभाव, विषमता आदि के स्थान पर वे अंत:साक्षात्कार, समता, अभेदता आदि को ही स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार और भी अनेक विशेषताएँ बताई जा सकती हैं। अत: साधन, अनुभूति और अभिव्यक्ति तीनों ही दृष्टियों से अन्य अपभ्रंश चर्यापदकर्ता सिद्धों के समान कृष्णपाद भी बौद्ध रहस्यवादी कवि एवं सिद्ध के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बौद्ध रहस्यवाद का जो दर्शन हमें विज्ञानवादी साधन योगाचार में दिखाई पड़ा था उसकी परिपूर्णता आगे चलकर दिव्यभावाचारप्रधान सहजयानी सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं में दिखाई पड़ती है। कृष्णपाद की अपभ्रंश रचनाएँ बौद्ध रहस्यवाद के परिपूर्ण रूप पर विशेष रूप से प्रकाश डालती हैं।

●

१. स्ट. तं., बागची, पा. १, पृ. ६१-८६।

द्वितीय खण्ड

१.

कृष्णवज्रपाद के कापालिक तत्त्वसम्पन्न चर्यापदों की व्याख्या

चर्यापद सं. १ (बौ. गा. दो. सं. १०; चर्यागीतिकोष, सं. १०)

(राग देशाख—कान्हपादानाम)

नगर बाहिरे रे डोम्बि तोहोरि कुड़िआ।
छोइ छोइ जाहि सो ब्राह्मण नाडिआ॥ १॥
आलो डोम्बि तोए सम करिबो मो सांग।
निघिन काह्न कापालि जोइ लांग ॥ ध्रुवपद॥
एक सो पदुमा चौषठी पाखुड़ी।
तहिं चड़ि नाचअ डोम्बि बापुड़ी॥ २॥
हालो डोम्बी तो पूछमि सद्भावे।
आइससि जासि डोम्बि काहारि नावें॥ ३॥ ध्रुव.॥
तान्ति विकणअ डोम्बी अवर ना चांगेड़ा।
तोहोर अन्तरे छाड़ि नड़ पेड़ा॥ ४॥ ध्रु.॥
तुलो डोम्बी हाउं कपाली।
तोहोर अन्तरे मोए घेणिलि हाड़ेरि माली॥ ५॥ ध्रु.॥
सरोवर भांजिअ डोम्बी खाअ मोलाण।
मारमि डोम्बी लेमि पराण॥ ६॥

कृष्णपाद ने इस चर्यापद में प्रज्ञोपाययोग से उस डोम्बी साधना का व्याख्यान किया है जिससे नैरात्म्य धर्म की उपलब्धि होती है। इस चर्यापद में उन्होंने सन्धाभाषा की जिस पद्धति का प्रयोग किया है, उससे बाह्यत: वीरभाव साधन का तथा आन्तरिकतया दिव्य भावसाधन का तात्पर्य प्रतिपादित होता है। उन्होंने स्पष्टतया डोम्बी के तीन रूपों की ओर इसमें संकेत किया है। सूक्ष्म क्रम से डोम्बी डोमिन है, विभेदात्मक चित्तवृत्ति वाले व्यक्ति जिसके स्पर्श से बचते हैं और समवृति वाला वीर वामाचारी कापालिक साधक उसके स्पर्श में आनन्द का अनुभव करता है। दूसरे अर्थ में डोम्बी अपरिशुद्ध अवधूतिका शक्ति है जो प्राणी के बोधिचित्त (शुक्र) को नष्ट करती है, इसीलिए वह दिव्य साधक द्वारा नष्ट की जाती है। तीसरे अर्थ में वह परिशुद्ध अवधूती डोम्बी है, नैरात्मा है, जो नैरात्म्य धर्म की उपलब्धि कराती है और दिव्य

साधक की प्रिया है। अपरिशुद्ध अवधूतिका द्वैतस्वभावा है, इसीलिए वह बोधिचित्त के लिए कल्याणकारिणी नहीं है। शुद्ध अवधूती ही शब्दान्तर से डोम्बी कही जाती है, विषयादि से तथा रागद्वेषादि से अस्पृष्ट और अप्रभावित रहने के कारण, अद्वैतस्वभावा होने के कारण ही वह शुद्ध कही जाती है। इसे नैरात्मा भी कहते हैं। संस्कृत टीकाकार ने ब्राह्मणबटुक को 'ब्रह्महुङ्कारबीजजात' कहा है। ब्राह्मण देवमंडल के, बौद्ध दृष्टि से हेय देवता ब्रह्मा के हुंकार से उत्पन्न ब्राह्मण का बालक [अथवा मैं ब्रह्म हूँ—इस प्रकार अहंकार से उत्पन्न (सपन्न) ब्राह्मण का बालक] जो विविध बाह्याचारों से प्रेरित होने के कारण चंचल है और बालक होने के कारण अल्पबुद्धि भी है, इस शुद्ध अवधूतिका को छू-छू जाता है, इस शुद्ध अवधूतिका को प्राप्त अथवा अधिकृत अथवा उपलब्ध करने में असमर्थ है, इसलिए षोडशी सुन्दरी परिशुद्धावधूतिका डोम्बी को मात्र छू-छू चला जाता है। यह सुन्दरी डोम्बी (प्राचीन नगर-व्यवस्था के अनुसार) रूपादि विषयों के समूहरूपी नगर के बाहर ही अपनी कुटिया में रहती है। उसकी यह कुटिया दिव्य साधक का महासुखचक्र है। यह स्थान इन्द्रियादि से अगोचर है। जब यह डोम्बी नगर के बाहर की अपनी कुटिया से नगर में अपनी सामग्री बेचने के लिए जाती है तो ब्राह्मणबटुक लोकप्रतिष्ठा के भय से यद्यपि उसे पूर्णतया उपलब्ध तो नहीं कर पाता, तथापि आकर्षणवशात् उसे छू-छू चला कर चला जाता है। इसका साधनात्मक कारण यह है कि बौद्धेतर सम्प्रदाय के साधनमार्ग का अनुगामी ब्राह्मणबटुक बोधिचित्त रूप अर्थात् संवृतिशुक्ररूप अर्थात् चंचल शुक्ररूप है, इसीलिए वह मणिमूल (निर्माणचक्र?) से (अथवा) विरमानन्द (धर्मचक्र) से ही लौट जाता है, इससे आगे नहीं बढ़ पाता। उस डोम्बी की कुटिया महासुखचक्र तक पहुँचने की सामर्थ्य तो लोकलज्जादि दोषों से सर्वथा मुक्त अथवा अतीत केवल कृष्णाचार्य में है। गुरु के द्वारा प्रदत्त ज्ञान एवं उसके प्रसाद से वे उसकी कुटिया को अथवा उसकी कुटिया तक पहुँचने के मार्ग को अथवा उसे प्राप्त करने के उपाय को जानते हैं।

ऐसी डोम्बी से सम्पर्क स्थापित कर कृष्णपाद नि:संकोच भाव से उसके साथ संगम का अपना अभिप्राय व्यक्त करते हैं। साधनक्षेत्र में जिस अधिकार योग्यता की अपेक्षा होती है, बिना उसके अग्रसर होना कठिन है। इसीलिए कृष्णपाद डोम्बी के योग्य अपने को सिद्ध करने के लिए अपनी साधन-सम्पत्ति का भी वर्णन करते हैं। डोम्बी जिस प्रकार स्वयं लज्जादि दोषों से रहित एवं अतीत है, सांसारिक दृष्टि से निर्लज्ज है, उसी प्रकार कृष्णपाद भी बिना लोकलज्जा की चिंता किए ही उसका अनुगमन करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से लोकलज्जादि सांसारिक दोषों से सर्वथा मुक्त होने के कारण, घृणादि के भावानुभावों से अतीत होने के कारण, वे शुद्धावधूतिका षोडशी डोम्बी के रूपादि विषयों से अतीत निवास महासुखचक्र में पहुँचकर उसका संग करने में सर्वथा योग्य एवं समर्थ हैं। ब्राह्मणबटुक, यद्यपि डोमिन से घृणा करता है और लोक-प्रतिष्ठा की हानि से भी डरता है, तथापि डोम्बी के षोडशी रूप और सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उसके स्पर्शमात्र का आकांक्षी रहता है; किन्तु इनसे मुक्त हुए

बिना डोम्बी को प्राप्त नहीं किया जा सकता। डोम्बी को प्राप्त करने के लिए ही, निरन्तर भाव से उसे ग्रहण कर, महामुद्रासिद्धि प्राप्त करने के लिए ही कृष्णाचार्य ने इस प्रकार साधना कर लज्जादिदोषराहित्य प्राप्त कर लिया है। डोम्बी स्वयं तत्त्वतः प्रज्ञोपायात्मिका है, महामुद्रा है। हेवज्रतंत्रादि ग्रंथों से इसकी पुष्टि होती है।

तांत्रिक बौद्ध योग की दृष्टि से कृष्णवज्रपाद साधनास्थल का अथवा डोम्बी से मिलन के स्थल का अथवा सहेटस्थल का भी वर्णन करते हैं। तांत्रिक बौद्ध योग में स्वीकृत चार चक्रों अथवा कमलों में निम्नोर्ध्वक्रम से प्रथम चक्र निर्माणचक्र है जिसमें ६४ दल है। परिशुद्धावधूती के रूप में यह षोडशी डोम्बी इस चतुष्षष्टिदलकमल पर नृत्य करती है। उसे वापुड़ी अथवा बेचारी अथवा दयनीया कहने का अभिप्राय यह है कि वह सांसारिक दृष्ट्या निरुपाया, संपत्तिरहिता, निरवलंबा है। इसीलिए आध्यात्मिक दृष्टि से वह आनन्दमयी है। वह भगवती नैरात्मा है, इसलिए पाँच भौतिक एवं जागतिक सम्पत्ति का वहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। वह भगवती होने के कारण स्वयं ऐश्वर्यरूपा है। जागतिक सम्पत्ति का कोई प्रयोजन न होने का कारण यह है कि वह सभी धर्मों अथवा पदार्थों के अनात्म स्वभाव के रूपवाली है। ऐसी डोम्बी के साथ एकरस होकर—अभिन्नभाव से महाराग के आनन्द में लीन होने के कारण ही षोडशी सुन्दरी नैरात्मा के समान सुन्दर कृष्णपाद उस निर्माणचक्र रूप चतुष्षष्टिदलकमल पर नृत्य करते हैं। डोम्बी अथवा शक्ति के साथ किए जाने वाले नृत्य का विधान हेवज्रतंत्र करता है। इस प्रकार नृत्य करने वाला साधक हेरुकरूपात्मक होता है। (यहाँ कदाचित् कृष्णपाद यह संकेत करना चाहते हैं कि महासुखचक्र से परावर्तित होकर इस पृथ्वीतत्त्वात्मक निर्माण-चक्र (इस जगत्) में नृत्य करते हैं।)

इस प्रकार डोम्बी के साथ परम नैकट्य स्थापित कर कृष्णपाद नैरात्मा के संबंध में अपने ज्ञान को और भी दृढ़ करते हैं। इसीलिए वे डोम्बी से उसकी वास्तविकता जानने के लिए अथवा उसके स्वरूप के ज्ञान की भावना से जिज्ञासा करते हैं। उसका जो सांवृतिक रूप षोडशी डोमिन के रूप में दिखाई पड़ता है और उसका जो सांसारिक गमनागमन दिखाई पड़ता है, वह क्या वस्तुतः मात्र सांसारिक है; क्योंकि वह ब्राह्मण-बटुक, जो सांसारिक जनों का प्रतीक है, तुम्हें सांसारिक रूप में ही देखता है। वह किसकी नौका है जिसके द्वारा हे डोम्बी! तू गमनागमन किया करती है। टीकाकार ने इसका प्रश्नात्मक समाधान देते हुए स्पष्ट किया है कि हे डोम्बी, तू किसके सांसारिक बोधिचित्तरूपी नौका अर्थात् शुक्र अथवा विषयोपभोगसंलग्न चित्तरूपी नौका से आवागमन किया करती है? स्पष्ट है कि परिशुद्धावधूतिका डोम्बी नैरात्मा का विषयोपभोग अथवा संवृत बोधिचित्त से कोई संबंध नहीं है। वह सर्वथा निर्लिप्त है। उसका गमनागमन अथवा सक्रियता स्थिर चित्त से ही संभव है। इसका कारण यह है कि वह सर्वसहजमय है अर्थात् नैरात्म्यधर्मा होने के कारण वह सर्वधर्मों में व्याप्त है अर्थात् सहज है, सहजमय है। हेवज्रतंत्र के वाक्य से इसकी पुष्टि होती है—

"सभी धर्मों का स्वभाव नैरात्म्य है और यह नैरात्म्य धर्मों में सहज है। इसीलिए सारा जगत् ही सहज है। इसी तरह सहज को जगत् का स्वरूप कहा जाता है। जिन योगियों का चित्त विशुद्ध है, उनके लिए जगत् का यह सहजस्वरूप ही निर्वाण है। तात्पर्य यह है कि जब वे जगत् के सहजस्वरूप का साक्षात्कार कर लेते हैं, तब उनकी यह स्थिति निर्वाण से अभिन्न होती है। अविशुद्ध चित्त वालों को इस नैरात्म्यधर्म अथवा सहज अथवा निर्वाण की उपलब्धि नहीं होती।"

इस प्रकार टीकाकार ने कृष्णपाद के नैरात्म्य संबंधी विचारों को विभिन्न प्रमाणों के आधार पर सहज एवं निर्वाण से अभिन्न सिद्ध किया है। कृष्णपाद ने इस नैरात्म्यधर्म के स्वरूप का और व्याख्यान किया है। सांसारिक पाँचभौतिक जगत् में डोम्बी अथवा डोमिन रस्सी तैयार करती है, पिटारी बनाती है और नगर में जाकर उनका विक्रय करती है। यह पारमार्थिक परिशुद्धावधूतिका डोम्बी नैरात्मा तंत्री का विक्रय करती है। टीकाकार ने इस तंत्री का प्रतीकार्थ वह भग किया है, जो अविद्यारूप है अर्थात् विषयोपभोगों का आश्रय है। सामान्यतया संधा भाषा में पद्म शक्ति का अथवा प्रज्ञा का प्रतीक है किन्तु यहाँ वह अविद्यारूप है और सांसारिक भग अथवा सांसारिक ऐश्वर्य के अर्थ की पुष्टि करता है। इसी प्रकार डोम्बी अपने पास चंगेड़ा अर्थात् विषयाभास रूप बड़ा टोकरा भी नहीं रखती। सबका परित्याग कर देती है अर्थात् बेच देती है। परमार्थदृष्ट्या डोम्बी सांसारिक विषयोपभोग रूप, अविद्यारूप, सांसारिक ऐश्वर्य रूप बंधन अर्थात् रस्सी का परित्याग कर देती है, साथ ही वह विषयाभास रूप टोकरों का भी परित्याग कर देती है। तात्पर्य यह कि वह डोम्बी इन सबसे अतीत है; किन्तु इन सबका परित्याग गुरुकृपा के बिना संभव नहीं। जब गुरुकृपा हुई है, तभी ममत्व से भरे इन सबका परित्याग तुम कर पाई हो। ऐसा कृष्णवज्रपाद का मत है। तात्पर्य यह कि द्वैतप्रधाना अशुद्धावधूतिका तब तक परिशुद्ध नहीं हो सकती, जब तक गुरु की कृपा न हो। कृष्णपाद ने अपनी दिव्य प्रिया के इस रूप को देखकर स्वयं उसके योग्य अपने को सिद्ध करने के लिए, जैसा पहले उन्होंने निर्घृणत्व, कापालिकत्व, योगिरूप और नग्नत्व धारण किया था, उसी प्रकार, पुनः उसी भाव को पुष्ट करते हुए वे अपनी साधन-सम्पत्ति को दृढ़ करते हुए, अधिकार को पुष्ट करते हुए, डोम्बी के अनुगमन में संसाररूपी पिटारी का परित्याग कर देते हैं। जैसे नट अपनी सांसारिक आजीविका अथवा बंधन के साधन का उपयोग करता हुआ संसार से बँधा रहता है; किन्तु डोम्बी के रागपाश में पड़कर उस संसाररूपी पिटारी को बाधा समझकर उसका परित्याग कर डोम्बी के पीछे चल पड़ता है, उसी प्रकार नग्न कापालिक कृष्णपाद परिशुद्धावधूतिका षोडशी डोम्बी के लिए संसाररूपी पिटारी का परित्याग कर देते हैं।

इस प्रकार की चर्या करते हुए कृष्णपाद स्पष्टतः अपने कापालिकत्व की घोषणा करते हैं। इतना ही नहीं, वे कापालिक के बाह्य लक्षणों को भी धारण करते हैं, जबकि उन्होंने अनेक स्थलों पर अनेक बाह्य लक्षणों की व्यर्थता प्रकाशित की है। यदि नायिका डोम्बी अथवा डोमिन है तो उसके लिए नायक का कापालिक होना आवश्यक है। इसे

उन्होंने पूर्वपद में भलीभाँति स्पष्ट कर दिया है। डोम्बी के डोम्बीत्व को सद्गुरु के प्रसाद के बिना जाना नहीं जा सकता। उसे जानकर तदनुकूल कापालिक की चर्या को कृष्णपाद सम्पन्न करते हैं। कापालिक तो वही हो सकता है जो डोम्बी अथवा परिशुद्धावधूती से प्राप्त होने वाले सुख का पालन करने में, उसके संरक्षण में, उस आनन्द के अनुभव के सातत्य को बनाए रखने में समर्थ हो। कृष्णपाद इसमें पूर्णतया समर्थ हैं, इसका वे डोम्बी को आश्वासन देते हैं। इतना ही नहीं, वे उस डोम्बी के प्रति अपना आनुकूल्य भी प्रदर्शित करते हुए छह तथागतों (५ ध्यानीबुद्ध—१ वज्रधर अथवा वज्रसत्व) के चक्री, कुंडल, कण्ठी आदि प्रतीकों एवं चिह्नों को धारण करते हैं तथा नग्न चर्या करते हैं। हेवज्रतंत्रादि ग्रंथों में बड़े विस्तार से कापालिक की चर्या का विधान मिलता है जिसमें वह कपालधारण और प्रेतावासनिवास को भी सम्मिलित करता है। इस प्रकार के लक्षणों को धारण कर, इस प्रकार की चर्या करते हुए वे मंत्रतंत्रादि के बाह्यत्व के कारण उनका भी अनावश्यकतावश परित्याग करते हुए पंचवर्णों में विहार करते हैं। पाँचों वर्णों में विहार अनेकार्थक है। डोम्बी अथवा वीराचारगत साधिका अथवा मुद्रा का ग्रहण पाँच वर्णों से वीरसाधक करता है। पाँच में चार वर्ण तो प्रसिद्ध ही हैं और पंचम वर्ण इनसे अतीत है जो वर्णभेद व्यवस्था के लोकलज्जादि व्यापारों से सर्वथा मुक्त है और प्रायः वर्णव्यवस्थानुयायी लोगों द्वारा हेय समझा जाता है। दूसरे अर्थ के अनुसार पाँच वर्ण पाँच महाभूतों और उनके विषयों का द्योतन करते हैं। यदि तांत्रिक बौद्ध देवमंडल को ध्यान में रखें, जो यहाँ अधिक समीचीन प्रतीत होता है, तो पाँच वर्ण पंचतथागतों अथवा ध्यानी बुद्धों के पाँच वर्णों की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। वे पाँच ध्यानी बुद्ध पंचमहाभूतों और पंचस्कंधों से स्पष्टतः संबद्ध हैं। वे इनमें विहार पंचध्यानीबुद्धपूजन तथा इनके लोक में विहार समझा जा सकता है; किन्तु ये सभी बाह्य क्रियाएँ हैं क्योंकि स्वयं कृष्णपाद ने ही मंत्रतंत्रादि को व्यर्थ बताते हुए तब तक पंचवर्णों में विहार को भी व्यर्थ बताया है जब तक गृहिणी डोम्बी का अपने घर उष्णीषकमल महासुखचक्र में विलय नहीं होता। रूपादि विषयों में विहार तब तक व्यर्थ है, जब तक महासुखचक्र में डोम्बी के द्वारा महासुख की अनुभूति नहीं होती। तात्पर्य यह कि कृष्णवज्रपाद ने कापालिक की उक्त सारी चर्याओं को सम्पन्न कर डोम्बी के प्रति दृढ़ आकांक्षा तथा अनुकूलता व्यक्त कर दी है।

परिशुद्ध एवं अपरिशुद्ध भेद से डोम्बी दो प्रकार की है। परिशुद्धावधूतिका डोम्बी के प्रति कृष्णपाद जिस प्रकार उक्त पदों में राग व्यक्त करते हैं, उसी प्रकार अपरिशुद्धतावधूतिका डोम्बी के प्रति वे तीव्र विराग भी व्यक्त करते हैं। यह अपरिशुद्धावधूतिका योगी के लिए साधिका नहीं है। साधक का शरीर सरोवर रूप है, जिसमें उत्पन्न बोधिचित्त सरोवर में उत्पन्न मृणालरूप है। यह बोधिचित्त शरीर का मूल तत्त्व अथवा सारतत्त्व बिन्दु है, अतएव सांसारिक अर्थ में यह शुक्ररूप बोधिचित्त अपरिशुद्धावधूतिका के द्वारा नष्ट किया जाता है। चर्यापद में इसी को मृणाल को खाना कहा गया है। यह अवधूतिका संवृत बोधिचित्त को नष्ट करती है। अर्थात् जब तक प्राण-अपान अथवा मन-पवन अथवा ललना-रसना का एकीकरण नहीं होता है, तब

तक बोधिचित्त चंचल रहता है, नष्ट होता रहता है। यही अवधूती की अपरिशुद्धावस्था है। इसीलिए कृष्णपाद कहते हैं—हे अपरिशुद्धावधूतिका डोम्बी, मैं तुझे मार डालूँगा, तेरे द्वैतभावापन्न स्वभाव को नष्ट कर दूँगा। तात्पर्य यह है कि डोम्बी तो एक ही है; किन्तु वह भिन्न-भिन्न पात्रों अथवा व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है। साधक योगीन्द्र में वह परिशुद्धावस्था में रहती है और महासुख प्रदान करती है, कार्यसिद्धि प्रदान करती है और लौकिक जन में वही परिशुद्ध रूप में रहकर उसके मूलतत्त्व को नष्ट करती है। इस रूप में वह गरल है। बहि:शास्त्र में इसी बात को स्वाति के जल से स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि स्वाति का जल पात्रविशेष में पड़कर विविध रूपों को प्राप्त करता है और तदनुरूप फल देता है। सर्पमुख में पड़कर गरल हो जाता है और शुक्ति में पड़कर मोती (अथवा मुक्ति अथवा मोक्ष) बनता है अथवा निर्वाण महासुख प्रदान करता है।

—

चर्यापद संख्या २ (बौ. गा. दो. सं. ११; चर्यागीतिकोष, सं. ११)

(राग पटमंजरी, कृष्णाचार्यपादानाम्)

नाड़ि शक्ति दिढ़ धरिअ खाटे।
अनहा डमरू बाजइ वीरनादे॥ १॥
काह्न कपाली योगी पइठ अचारे।
नेह नअरी विहरइ एकाकारे॥ ध्रुवपद॥
आलि कालि घण्टा नेउर चरणे।
रवि शशि कुण्डल किउ आभरणे॥ २॥ ध्रु.॥
राग द्वेष मोह लाइअ छार।
परम मोख लवए मुक्तिहार॥ ३॥ ध्रु.॥
मारिअ सास नणन्द घरे शाली।
माअ मारिआ काह्न भइल कबाली॥ ४॥ ध्रु.॥

कृष्णपाद ने इस चर्यापद में कापालिक साधना को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए बताया है कि उन्होंने इस कापालिक आचार में प्रवेश करने के लिए योगसाधना की, जिसके अन्तर्गत नाड़ीसाधना प्रधान है। सामान्यतया नाड़ियों की संख्या बहत्तर हजार बताई जाती है, जिनमें बत्तीस नाड़ियाँ प्रधान हैं। इनमें तीन नाड़ियाँ मुख्य मानी जाती हैं। इन तीनों में भी प्रमुख है अवधूती। यह विरमानन्दरूपिणी है। गुरु के प्रसाद के बिना योगसाधना असंभव है। गुरुकृपा होने पर ही इस अवधूती को मणिमूल में धारण करने अथवा स्थिर करने का विधान है। जब तक शून्यतारूपी खट्वांग से इसका स्पर्श न हो अथवा शून्यता में इस शक्ति को अभिलिप्त न किया जाय अथवा शून्यता के प्रकाश से यह प्रकाशित न हो, तब तक इस शक्ति का धारण असंभव है। इसके धारण में सहजक्रिया की ही ओर संकेत किया गया है। जब तक अवधूतिका शक्ति को स्थिरभावेन शून्यता से आविष्ट कर अद्वयरूप में धारण नहीं किया जाता तब तक अनाहत नाद का वादन संभव नहीं। इसलिए कृष्णपाद गुरुप्रसाद से विरमानन्दरूपिणी अवधूतिका को मणिमूल में धारण

कर उसे शून्यता के प्रकाश में अभिलिप्त कर अनाहत नाद का वादन करते हैं। शून्यता सर्वधर्मनि:स्वभावता है जिससे संसार के प्रति विलक्षण विशिष्ट राग का उदय होता है। इसी से संसार के विषयों से साधक अभिलिप्त नहीं होता है और प्रकृति पर वीरत्व से युक्त होकर विजय प्राप्त करता है। इसीलिए इस अवधूती साधना में, चक्रभेदनक्रम में जो अनाहत नाद होता है, वह साधक योगी के द्वारा किया गया वीरनाद ही है। यह अनाहत नाद शून्यसिंह का गर्जन है जिसके प्रभाव से अथवा भय से विषय भाग जाते हैं। इस प्रकार कापालिक आचार में प्रवेश करने के पूर्व ही शून्यता के साधन से कृष्णपाद विषयों से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं क्योंकि इस साधन में प्रयुक्त होने वाली साधन सामग्री का नाम सुनकर ही लोग साधक के आचार में संदेह करने लगते हैं, जबकि कापालिक साधक के इनसे लिप्त होने की तनिक भी संभावना नहीं की जा सकती; क्योंकि वह शून्य साधक है। अवधूतिका को मणिमूल में धारण करते ही यह उपलब्धि हो जाती है।

सामान्यतया कापालिक के बाह्याचार का ही लोग विचार करते हैं और उसी के आधार पर उसके कापालिकत्व का निर्णय करते हैं; किन्तु कृष्णपाद इस चर्यापद में जिस साधना का विवेचन करते हैं, वह अन्तस्साधना है। देहरूपी नगरी के बाहर ही भ्रमण करने वालों की संख्या अनन्त है। किन्तु कृष्णपाद तो विषयनिर्मुक्त होकर वीराचारपरक साधना के द्वारा क्लेशादि दोषों का भक्षण कर, उनका विनाश कर, आन्तरिक और बाह्य में एकाकारता का अनुभव करते हुए विहार करते हैं; संसार में विचरण करते हैं और उनके ऊपर संसार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कापालिक योगी के आचार में, पिण्ड और ब्रह्माण्ड में, आन्तरिक और बाह्य जगत् में कोई भेद नहीं रहता। उनमें वह अद्वय एवं अभेद की अनुभूति करता है। यही अभेदभाव, अद्वयभाव उसकी साधना का मूल तत्त्व है। यह एकाकारता सुख-दुःख, पाप-पुण्य, भव-निर्वाण की एकाकारता है।

कृष्णपाद इस आन्तरिक योगसाधन की व्याख्या में कापालिक योगी के आचार के व्याख्यान में बाह्य चिह्नों, लक्षणों, आभूषणों के धारण को भी अंतस्साधनात्मक रूप प्रदान करते हैं। इसका कारण यह है कि कृष्णपाद अपनी अन्य अनेक रचनाओं में बाह्याचार, वेषधारण, बाह्याडम्बर आदि का विरोध और खण्डन कर चुके हैं। अत: अन्तस्साधनात्मक तत्त्वों को ही वे कापालिक के चिह्न, लक्षण, आभूषण आदि के रूप में ही अंगीकार करते हैं। आलि (स्वरावलि) घंटा और कालि (व्यंजनावलि) चरणों को सुशोभित करने वाले नूपुर हैं। उनका शशि और सूर्य अथवा चन्द्र और सूर्य को अचंचल भाव से धारण करना कानों में कुण्डल धारण करना है। तात्पर्य यह है कि उन्हें बाह्य अलंकारों को धारण करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्राणायाम संयुक्त वज्रजाप द्वारा स्वर और व्यंजन की प्रतीकस्वरूपा आलि और कालि नामक नाड़ियों को सिद्ध कर लिया है और चन्द्र एवं सूर्य, जो कालवाचक हैं, को भी उन्होंने अपने शोभाधारक तत्त्व के रूप में धारण कर लिया है। ये सभी उनके साधन के सर्वथा अनुकूल हैं।

कृष्णपाद पुनः कापालिक योगी के बाह्य अलंकारों के अन्तस्साधनात्मक व्याख्यान में प्रवृत्त होते हैं। कापालिक योगी श्मशान की अग्नि से उद्भूत भस्म को अंगराग के रूप

में ग्रहण करता है। कृष्णपाद महासुखरागरूपी अग्नि से रागद्वेषादि को जला डालते हैं। महासुख की प्राप्ति होने पर रागद्वेषादि की सत्ता नहीं रहती। इस अग्नि से दग्ध रागद्वेषादि के अवशेष विराग और अद्वेष को अंगराग अथवा भस्म के रूप में धारण कर वे सुशोभित होते हैं। इस प्रकार वे घंटा, नूपुर, कुण्डल, भस्म आदि को धारण कर स्वयं वज्रसत्व स्वरूप हो जाते हैं और इस रूप में स्वयं अपने को ही ध्यान एवं साधन का आलम्बन मानकर साधना करते हुए परम मोक्ष (महासुखात्मक निर्वाण) को प्राप्त करते हैं। ये मोक्ष अथवा मुक्ति मोतियों की माला के रूप में उनके लिए शान्ति एवं शीतलताप्रदायक तथा शोभादायक हैं। अतः उन्हें बाह्य मुक्ताहार धारण करने की आवश्यकता नहीं है। इन अलंकारों को धारण कर वे मुक्त भाव से इस संसार में विचरण करते हैं।

इन अलंकारों को धारण कर कृष्णपाद कापालिक योगी की जिस चर्या को सम्पन्न करते हैं, उसकी व्याख्या वे संधाभाषा के माध्यम से करते हैं। कापालिक योगी सभी सांसारिक संबंधों का आहरण कर मुक्त भाव से संसार में विचरण करता है। इसीलिए कृष्णपाद पुनः बाह्य आचरणों की अन्तस्साधनात्मक व्याख्या करते हुए निःस्वभाव पदार्थों से आकीर्ण, संसार के विषयों से बाँधने वाले तत्त्वों को नष्ट कर देते हैं अथवा उन पर दृढ़ नियंत्रण स्थापित कर लेते हैं। वे श्वासरूपी सास को मार डालते हैं और मन एवं पवन दोनों पर पूर्ण अधिकार कर उनकी चंचलता को नष्ट कर डालते हैं। चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चंचल मन-पवन से प्रेरित होती हुई आनन्द में बाधा डालती हैं अर्थात् आनन्द नहीं प्रदान करतीं। बौद्ध योग-साधना में इन पाँच प्रकार के विज्ञानों को प्राप्त कराने वाली वातों का उल्लेख मिलता है। इन वातों को अर्थात् आनन्द प्राप्त करने में बाधास्वरूप वात को उसके ही घर में कृष्णपाद क्षुब्ध कर देते हैं, नष्ट कर देते हैं। तात्पर्य यह कि इन्द्रियाँ भी अचंचल एवं स्थिर होकर विविध सांसारिक विषयों में अपनी क्रियाशीलता स्थगित कर देती हैं। इस प्रकार कृष्णपाद इन्हें स्वभावहीन कर देते हैं। तीसरा बाधक तत्त्व माता (सीमित, बद्ध कर देने वाली) है जो माया अथवा अविद्यारूप है। कृष्णपाद इसे भी प्रज्ञा एवं उपाय के अद्वैतयोग के उपाय से मारकर संसार के कल्याण के भाव से, करुणा से, भरकर वज्रकापालिक होकर संसार में मुक्त भाव से विचरण करते हैं। कृष्णपाद की इस चर्या की पुष्टि मुनिदत्त ने दउड़ीपाद के एक श्लोक से की है—

> प्राणी वज्रधरः कपालवनितातुल्यो जगत्स्त्रीजनः।
> सोऽहं हेरुकमूर्तिरेष भगवान् यो न प्रभिन्नोऽपि च।
> श्री पद्मं मदनं च गोकुदहनं कुर्वन् यथा गौरवाद्।
> एतत्सर्वमतीन्द्रियैकमनसा योगीश्वरः सिद्ध्यति॥

(प्राणी वज्रधर है और जगत् की स्त्रियाँ कपालिनी के तुल्य हैं। मैं हेरुकमूर्ति भगवान् हूँ जो प्रभिन्न भी नहीं है (अर्थात् जो अभिन्न हैं)। श्री पद्म और मदन को, इन्द्रिय और पृथ्वी को गौरवपूर्वक वहन करते हुए योगीश्वर अतीन्द्रिय मन से यह सब सिद्ध कर देता है।)

इस अत्यधिक महत्त्वपूर्ण श्लोक को उद्धृत कर मुनिदत्त ने सम्पूर्ण चर्यापद की आत्मा को प्रकाशित किया है। इसमें बौद्ध कापालिक दर्शन की अद्वयवादिता,

अद्वयभावसाधन का भी उल्लेख हो गया है साथ ही इसमें 'गोकुदहन' जैसा महत्त्वपूर्ण शब्द भी आ गया है जिससे क्रमशः गो (गोमांस), कु (कुक्कुरमांस), द (दन्तीहस्ति मांस), ह (हयमांस) और न (नरमांस) की ओर संकेत होता है। इस श्लोक में पद्म (भग), मदन (मद्य) शब्द भी अतीव पारिभाषिक हैं। 'गौरवाद' शब्द तांत्रिक क्रियाओं के यथोचित गौरव संपादन की ओर संकेत करता है। तांत्रिक सिद्धांतों की दृष्टि से भी प्रथम चरण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। (इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या पूर्ववर्ती परिच्छेद में द्रष्टव्य है।)

—

चर्यापद संख्या ३ (बौ. गा. दो., सं. १८; चर्यागीतिकोष १८)

(राग गउडा कृष्ण वज्रपादानाम्)

तिणि भुवन मइ वाहिअ हेलें।
हांउ सुतेलि महासुख लीलें॥ १॥
कइसनि हालो डोम्बी तोहोरि भाभरिआली।
अन्ते कुलिण-जण माझें कावाली॥ ध्रुवपद॥
तइ लो डोम्बी सअल वि टालिउ।
काज ण कारण ससहर टालिउ॥ २॥ ध्रु.॥
केहो केहो तोहोरे बिरुआ बोलइ।
बिदुजन लोअ तोरें कण्ठ न मेलइ॥ ३॥ ध्रु.॥
काह्न गाइ तु कामचण्डाली।
डोम्बीत आगलि नाहि च्छिनाली॥ ४॥ ध्रु.॥

इस चर्यापद में कृष्णाचार्यपाद ने सांसारिक सत्य का साक्षात्कार करते-करते डोम्बी के द्वारा पारमार्थिक सत्य का साक्षात्कार कर, उसका प्रतिपादन किया है। इस डोम्बी अथवा वज्रवनिता के संगम से ही उन्होंने काय, वाक् और चित्त नामक तीन भुवनों को सहज ही, बिना किसी कठिनाई के ही (अथवा (तिरस्कारपूर्वक), बाधित कर दिया। अर्थात् उनकी तत्तत् क्रियाओं और चंचलताओं को स्थगित कर दिया। चक्रक्रम से कृष्णाचार्यपाद ने डोम्बी के साथ अभिष्वंग करते हुए निर्माण, धर्म और सम्भोग चक्रों तक की यात्रा को पूरा कर लिया। इस यात्रा अथवा साधना में उन्होंने तद्गत १६० प्रकृतिदोषों को भी निर्जित कर दिया। अचांचल्य और डोम्बी के साथ अभिष्वंग करने से महासुखचक्र में पहुँचकर रागमयी क्रीड़ा से सहजसुख प्राप्त करते हुए योगनिद्रा में लीन हो गए। इस क्रीड़ा और सहजसुख अथवा महासुख की प्राप्ति नैरात्म धर्म के अवगमन के बिना नहीं होती। सभी धर्म अथवा पदार्थ अनात्म और निःस्वभाव हैं। शून्यता ही उनका स्वभाव है। इस सत्य का साक्षात्कार कर कृष्णाचार्य सहजसुख प्राप्त करते हुए योगनिद्रा में लीन हो गए।

इस शून्यतास्वरूपा डोम्बी के वास्तविक रूप को समझना अति कठिन है, क्योंकि इसके अर्थात् अवधूतिका के दो रूप हैं—परिशुद्धावधूतिका और अपरिशुद्धा-वधूतिका। कृष्णाचार्यपाद अपरिशुद्धावधूतिका, जो द्वैतप्रधान एवं अविद्यारूपा है, का

ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस द्विरूपा डोम्बी को संबोधित करते हुए कृष्णाचार्यपाद कहते हैं, हे डोम्बी, यह तुम्हारी कैसी असमाधेय बर्बरता (समझ में न आने वाली धूर्तता) है कि सत् के ऊपर असत् का आरोपण करती हुई तुम कुलीन जनों को तो अपने घर से बाहर रखती हो और कापालिक को अपने घर के भीतर रखती हो। टीकाकार के अनुसार यह डोम्बी अपने अपरिशुद्ध रूप से अविद्या का प्रभाव डालती हुई, सत् के ऊपर असत् का आरोप करती हुई अथवा पारमार्थिक सत्य के साक्षात्कार के ऊपर अविद्या अथवा सांवृतिक सत्य का अवरोध अथवा आवरण उत्पन्न करती हुई, शरीर में ही अपने ज्ञान को सीमित रखने वाले और उसी को सत् मानने वाले तथा समाज में बाह्याचार की प्रधानता के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले लोगों को अज्ञानरस का आपानक देकर उन्हें अपने घर महासुखचक्र से बाहर ही रखती है। उन्हें प्रवेश का अथवा महासुख की अनुभूति का अधिकार ही नहीं प्रदान करती। उन्हें विषयरस में ही लिप्त रखती है—यह कार्य वह अपरिशुद्धावधूतिका के रूप में करती है, किन्तु जो लोग घृणित हैं, समाज में निन्दनीय हैं; कपाल धारण करते हैं और परमार्थतया कं अर्थात् सांसारिक बोधिचित्त (शुक्र) का पालन एवं अभिरक्षण करते हैं, उसके चांचल्य को दूर कर उसे दृढ़ता प्रदान करते हैं; ऐसे कापालिकों को वह अपने घर में अर्थात् महासुखचक्र में स्थान देती है और इस प्रकार उनके वज्रत्व को प्राप्त चित्त का आधान करती है। यह कार्य वह परिशुद्धावधूतिका के रूप में करती है। इस प्रकार इस पद में कृष्णपाद डोम्बी को कुटिल व्यवहार करने वाली (ध्यान देने योग्य है कि हिन्दू हठयोग साहित्य, यथा हठयोगप्रदीपिका, में कुंडलिनी को कुटिलांगी, भुजंगी जैसी अभिधाएँ दी गई हैं) एक स्त्री के रूप में चित्रित करते हैं तथापि उसके व्यवहार में असामान्यता का दर्शन करते हैं; क्योंकि कुटिलांगी अथवा कुटिल कुन्तलों वाली वेश्या तो समाज के कुलीन एवं सामाजिक दृष्टि से प्रतिष्ठित, बाह्याचारप्रवीण लोगों को तो घर में स्थान देकर उनके साथ विहार करती है और समाज के घृणित निन्दनीय लोगों को घर में प्रवेश तक नहीं करने देती। डोम्बी का आचरण इसके सर्वथा विपरीत है।

कृष्णाचार्यपाद ने इस पद में विशेष रूप से उक्त अपरिशुद्धावधूतिका के प्रति विराग को व्यक्त किया है। उसे संबोधित करते हुए कृष्णाचार्यपाद कहते हैं—हे डोम्बी अपरिशुद्धावधूती के, तुम्हारे द्वारा देव, असुर, मनुष्य आदि सभी, जो कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु में रहने वाले हैं; मिथ्या ज्ञान अर्थात् सांसारिक ज्ञान के कारण नष्ट हो गए। इस मिथ्या ज्ञान का कारण तुम हो। अपरिशुद्धावधूतिका मिथ्या ज्ञान का प्रसार करती है। उन्हें मिथ्या ज्ञान में डालकर तुमने नष्ट कर दिया। इससे तत्त्वतः कार्य और कारण से अतीत रहने वाला शशहर अर्थात् चन्द्र के समान उज्ज्वल रूप धारण करने वाला स्वभावतः उज्ज्वल चित्त भी सांसारिक एवं चंचल होने के कारण, नष्ट कर दिया गया क्योंकि परसंप्रदायानुयायी योगियों के द्वारा जिस योगिनी अथवा शक्ति अथवा मुद्रा का साधन किया जाता है, वह अपरिशुद्धा होती है। अतः ऐसी योगिनी का साधन करने के कारण चित्त (शुक्र) नष्ट हो जाता है और परिणामतः त्रिधातुओं में निवास करने

वाले देवता, असुर, मनुष्यादि सभी नष्ट हो जाते हैं। टीकाकार ने चर्यापाद को उद्धृत करके इसकी पुष्टि की है—

गह्वरस्थान में गिरने से कपूर (वीर्य—शुक्र—चित्त) नष्ट होता है। इसी से कृष्णाचार्यपाद ने परिशुद्धावधूतिका डोम्बी का साधन कर चित्त की दृढ़ता अथवा अचंचलता अथवा वज्रत्व का विधान किया है।

इस द्विरूपा डोम्बी के स्वरूप का व्याख्यान करते हुए कृष्णाचार्यपाद का कथन है कि यही डोम्बी जब सहजानंद से परिशुद्ध हो जाती है, तभी परिशुद्धावधूतिका के रूप वाली कही जाती है। सामान्यतया लोग इसके इस रूप को नहीं जानते क्योंकि अपने कर्मफलचक्र से विवश होकर वे नित्य ही संसार के दुःखों का अनुभव करते हैं। इस प्रकार डोम्बी के वास्तविक रूप को न जानने के कारण तथा नित्य ही दुःखभोग से त्रस्त होने के कारण ये सांसारिक जन तेरी निन्दा करते हैं, तेरे विरुद्ध बोलते हैं, क्योंकि वे महासुखचक्रगृह में प्रवेश नहीं कर पाते और डोम्बी के संगलाभ से महासुख का अनुभव नहीं कर पाते, किन्तु इसके विपरीत जो मंत्रयान के प्रदेश के निवासी योगीन्द्र हैं, वे वज्र और कमल के सम्यक् संयोग से उदित होने वाले अक्षरसुख में लीन होकर इस डोम्बी के परिशुद्ध रूप को जानने के कारण सदैव इसे कण्ठ से लगाए रखते हैं, इसका परित्याग नहीं करते। चक्रसाधनाक्रम के अनुसार संभोगचक्र में सदैव इस डोम्बी के साथ कापालिक संभोग में लीन रहते हैं, कभी भी इसका परित्याग नहीं करते। आगम से श्लोक उद्धृत कर टीकाकार ने इसकी पुष्टि की है—

''जो कक्कोल (पद्म) के प्रेमी बोल (वज्र) के मेलन अथवा संयोग से उदित आनन्द से स्फुरित होकर द्वीन्द्रिय संयोग करने वाले हैं, सद्यः शुद्ध किए गए शालि (?) से जिनके हाथ शोभित हैं, जो कालिंजर (—भव्य) और चक्री (—अभव्य) हैं (अथवा युगनद्ध रूप हैं), दिव्य कमलपात्र (पद्म) में गिरते हुए मदन (—रज—योनिजल) द्वारा जिनके दन्तक्षत व्यालुप्त हो रहे हैं, ऐसे श्मशान के निवास में नित्य रस लेने वाले योगी कोई और कहीं ही मिलते हैं।''

कृष्णाचार्यपाद ने इस स्वसंप्रदायानुगता योगिनी परिशुद्धावधूतिका की प्रशंसा की है। वे कहते हैं : इस प्रकार विभिन्न प्रकार के कर्मों के साधनों को उपायरूप में व्यवहृत करने वाली यह चण्डाली, जो डोम्बी का भी परिशुद्ध रूप है, का गायन कृष्णाचार्यपाद करते हैं। वे उसकी निन्दा नहीं करते, क्योंकि उन्होंने उसका साक्षात्कार किया है। उक्त प्रकार के अनेकविध कर्म करके वह डोम्बी उनके द्वारा विभिन्न परिणामों को उपस्थित करती है। वह असंप्रदायानुयायी योगियों के द्वारा साक्षात्कृत नहीं हो पाती, अस्पष्ट रहती है, इसीलिए वह चंडाली है। इसके परिशुद्ध वास्तविक रूप का साक्षात्कार कृष्णाचार्यपाद ने कर लिया है और किसी ने नहीं। अतः अन्य कोई इसकी अनुशंसा भी नहीं कर सकता। इस डोम्बी से बढ़कर और कोई नकटी अथवा नागरिका नहीं है, अर्थात् उक्त दोनों रूपों में डोम्बी से बढ़कर और कोई स्त्री या शक्ति नहीं है। उक्त दोनों कार्य केवल उसी से सम्पन्न हो सकते हैं। इसी से वह प्राणियों के अधिकार-भेद को

जानकर उनके भेदों के अनुसार उन्हें ग्रहण करती है। इसी बात की पुष्टि टीकाकार ने ज्ञानसंबोधि से की है—

भव और निर्माण दोनों में चित्त ही सबसे बड़ा कारणरूप है। इस चित्त की संवृत अवस्था में सांसारिकता का उदय होता है और विवृत निर्वाणोन्मुख अवस्था में सर्व धर्मों की नि:स्वभावता का उदय होता है।

—

चर्यापद सं. ४ (बौ. गा. दो., सं. १९; चर्यागीतिकोष, सं. १९)

(राग भैरवी, कृष्णपादानाम्)

भवनिर्वाणे पड़ह-मादला।
मण-पवण बेणि करण्ड-कसाला॥ १॥
जअ जअ दुंदुभि साद उछलिया।
काह्न डोम्बी विवाहे चलिआ॥ ध्रुवपद॥
डोम्बी विवाहिआ आहारिउ जाम।
जउतुके किअ आणुतु धाम॥ २॥
अहणिसि सुरअ-पसंगे जाअ।
जोइणि-जाले रअणि पोहाअ॥ ३॥
डोम्बीएर संगे जो जोइ रत्तो।
खणइ न छाड़अ सहज उन्मत्तो॥ ४॥

कृष्णवज्रपाद ने इस चर्यापद में विवाह के रूपक के माध्यम से साधना का वर्णन किया है। तांत्रिक बौद्ध साधना अद्वैत साधना है। भव यदि निर्वाण से भिन्न है, मन यदि पवन से भिन्न है तो द्वैत और विकल्प है। कृष्णपाद जब डोम्बी से विवाह के लिए चलते हैं, भव और निर्वाण में परस्पर सम्मिलन हो जाता है। दोनों ही डोम्बी साधन में अथवा डोम्बी के साथ विवाह में उसी प्रकार सहयोगी हो जाते हैं, जिस प्रकार विवाह में, वर के लिए नगाड़े और ढोल का निनाद होता है। ठीक इसी प्रकार मन और पवन, जो पृथक्तः विकल्प हैं, वे भी डोम्बी के विवाह में निर्विकल्प रूप प्राप्त करण्ड और कांस्यताल अथवा मंजीर के रूप में सहयोग करते हैं। 'करण्डक शाला' पाठ ग्रहण किए जाने पर अर्थ होगा—मन-पवन दोनों ने ही एकत्र समाहित होकर बुद्ध के धर्मकरण्डक (पिटारी) गृह का रूप धारण कर लिया। टीकाकार के अनुसार भव और निर्वाण, मन और पवन दोनों ही अलग-अलग विकल्प हैं, किन्तु यदि उनका पूर्वोक्त चर्यापदों में वर्णित साधनक्रम से परिशोधन कर दिया जाय तो विवाहादि में प्रयुक्त ढोल-नगाड़े आदि की तरह महासुख के साधन के रूप में प्रयुक्त किए जा सकेंगे। कृष्णपाद ने भव और निर्वाण में अभेदभावना कर ली और मन तथा पनव के वैषम्यभाव को मिटाकर उनको महासुखोत्पादक रूप में ग्रहण कर लिया अथवा उनकी सहायता से बुद्धरत्नकरण्डक रूप गृह के रूप में उन्हें ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार विविध वाद्यों के निनाद के साथ जब कृष्णाचार्यपाद ने डोम्बी के साथ विवाह के लिए प्रस्थान किया, तब आकाश से जय-जयकार हुआ अर्थात् देवताओं ने भी

कृष्णवज्रपाद के इस विवाह के प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त की और उनका अभिनन्दन किया। दुन्दुभि की प्रसन्नतासूचक एवं उत्साहवर्धक ध्वनि चारों ओर उच्छलित होने लगी। टीकाकार के अनुसार यहाँ डोम्बी शुक्रनाड़िका अथवा अपरिशुद्धावधूतिका है। उसके साथ विवाह का अर्थ है उसकी अपुरिशुद्धता का भंजन। जब मध्यगता शुक्रनाड़ी अथवा अवधूती के द्वारा चंचल बोधिचित्त (—शुक्र) पतनक्रम में गतिमान रहता है तो अवधूती भी अपरिशुद्ध रहती है। डोम्बी के साथ विवाह का तात्पर्य है अपरिशुद्ध अवधूती को परिशुद्ध कर उससे पतनशील चंचल बोधिचित्त को अचंचल कर उत्थानक्रम में अग्रसर करना। इस कार्य के लिए अर्थात् डोम्बी के साथ विवाह के लिए जब कृष्णाचार्यपाद ने बाजे-गाजे के साथ, भव-निर्वाण और मन-पवन के निर्विकल्पत्व के साथ प्रयाण किया तो सुरलोकादि में प्रसन्नता व्यक्त की गई और उन लोगों ने कृष्णवज्रपाद का अभिनन्दन किया।

कृष्णवज्रपाद इस डोम्बी से विवाह अर्थात् अपरिशुद्ध अवधूती के परिशुद्ध अवधूती के रूप में परिवर्तन एवं ग्रहण के फल का भी व्याख्यान करते हैं। इस डोम्बी के साथ विवाह कर कृष्णवज्रपाद ने जन्म का आहरण कर लिया। जन्म अथवा जाति का द्वादश निदानों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। डोम्बी के साथ विवाह से जन्म या जाति का आहरण कर लिया, उसका भक्षण कर लिया, उसे नष्ट कर दिया अथवा जन्ममृत्यु चक्र से मुक्त हो गए। इस विवाह के साथ दहेज के रूप में सहज ही अनुत्तर धर्म की प्राप्ति हो गई, अथवा उसका साक्षात्कार हो गया। टीकाकार के अनुसार यह डोम्बी वायुरूपा अथवा प्राणस्वरूपा है। इस चंचल वायुरूपा डोम्बी अथवा अपरिशुद्धावधूतिका का गमन द्वार जब तक मुक्त रहता है, तब तक यह चंचल रहती हैं। उसके साथ विवाह का अर्थ है, उसके गमनद्वार को भग्न कर देना अथवा बन्द कर देना। इससे वह ऊर्ध्वमुखी होकर दृढ़भाव से गमन करने लगी। परिणामतः जन्म अथवा उत्पादादि के दोषों का नाश कर दिया गया। इस प्रकार बिना क्लेश के ही, सहजानंद प्राप्त करते हुए ही, कृष्णाचार्य ने अनुत्तर धर्म अर्थात् महाप्रज्ञा का साक्षात्कार कर लिया।

योगिनी के प्रभाव का वर्णन करते हुए कृष्णाचार्यपाद का कथन है कि वे इस डोम्बी के साथ रात-दिन सुरत-क्रीड़ा में लीन रहते हैं। रात और दिन बीत जाते हैं और उनके बीतने का भान नहीं होता। सुरत-क्रीड़ा में लीन रहने पर काल के संकेतक रात-दिन (चन्द्र-सूर्य का द्वैत) का कोई प्रभाव नहीं रहता, उनका अनुभव नहीं होता। लीनता के कारण उनके बीतने का पता नहीं चलता और इस प्रकार योगिनी के जाल में पड़कर रात प्रभात के रूप में परिवर्तित हो जाती है (अथवा रात बीत जाती है और प्रभात हो जाता है)। टीकाकार के अनुसार यह डोम्बी ज्ञानमुद्रा है। इस ज्ञानमुद्रा के साथ नित्य संयोगानन्द का अनुभव योगीन्द्र को होता है। जो योगीन्द्र इस प्रकार ज्ञानमुद्रा के साथ रात-दिन सुरत में लीन रहता है, उसका अज्ञान रजनी में उत्पन्न होकर सम्पूर्ण जीवन में छा जाने वाला क्लेशरूपी अन्धकार ज्ञानमुद्रा डोम्बी योगिनी की ज्ञानरश्मि के समूह से दूर भाग जाता है, नष्ट हो जाता है। टीकाकार ने आगम के प्रमाण से इसकी पुष्टि की है—

''प्राणों के अधिपति भगवान् अथवा शक्तिमान अथवा वज्रधर के अपने में ही लीन हो जाने पर अर्थात् साधक के ही शरीर के वज्रधररूप हो जाने पर, श्वास और उच्छ्वास अथवा आश्वास और नि:श्वास अथवा प्राण और अपान की चंचलता का त्याग हो जाने पर, प्राण का पूरक, रेचक और कुम्भक क्रिया से नियंत्रण हो जाने पर योगियों के शरीर से स्वत: प्रसरित होने वाला प्रकाश संसार के अंधकार को दूर कर त्रैलोक्य में छा जाता है।''

तात्पर्य यह है कि वज्रधर के रूप में भावना, प्राण और अपान की स्थिरता और प्राण के नियन्त्रणाधीन होने से अज्ञानान्धकार को दूर करने वाला ज्ञान प्रकाश उदित होकर त्रैलोक्य में छा जाता है।

कृष्णपाद ने योगिनी के प्रसन्न होने, उसके प्रेम के प्राप्त होने और उसके ज्ञानरश्मि के प्रकाश से अज्ञानान्धकार के दूर होने से सम्पन्न होने वाली योगीन्द्र की चर्या का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस डोम्बी का ऊपर वर्णन किया गया है, वह प्रकृतिप्रभास्वररूपा और परिशुद्ध अवधूतिका है। इसे ही ज्ञानमुद्रा भी कहा गया है। इस डोम्बी के साथ जो-जो योगीन्द्र सुरत क्रीड़ा में रत रहते हैं, वे-वे उसका कभी भी परित्याग नहीं करते; क्योंकि यह डोम्बी महासुख का आधार है। उसके बिना महासुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए, वे योगी उसके इस सूक्ष्म आंतरिक रूप को जानते हुए क्षण भर के लिए भी उसका परित्याग नहीं करते, अर्थात् प्रतिक्षण इस ज्ञानमुद्रा को कण्ठ से लगाए रखते हैं। सरहपाद के वाक्य से टीकाकार ने इसकी पुष्टि की है—

सभी भावों के मन में गत हो जाने से—आदि।

●

२.

बुद्धकपाल साधननाम—सरहपाद रचित

(तिब्बती से अनूदित)

(तेंजुर, सं. १६५५ [श. २२५ बी^{3}—२२९ बी^{3}])

श्री बुद्धकपाल को नमस्कार। रक्तपायी, गम्भीर, गुणयुक्त, सभी वस्तुओं के सृष्ट स्वभाव, सभी सत्वों की हितैषिणी चित्रसेना को सर्वदा नमस्कार। गुरु के यथानिर्दिष्ट और गुरुपरम्परागत, सत्वों के ज्ञानयोग तथैव साधन को मैं कहूँगा। प्रथमतया योगी सुखासन पर बैठकर अपने हृदय में स्वर के प्रथम अक्षर से उत्पन्न चन्द्रमंडल की स्थापना करे। उसके ऊपर हुं अक्षर का पंचप्रभा से युक्त, पंचतथागतों के स्वभाव का चिन्तन करे। इसके बाद हुंकार से उत्पन्न प्रभा से कालदन्ता पूजक देवियों को उत्पन्न करके सुमालिनी आदि चौबीस योगिनियों से घिरे हुए, चित्रसेना से लिपटे हुए (आलिंगित हुए) हेरुक की पञ्चामृत के द्वारा पूजा करनी चाहिए। सर्वपूजन के द्वारा सम्यक् पूजा कर उनके समक्ष त्रिरत्न आदि का स्मरण और पापादेशना आदि करना चाहिए। योगतंत्र में तो करुणा की प्रथम भावना करते हैं। इस योगिनी तंत्र में तो मैत्री की पहले भावना करनी चाहिए। तत्पश्चात् करुणा और इसके बाद सर्वानन्द (मुदिता?) और उसके बाद उपेक्षा (की भावना करनी चाहिए)। तब अपने हृदय में सूर्यस्थित हुंकार का चिन्तन करना चाहिए। इसके बाद नीचे के वायुमंडल के द्वारा जलाए जाने से हुं से प्रभास्वर होने पर सब देह को सम्यक् रूप से दग्ध कर (उसकी) सर्वशून्यता में ही भावना करनी चाहिए। इसके बाद 'रं' अक्षर से परिणत सूर्य के ऊपर 'हुं' अक्षर के परिणत होने से विश्ववज्र में उसका परिणमन होता है। विश्ववज्र के मध्य में 'हुं' का ही चिन्तन करना चाहिए। इससे कालवज्र से प्रकाशित होने पर (उसका) प्राकार और जाल से सीमाबन्ध करे। वज्र का परिणमन होने से विश्ववज्र की आधारभूमि का चिन्तन करना चाहिए। वज्र की आधारभूमि के मध्यवर्ती होकर ए त्रिकोण के रूप में धर्मधातु की भावना करनी चाहिए। इसके बाद उसके मध्य में चार महाभूतों का मनन करना चाहिए। 'यं' का परिणमन होने से वायुमंडल का धनुष के आकार के समान दो पताकाओं से विभूषित (रूप में) मनन करना चाहिए। वह भी नाड़ियों के कम्पन से सभी रूपवान चक्रों के लीन हो जाने के मध्य में योगी को स्थित होना चाहिए। इससे वायुशुद्धि (होगी) कही गई है। 'रं' के परिणमन से सात ज्वालाओं से युक्त, त्रिकोणात्मक रक्त अग्निमंडल का अठारह नाड़ियों के स्थान से मुदित होते हुए देखते मनन करना चाहिए। 'वं' के परिणमन से श्वेत वृत्ताकार जलमंडल का कुम्भ से सुशोभित (रूप में) मनन

करना चाहिए। मंडल में लीन होते हुए नाड़ियों के सारे चक्रजाल का मनन करना चाहिए। 'लं' का परिवर्तन होने से पीत चतुष्कोणात्मक पृथ्वीमंडल का वज्र से शोभित (रूप में) मनन करना चाहिए। इसी तरह चार अक्षरों से अधिष्ठित चार महाभूतों के मंडल की भावना करनी चाहिए। इसके बाद चार महाभूतों का परिणमन हो जाने से चार द्वारों, चार तोरणों तथा हारार्द्धद्वार से, नूपुरों के जाल से विभूषित एवं आठ स्तम्भों से युक्त चतुष्कोणात्मक गृह का मनन करना चाहिए। उसके मध्य में अष्टदल पद्म सुशोभित है, (उसका) मनन करना चाहिए। इसके मध्य में धर्मधातु के स्वभाव के शव का मनन करना चाहिए। उस पर 'अ'—कारादि षोडश वर्णों से दो बार आवेष्ठित, द्वात्रिंशत वर्णों के परिणमन से चन्द्रमंडल की (भावना करनी चाहिए)—यह आदर्शवत ज्ञान परिशुद्ध है। उस पर 'क' आदि चौंतीस में य, र, ल, व, ड, ढ, छ का योग होने से चालीस हो जाते हैं। वह भी द्विगुणित करने से बने ८० वर्णों के परिणमन से सूर्यमंडल की भावना करनी चाहिए। यह तो समताज्ञान का स्वभाव है। इसके मध्य में प्रज्ञोपायात्मक 'हुं' अक्षर का (मनन करना चाहिए)। यह तो प्रत्यवेक्षण ज्ञान का स्वभाव है। अब 'हुं' का परिणमन होने से वज्र की नाभि में भी 'हुं' का मनन करना चाहिए। यह तो कामसिद्धिज्ञान का स्वभाव है। इन सबका परिणमन होने से चित्रसेना से आलिंगित बुद्धकपाल हेरुक की भावना करनी चाहिए।

अब हेरुक के विषय में कहते हैं। श्वेत कुन्द तथा इन्दु सदृश प्रभास्वर और चन्द्र जैसे उज्ज्वल, मणि जैसे प्रकाशित एकमुख, चतुर्भुज, दाहिने हाथों में कर्तरि और कपाल तथा बाएँ हाथों में खट्वांग और वज्र लिये हुए (हेरुक) की भावना करनी चाहिए—ऐसा उपदेश से समझना चाहिए। इसकी प्रज्ञा चित्रसेना की तो एकमुखा, द्विभुजा, मुक्तकेशी, हेरुक को आलिंगित करती हुई, नग्ना, मुंडमालारहिता, यज्ञोपवीतधारिणी, सर्वसुखावबोधा और सुरूपिणी, दाहिने में डमरुक (चंगतिउ) और कर्तरि तथा बाएँ हाथ में खट्वांग लटकाए हुए तथा कपाल धारण किए हुई भगवद्रूपिणी (के रूप में) भावना करनी चाहिए। पूर्व के पद्मदल में सुमालिनी श्वेतवर्णा है। उत्तर के पद्मदल पर कामिनी पीतवर्णा, पश्चिम के पद्मदल पर भैरवी रक्तवर्णा और दक्षिण के पद्मदल पर दुर्गा कृष्णवर्णा हैं—ये सब सूर्य पर अर्द्धपर्यङ्कनाट्यस्था हैं। इनका एकमुखा, द्विभुजा, कर्त्तरिकपालधारिणी (रूप में) मनन करना चाहिए। दिक्कोणों के चार पद्मदलों पर अमृत से पूर्ण चार कपालों की भावना करनी चाहिए। मध्य पद्मदल वज्रमाला से अलंकृत है। द्वितीय पुट के आठों अरे पद्ममाला से अलंकृत हैं। उसके पूर्व अर पर कुशलमेखला, उत्तर के अर पर रूपिणी, पश्चिम के अर पर विजयिनी, दक्षिण के अर पर कारिणी हैं। ईशान अर पर कपालिनी, आग्नेय अर पर महाआयुधी, नैर्ऋत्य अर पर तन्त्रिणी, वायव्य अर पर मारिणी हैं। ये सब योगिनियाँ रक्तवर्णा, सूर्यासनस्था, एकमुखा, द्विभुजा, अर्द्धपर्यङ्कनाट्यस्था, कर्त्तरिकपालधारिणी हैं। तृतीय पुट के आठों अर वज्रमाला से अलंकृत हैं। उसके पूर्वी अर पर तारिणी, उत्तरी अर पर भैरवी, पश्चिमी अर पर ललामा, दक्षिणी अर पर अजया, ईशान अर पर शुभा, आग्नेय अर पर जुजेमा (?) नैर्ऋत्य अर पर काललिंगिनी, वायव्य अर पर

महायशा—ये सब योगिनियाँ श्वेतवर्णा, सूर्यासनस्था, एकमुखा, द्विभुजा, कपालधारिणी हैं। पूर्वी द्वार पर सुन्दरी श्वेतवर्णा, उत्तरी द्वार पर वसुधारिणी पीतवर्णा, पश्चिमी द्वार पर सुभगा रक्तवर्णा और दक्षिणी द्वार पर यशोदर्शना कृष्णवर्णा हैं। ये सभी योगिनियाँ शव और सूर्य पर स्थित हैं। मैत्री आदि स्वभाव वाली, विस्तारित वामपद नाट्यस्था, एकमुखा, द्विभुजा, कर्त्तरिकपालधारिणी योगिनियाँ हेरुक को सर्वदा देख रही हैं। द्वारपालिकाओं के अतिरिक्त योगिनियों की अर्द्धपर्यङ्कनाट्यस्था, व्याघ्रचर्मावृत्ताकटि, अस्थ्याभरणा, रक्तप्रभायुक्ता, पिंगोर्ध्वकेशा, मुखरक्तवर्षिणी वीर्ययुक्ता (के रूप) में भावना करनी चाहिए। भगवान् की (उत्पत्ति की) पूर्णता के समय सभी योगिनियाँ एक क्षण में हुं में पूर्णतया परिणमित होंगी। इस प्रकार से चौबीस देवियों सहित अपनी भावना करनी चाहिए। तत्पश्चात् चौबीस देवियों के द्वारा पूजित किए जाने पर कपाल के पञ्चामृत भोग (की भावना करनी चाहिए)। अब इसके बाद चित्रसेना के पद्म पर 'ओं-कार' का और हेरुक के वज्र पर 'हुं'-कार का मनन करके चित्रसेना और भगवान् के पद्म और वज्र का योग करके फिर चौबीस देवियों के साथ भी कामभोग करके, महाराग पर अतिराग होने से, सब गलकर सूर्यमंडल के मध्य में शुक्र के रूप में स्थित (होता) है। उस शुक्र को देखकर द्वारपालिकाओं के गान प्रेरित करते हैं—

क्यों जगत् के कान दबाते हैं,
क्यों आप अप्रसन्न हैं ?
यदि आप मेरे शब्द सुनते हों तो
सारी अप्रसन्नता छोड़ दीजिए॥

—यह सुन्दरी की प्रार्थना है।

शून्य (समाहित) चित्त न होकर
अपने अभिप्राय को सुकीर्तित कीजिए।
भव के भय से समस्त जगत् प्रवंचित है,
हे योगिनीमित्र! उठिए॥

—यह वसुधारिणी की प्रार्थना है।

हे आदिप्रधान! यदि शब्द सुन रहे हों तो
कार्य की उपेक्षा न करें।
आपके दृष्टिगोचर न होने से
समस्त जगत् दुर्गति में पतित हो दुःखी होगा।

—यह सुभगा की प्रार्थना है।

मिथ्या अहंकार न करके
कीर्तिशून्य स्वभाव को देखिए।
सभी वस्तुओं को छोड़कर
योगिनी समूह को भोगिए॥

—यह यशोदर्शना की प्रार्थना है।

इस प्रार्थना के अनन्तर उस शुक्र से 'आ'-कार और 'हुं'-कार (इन) दो से कर्त्तरी और वज्र (उत्पन्न होते हैं)। उस कर्त्तरी और वज्र से एकमुखा, चतुर्भुज, नीलवर्णमुख, 'हुं' ऐसी ध्वनि करने वाले, पहले कहे गए लक्षणों से युक्त, अर्द्धपर्यङ्कनाट्यस्थ, भयंकर, क्रोधी स्वभाव वाले, व्याघ्रचर्मावृत्त, उंचास आर्द्र मुंडों की माला धारण करने वाले, यज्ञोपवीतधारी, विवृत मुख, महाउग्र, महाकारुणिक के प्रधान (हेरुक) की भावना करनी चाहिए।

केयूर, कंठाभरण और वलय से भूषित,
नग्न, मेखलाबद्ध कटिवाले, पादालंकार से
रुन-झुन शब्द करते हुए, मार का प्रदमन
करते हैं। जटामुकुट से परियुक्त, पंचबुद्धों
के मुकुटवाले, अर्द्धचन्द्रधारी देवता, सिर
पर (स्थित) विश्ववज्र के भार से अवनत हैं।
चक्री, कुण्डल, कण्ठाभरण, कङ्कण, मेखला और
मुद्राओं को धारण किए हुए नाथ, धूलि
के कणों से अवलिप्त भयङ्कर, मुक्ताभूषित
ललाटवाले वीरता से संसार को मुक्त करते हैं।

प्रधान की महाप्रज्ञा, चित्रसेना, योगिनी, नग्ना, मुंडमालारहिता, निरलंकृता, यज्ञोपवीतरहिता, सर्वसुखसम्पन्ना, एकमुखी, द्विभुजा, मुक्तकेशी, श्वेतांगी, अतिविवृत, मुख वाली किञ्चित्, उत्कटदन्ता, भयंकरा, दाहिने में डमरूक (चंगतिउ) और कर्त्रिका तथा बाएँ में खट्वांग और कपाल धारण करने वाली—ऐसी पारमिता देवी की भावना करनी चाहिए।

अब अपने हृदय, मस्तक, मूर्धा, दोनों कंधों, दोनों आँखों, गुह्याङ्ग और सारे शरीर के सात स्थानों में 'ओं हां हैं हें हां हां हां' इस मंत्र का विधान करना चाहिए। हृदय में 'हुं' से चित्तवज्र, कंठ पर 'आ' वाग्वज्र, मूर्धा पर 'ओं' से कायवज्र को, काय-वाक्-चित्त को, अधिष्ठित करके ज्ञानसत्व का आवाहन करना चाहिए। हृदय के चन्द्र पर स्थित 'हुं' की प्रभास्वर अंकुश (के रूप में) भावना करनी चाहिए। 'ओं बुद्धकपालिनी आ:खं ग्रं द्रूं श्रूं अ: अ: अ: हुं हुं हुं फट्' इस मंत्र को विजृम्भण के साथ जपकर ज्ञानसत्व को आकृष्ट कर समयचित्त में समाहित करके पानी में दूध की विलीनता की तरह भावना करनी चाहिए। इस तरह वीर को पूर्णतया देखकर नाड़ीचक्र से स्रवित होते हुए स्राव से विविध योगिनियों के महाकरुणा से युक्त, सर्वतथागतों के द्वारा अधिष्ठित, विविध वस्त्रधारी, युवा रूप में अलंकृत, द्वादशवर्षीया आठ योगिनियों को उत्पन्न कर, आकाश की ओर स्थित होकर, बोधिचित्त के द्वारा परिपूर्ण आठ कुम्भ को आम्रपल्लवों से अलंकृत करते हुए, प्रसन्न और हसित मुख से 'हेरुक की जय' ऐसा कहते हुए को, नाथ के द्वारा देखे जाने पर, अभिषेक की विधि के लिए प्रार्थना करनी चाहिए—

'हे कारुणिके, हे महायशस्विनी, हे वज्रयोगिनी! अभिषेक
कीजिए। संसार के पंक में पड़े हुए मुझको अभिषेक के द्वारा

मुक्त करा दीजिए। जिस तरह पुत्ररहित गृह में मृत्यु के बाद ही
शून्य हो जाता है, उसी तरह अभिषेक के बिना सभी ज्ञान से
रहित हो जाएँगे।'

इस श्लोक के द्वारा गुह्याभिषेक का निर्देश करते हैं—

'जैसे सर्वाङ्गसम्पन्न होने पर भी तन्तु के न होने पर
वीणा को बजाया नहीं जा सकता, वैसे ही अभिषेक के
बिना मंत्र और ध्यान सिद्ध नहीं हो सकते हैं।'

इस श्लोक के द्वारा प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का निर्देश करते हैं—

'अभिषेक न होने से महादोष हैं, ऐसा भी कहा है
कि जो मूढ़ अभिषिक्त नहीं हैं, वह 'मैं अभिषिक्त हूँ'
ऐसा कह कर जब तक बुद्ध रहेंगे तब तक वह
सशिष्य नरक में जायगा।'

यह श्लोक अभिषेकरहित (होने के) दोष का निर्देश करता है। हे योगिनी! ऐसा आप जानिए! पुनः 'मुझे अभिषिक्त कीजिए, यदि अनुत्पाद अभिषेक है तो मुझे हेरुक में प्रवृत्त कर दीजिए।' तत्पश्चात् योगिनियों ने 'जय' कहकर भगवान् का स्नानाभिषेक किया। बाह्य और गुह्य अभिषेक-मात्र से आकाश की ओर से दुन्दुभि की ध्वनि करते हुए, चन्दन और पुष्पों की वर्षा हुई। अभिषेक के बाद योगिनियाँ नाड़ीचक्र में लीन हुईं। मंडल के सर्वचक्र को अपनी जाति के द्वारा मुद्रित किया गया। तत्पश्चात् स्तवगान, पूजा और पञ्चामृत से भगवान् को पूजना चाहिए। तत्पश्चात् 'यं' के परिणत होने पर वायुमंडल, उसके ऊपर 'आं' के परिणत होने पर कपाल और कपाल के मध्य में 'वि' 'मू' 'रा' 'शु' 'मा'[१] के परिणत होने पर पञ्चामृत, गो कु द ह न[२] के परिणत होने पर पञ्चमांस का मनन करना चाहिए। तत्पश्चात् वायु के द्वारा अग्नि के प्रज्ज्वलित होने पर अग्नि से कपाल को गर्म करने पर इससे वज्ररूपी भाव की उत्पत्ति होगी। पुनः शीतल करने के लिए कपाल के एक बलिश्त ऊपर 'ओं' के परिणत होने पर 'ओं' के द्वारा अधिष्ठित अमृतस्वरूप चन्द्रमंडल से हिम सदृश अमृत के गिरने से शीतल हो जाएगा। तीन तत्त्वों के द्वारा देवता को तृप्त करना चाहिए। तत्पश्चात् मंडलचक्र की, सदा ही, स्वप्न और माया की तरह भावना करनी चाहिए। नाभि पर 'आः', हृदय पर 'हुं', कण्ठ पर 'ओं', मस्तक पर ध्वनि और तिलक से युक्त अक्षय्य 'हं' (की भावना करनी चाहिए)।

पृथ्वी आदि चार महाभूतों से विभाजित (और)
चार संधिकालों पर अधिष्ठित चार चक्रपद्मों
से समुत्पन्न चार आनन्द, (जो) चार योगों पर
सदा आश्रित हैं, के श्रेष्ठ आनन्द के रूप से

१. वि—विष्ठा, मू—मूत्र, रा—रक्त, शु—शुक्र, मा—मांस

२. गो—गाय, कु—कुक्कुर, द—दन्ती—हाथी, ह—हय, न—नर (के मांस)

कार्य करने वाले हे श्रीरूपी वज्रसत्व! (आप)

सुविधानुसार विलास करें।

श्वास के गमनागमन की भावना करने से (वह) लीन हो जाएगा और महासुख उत्पन्न होगा। नाड़ीचक्र के आठ दलों में से दिशाओं के चार दल महाभूतों के स्वभाव के हैं। कोणों के चार पद्मदल पंचामृत के स्वभाव के हैं और पूजा के रूप में वहाँ स्थित हैं। काय-वाक्-चित्त (अष्टगुणित) विभाजन से चौबीस हैं, ऐसा कहा है। यही बाह्यमंडल तो चौबीस के स्वभाव का है और चित्रसेना के साथ भगवान् मध्य में विराजमान हैं। निर्माणचक्र के चौंसठ दलों के मध्य में 'ओं' तिलक के रूप में है और हृदयचक्र के आठ दलों के मध्य में 'हुं' तिलक के रूप में है। 'ओं' की ऊपर जाती हुई ज्योति किरण और 'हुं' की नीचे आती हुई ज्योति किरण के मिलन के स्थान पर तिलक के रूप में लीन होने पर सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार उत्पन्न और प्रवेश की भावना करनी चाहिए। षण्मास तक के अभ्यास-प्रयोग से सिद्ध होने में सन्देह नहीं है और भावना करने से उद्वेग होने पर (इस) मंत्र का जप करना चाहिए—'ओं ह्रीः बुद्ध हुं कपालिनी आः'। प्रवेश में 'ओं', उत्पन्न में 'ह्रीः' और स्थिति में 'बुद्ध', सुख में 'हुं', अस्त होने पर 'कपालिनी' और उदित होने पर 'आः'—इस तरह से षड्ङ्गान्तरात्मक मंत्र जपना चाहिए। इसकी भावना के प्रयोग से 'बुद्ध हो जाएँगे, अन्यथा नहीं।' (यह) मूलमंत्र है। 'ओं बुद्ध कपालिनी ओं ह्रीः हे हुं फट्'—यह गर्भमंत्र है। 'ओं कपालवज्रिणी हुं हं दुरक्ष्ये हुं फट्'—(यह) उपगर्भ मंत्र है। 'ओं महाकपाल वज्रे चित्रि पुचत्रि अलम्बने प्रीणय सर्वभूतं मारय मारय सर्वमारान्, कीलय सर्वदुष्टान्, उच्चाटय सर्वविघ्नानपि त्रय (त्रायस्व) भो भगवति! यक्ष रक्ष सपिशाचान् शोषय, त्रय (त्रायस्व) सप्तपातालगतान्, सर सर प्रसर हुं हुं हुं फट् फट् फट्।' चार प्रहर पर मंडल का चार बार निर्माण करके यहाँ पर बलिदान करना चाहिए। सभी भूतों का बलि मंत्र है। ००० बुद्धकपाल पञ्चविंशति देवतात्मक साधन महाचार्य सरहपादेन विरचित, समाप्त हुआ। भारतीय महोपाध्याय श्री गयधर तथा भोट 'लो वा चिजु चन्द्रकिरण' द्वारा अनूदित एवं प्रस्तुत।[१]

●

१. भोट भाषा से हिन्दी में यह अनुवाद तिब्बती आचार्य समदोङ रिम्पोछे, न, सामतेन शास्त्री तथा भारतीय पंडित कामेश्वरनाथ त्रिपाठी तथा नागेन्द्रनाथ उपाध्याय के सहयोग से प्रस्तुत किया गया।

३.

भगवती बुद्धकपालस्य साधनम्

(साधनमाला, सं. वि. भट्टाचार्य, खण्ड २, साधन सं. २५४, पृ. ५००-५०३)

नमः श्री बुद्धकपालाय।

प्रथमं तावन्मन्त्री मनोऽनुकूले भूभागे गत्वा द्वादशार्घामृतेनोपलिप्य कल्पयेत्। स्वाधिष्ठाने प्रथमं ध्यात्वा भूतभौतिकं स्फारयेत्। स्वहृदये हुताशनमक्षरं ध्यात्वा सूर्य्यमंडलं कल्पयेत् ऊँकारेण चन्द्रमंडलं द्वयोरेकीभूय सूर्य्यमंडलं परं दृश्यते। तस्योपरि हुंकारं विचिन्त्य रश्मिमेघांश्च स्फारयेद् बुधः। तेन रश्मिना गुरुबुद्धबोधिसत्वानाकृष्य पुरतः संस्थाप्याच्चर्यियेत्। पश्चात् क्षमापयेत्। स्वभावशुद्धादिमन्त्रमुच्चार्य्य निस्तरङ्गं विभावयेत् पद्माष्टदलं सूर्य्याक्रान्तम्। सूर्य्यस्योपरि न्यस्येत् अक्षरद्वयम्। हुंकारेण प्रज्ञालिङ्गितहेरुकं झटित्याकारयोगेनात्मानं विचिन्त्य पञ्चविंशतियोगिनीभिः सह एवं दृश्यते। हेरुकनाथेन कामयेत् सर्व्वयोगिन्यः। सर्व्वे ते द्रवीभूय सूर्य्यमंडलसमवस्थितं दृष्ट्वा देवीं चोदयन् चतुर्योगिन्योऽभ्यन्तरसाधने—

किच्चे णिच्चअ विसाअगउ लोअ णिमन्तिअ काईं।
तह वत्ता ण जइ सम्भरसि उट्ठहिं सअल विसाईं॥
कज्ज अप्पाण वि करिअ पिअ मा करसु विण्णवि चित्त।
भवभअ पडिआ सअल जणु उट्ठहि जोइनिमित्त॥
पूव्वपइ ज्जइ सम्भरसि मा कर कज्ज विसाउ।
तइ अथमिन्ने सअल जणु परिअवज्ज गउसाउ॥
मिछें माण वि मा करहि पिअ [उ] ट्ठइ सुण्णसहाव।
कामहि जोइणि विन्द तुहु फिट्टउ अहवा भाव॥

ईदृशेन गीतेन चतुर्योगिस्यश्चोदयन्त्यः पूर्व्ववद् वक्त्रवर्णचिह्नाद्ययोगिन्या सह। ततः—

उत्थितोऽसौ महावीरो घोरसंहारकारकः॥

नीलवर्णो महावपुः अस्थ्याभरणमर्द्धपर्य्यङ्कन्त्यस्थं मुण्डमालाविभूषितं मुकुटे अक्षोभ्यधारिणं एकवक्त्रं चतुर्भुजं वामे खट्वाङ्गकपालं दक्षिणे कर्त्रिडमरुकं प्रज्ञालिङ्गितं वामे चित्रसेना मत्ता नग्ना मुक्तकेशी सर्व्वभयरहिता देवी चुम्बयन्ती मुहुर्म्मुहुः। एवं आत्मानं ध्यात्वा स्फारयेद् योगिनीनां महर्द्धिका दिशासु विदिशासु च।

प्रथमाभ्यन्तरपुटे पूर्व्वे देवी सुमालिनी नीला उत्तरे कपालिनी पीता पश्चिमे भीमा श्यामा दक्षिणे दुर्ज्जया शुक्ला; द्वितीय पुटे पूर्व्वे शुभमेखला उत्तरे रूपिणी पश्चिमे विद्या दक्षिणे कौवेरी ऐशान्यां कामिनी वायव्यां महोदधिः नैर्ऋत्यां कारिणी आग्नेय्यां मारिणी;

तृतीयपुटे पूर्व्वे भीमदर्शना उत्तरे अजया पश्चिमे शुभा दक्षिणे ओस्तारिकी ऐशान्यां सुरक्षिणी वायव्यां विकालरात्री नैर्ऋत्यां महायशा आग्नेय्यां सुन्दरी। कायवाक्चित्तविशुद्धितस्त्रयः पुटलक्षणाः चत्वारि द्वारपालिनीनां नामानि कथयामि, पूर्व्वद्वारे सुन्दरा उत्तरे सुभगा पश्चिमे प्रियदर्शना दक्षिणे नैरात्म्या। सर्व्वा देव्यो नीलवर्णा द्विभुजा एकवक्त्रा अस्थ्याभरणाः पिङ्गोर्द्ध्वकेशा मुण्डमालारहिता वामे कपालं दक्षिणे कर्त्रिका अर्द्धपर्य्यङ्कनृत्यस्थाः। आसां पञ्चविंशतिसूर्य्यासनानि द्रष्टव्यानि। मंडलचक्रं तु भावयेत्—

चतुरस्त्रं चतुर्द्वारं चतुस्तोरणभूषितम्।
अष्टस्तम्भोपशोभितं वेदिकापट्टिकायुतम्॥

बाह्यतोऽष्ट श्मशानानि कल्पयेत्। खिन्ने सति मन्त्रं जपेत्—ॐ महावज्रो हेरुकवज्रो धरतु धरतु महाज्ञानस्फेटने शीघ्रं साधय स्तम्भय कीलय हुं फट् स्वाहा।

उत्पत्तिक्रमं कथितं उत्पन्नं गुरुगोचरम्।
भूतभौतिकसंवरं योगिनीनां प्रकल्पितम्॥
अद्वययोगज्ञानं तु प्रज्ञालिङ्गितहेरुकम्।
क्लेशानां वशीकारार्थं यावन्मुद्रः प्रकल्पितः॥
धीरो विनीतो मतिमान् सर्व्वाकुशलवर्ज्जितः॥
शुचिश्च गुरुभक्तश्च बुद्धकपालयोगतः।
सिध्यन्ति षण्मासेनैव योगिनो नात्र संशयः॥

॥ श्रीमतो भगवतो बुद्धकपालस्य साधनम्॥

●

४.

साधनमाला के देव-देवी मंडल एवं साधन में प्राप्त कापालिक तत्त्व

बौद्ध देव-देवी मंडल में अनेक शवारूढ़, कपालधारी, मुण्डमालाधारी और श्मशानवासी हैं। उनके साधन का विधान भी कापालिक उपकरणों से सम्पन्न है। साधनमाला से सम्बद्ध विवरण का संग्रह प्रमाण के लिए किया गया है—

१. महाचीनक्रमार्यतारा शवारूढ़ा, मुण्डमालाधारिणी एवं कपालधारिणी हैं।[१]
२. महाचीन क्रमतारा की साधना के लिए एकलिङ्गालय, श्मशान अथवा शून्यागार का निर्देश किया गया है। यह देवी मुंडमालाप्रलम्बिता, शवारूढ़ा, नागाष्टकविभूषिता, व्याघ्रचर्मावृताकटि एवं कपालधारिणी है।[२]
३. आर्यतारासाधन में वशीकरण मंडल का लेखन कर श्मशान के अङ्गार से प्रतिकृति बनाने का निर्देश है।[३]
४. एकजटासाधन में अक्षर, विकरालकृष्ण, नाना रश्मियों का विस्फुरण करते हुए श्वेत कपालस्थ महावज्र का ध्यान करने के लिए कहा गया है। यह एकजटा देवी सिर को कपालमाला से भूषित रखने वाली, व्याघ्रचर्मनिवसना, शवारूढ़ा, नागाष्टक विभूषिता और कर्त्रिकपालधारिणी है।[४]
५. शुक्ल एकजटासाधन में देवी शव पर प्रत्यालीढ पद से स्थित और अत्यन्त भीमरूपा है।[५]
६. स्वाधिष्ठानकुरुकुल्ला साधन में देवी कुरुकुल्ला अष्ट श्मशान परिवृता, पञ्चकपालधारिणी, मुण्डमालाधारिणी और अस्थ्याभरणालंकृता है।[६]
७. महामाया देवी के आठ श्मशानों का भी उल्लेख मिलता है—पूर्व में साधकानुग्रह, उत्तर में अद्वैतकर, पश्चिम में क्रोधानन, दक्षिण में घोरान्धकार, आग्नेय में महाप्रलय, नैर्ऋत्य में महामेलापकयोग बहुल, वायव्य में सिंहनादमहाकेत्कार, ईशान में सरोज बीज नाम के महामाया के श्मशान हैं।[७]

---

१. *साधनमाला,* भाग १, पृ. २०८, साधन सं. १००।
२. *वही,* पृ. २०९-२११, साधन सं. १०१।
३. *वही,* पृ. २४३, साधन सं. ११५।
४. *वही,* पृ. २५६-२५९, साधन सं. १२३।
५. *वही,* पृ. २६९, साधन सं. १२८।
६. *वही,* भाग २, पृ. ३८१, साधन सं. १८३।
७. *वही,* पृ. ४३७, साधन सं. २२३।

८. वज्रवाराही साधन में देवी प्रेतासनस्था, कपालमुकुटा, बाएँ हाथ में कपाल, खट्वाङ्ग, तर्ज्जनीपाश धारण करने वाली है।[१]

९. वज्रवाराही रुधिर से आर्द्र पचास नरमुण्डों की माला धारण करती है और वाम भुजा में कपाल धारण करती है।[२]

१०. वज्रयोगिनी साधन में वज्रयोगिनी उग्र शवारूढ़ा और श्मशानवासिनी है। उसके साधन का विधान श्मशान में ही किया गया है। बाएँ हाथ में देवासुररुधिर से पूरित कपाल धारण करती है।[३]

११. महामाया साधन में देवी कपालमाला से सिर को विभूषित किए हुए है और अस्थियों के अलङ्कारों से सुशोभित है। इस साधन में पूर्व दल पर स्थित वज्रडाकिनी वाम भुजा में खट्वांग और घंटा तथा दक्षिण भुजा में वज्र और कपाल धारण करती है। इसी प्रकार उत्तर दल पर स्थित विश्वडाकिनी वाम भुजा में पाश और कपाल तथा दक्षिण भुजा में खट्वाङ्ग और डमरू धारण करती है। सभी देवियों के शिरोभाग कपालमाला से विभूषित हैं।[४]

१२. हेरुक साधन में हेरुक वीर नरचर्म्मधारी, कपालमाला और अक्षोभ्य से अलंकृत सिर वाले, आँतों से संग्रथित मुण्डमालाधारी, नरास्थिरचित्त आभरणों को धारण करने वाले, बाएँ हाथ में पूर्ण कपाल को धारण करने वाले एवं नृत्यरत रूप में चित्रित हैं।[५] इसी प्रकार एक अन्य साधन में वे अक्षोभ्य आदि से अलंकृत मुंडमाला को मुकुट के रूप में बायीं भुजा में रक्त से परिपूर्ण कपाल और सार्द्र नरमस्तक को माला के रूप में, धारण किए हुए हैं।[६] द्विभुज हेरुक साधन में हेरुक शव पर अर्द्धपर्यङ्कनाट्यस्थ हैं और नरचर्म्म को वस्त्र के रूप में धारण किए हुए हैं। पचास मुण्डों की माला पहने हैं। अस्थियों के आभरणों से वे सुशोभित हैं। उनके शिरोभाग पर पञ्चकपाल हैं।[७] द्विभुज हेरुक शवारूढ, वज्राङ्कित कपालधारी, ताण्डवनिरत, व्याघ्रचर्म्मधारी, नरास्थि को कुण्डल के रूप में धारण करने वाले हैं। नैरात्म्या भी कर्त्रिकपालधारिणी है।[८]

१३. बुद्धकपाल साधन में बुद्धकपाल नीलवर्ण, अस्थ्याभरणभूषित, मुंडमालाधारी, वाम भुजा में खट्वाङ्ग और कपाल तथा दक्षिण में कर्त्तरी और डमरुक धारण किए हुए हैं। उन्हें मत्ता, नग्ना, मुक्तकेशी, सर्व्वभयरहिता देवी चित्रसेना आलिंगित किए हुए

---

१. *साधनमाला,* पृ. ४३७-४३८, साधन सं. २२४।
२. *वही,* पृ. ४३९, साधन सं. २२५ तथा पृ. ४४०, साधन सं. २२६।
३. *वही,* पृ. ४५४-४५७, साधन सं. २३२-२३६।
४. *वही,* भाग २, पृ. ४६६-४६८, साधन सं. २४०।
५. *वही,* पृ. ४६८-४६९, साधन सं. २४१।
६. *वही,* पृ. ४७०-४७१, साधन सं. २४२।
७. *वही,* पृ. ४७३, साधन सं. २४४।
८. *वही,* पृ. ४७४-४७५, साधन सं. २४५।

उनका बार-बार चुम्बन करती हैं। तीनों पुटों में उनके चारों ओर जो योगिनियाँ हैं, वे भी अस्थ्याभरण धारण करती हैं। यद्यपि वे मुंडमालारहिता हैं तथापि उनकी वामभुजा में कपाल है और दक्षिण भुजा में कर्तृका है। सभी अर्द्धपर्यङ्कनृत्यस्था हैं। इस साधन में भी अष्ट श्मशानों की कल्पना का विधान है।[१]

१४. रक्तयमारि साधन में वश्यविधि के प्रकरण में श्मशानकर्पट पर लाक्षारस के मिश्रण से चक्रद्वय के लेखन का विधान किया गया है।[२] इस साधन में स्वयं रक्तयमारि देवता ही वाम भुजा में रक्तापूरित कपाल और दक्षिण में मुण्ड धारण करते हैं।[३] एक दूसरे साधन में आर्य्यमारि दक्षिण भुजा में हुंपदाङ्कित दण्ड और वाम भुजा में रक्तापूर्ण कपाल धारण करते हैं। इस प्रसंग में योग के लिए रक्तयमारि का जो वर्णन है, उसके अनुसार उनका शिरोभाग मुण्डमाला से रचित है।[४]

१५. षड्भुजमहाकाल साधन में महाकाल के मस्तक पर कपालावलि है। रक्तार्द्र नरशिरोमाला से वे विभूषित हैं। व्याघ्रचर्म ही उनका वस्त्र है। श्मशानाष्टक के बीच में वे विराजमान हैं। उनकी बायीं भुजाओं में कपाल, शूल और वज्रपाश हैं। चतुर्भुज महाकाल शवारूढ़ हैं।[५] षोडशभुज महाकाल एक वाम भुजा में रक्तपूर्ण कपाल धारण करते हैं, नरमुण्डमालाधारी हैं। इनके पूर्व भाग में महामाया महेश्वरा भी वाम भुजा कपाल और दूसरे में डमरुक धारण करती हैं। दक्षिण दिशा में विद्यमान नीलवर्णा यमदूती भी वाम भुजा में रक्तपूर्ण कपाल धारण करती है। चारों कोणों में से पूर्व-दक्षिण कोण पर स्थित कृष्णवर्णा कालिका अपनी दो भुजाओं में कर्त्रि और कपाल धारण करती है और शवारूढ़ा है। इसी प्रकार अन्य कोणों पर स्थित देवियाँ भी शवारूढ़ा हैं।[६]

साधनमाला के अनेक साधनों के इन विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तांत्रिक बौद्ध साधना में कापालिक लक्षणों से सम्पन्न देवी-देवताओं की संख्या कम नहीं है और साथ ही उनका साधन भी तदनुकूल साधनों से किए जाने का विधान है। इनमें से अधिकांश के स्वरूप और साधन भयंकर और विकट हैं। अनेक देवी-देवता शोणिताहारी हैं। इतने पर भी इन देवताओं का जो विवरण मिलता है तथा इनके साधनों का जो लक्ष्य अथवा उद्देश्य बताया गया है, उनके मूल में जनकल्याण और करुणा ही है। इनके मूल में क्रियाशील सिद्धान्तों का विवेचन पूर्व परिच्छेदों में किया जा चुका है।

●

१. *साधनमाला*, भाग २, पृ. ५०१-५०३, साधन सं. २५४।
२. *वही*, पृ. ५३४, साधन सं. २७०।
३. *वही*, पृ. ५३५, साधन सं. २७१।
४. *वही*, पृ. ५४०, साधन सं. २७२।
५. *वही*, पृ. ५९०-५९१, साधन सं. ३०४-३०५।
६. *वही*, पृ. ५९७-५९८, साधन सं. ३१२।

५.

हेवज्रतंत्र के कापालिक तत्त्वों से सम्बन्धित अंश

पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि कापालिक, साधन, दर्शन और तत्त्वों के लिए हेवज्रतंत्र को एक महत्त्वपूर्ण स्रोत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस ग्रंथ के तीसरे परिच्छेद में शैव कापालिकों का जो लक्षणनिरूपण किया गया है, उसके आधार पर, समान रूप से बौद्धों में कापालिक लक्षणों का संधान किया गया है। सरहपाद आदि सिद्धाचार्य हैं। उन्होंने बौद्धतंत्र को जिस प्रकार व्यापक प्रचार दिया और साथ ही उसका व्यवस्थित शास्त्रीय निरूपण किया, उसी प्रकार उन्होंने कापालिक साधना और दर्शन को भी व्यवस्थित रूप प्रदान किया यद्यपि उसका मूलाधार उन्होंने सामान्य तांत्रिक बौद्ध चिन्तन को ही माना। इस दृष्टि से सरहपादरचित इस हेवज्रतंत्र का विशेष महत्त्व है। इसीलिए अपनी कापालिक साधना संबंधी स्थापना के प्रमाण के लिए इस ग्रंथ के कुछ महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी अंशों को नीचे उद्धृत किया जा रहा है। इन अंशों में उपास्य, उपासक, योगिनी, साधनास्थल, साधनतत्त्व, साधनकाल आदि से संबंधित विविध उल्लेख मिलते हैं। विस्तारभय से इन अंशों का हिन्दी अनुवाद नहीं दिया जा रहा है।

१. हेरुकारेण महाकरुणा वज्रं प्रज्ञा च भण्यते।
प्रज्ञोपायात्मकं मन्त्रं तन्मे निगदितं शृणु॥ ७॥
ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपायसंस्थिता।
अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहकवर्जिता॥ १४॥
अक्षोभ्यावहा ललना रसना रक्तवाहिनी।
प्रज्ञा चन्द्रावहाख्यातावधूती सा प्रकीर्तिता॥ १५॥
एकारेण लोचनादेवी वंकारेण मामकी स्मृता।
मकारेण पाण्डुरा च याकारेण तारिणी स्मृता॥ २२॥

निर्माणचक्रे पद्मं चतुष्षष्टिदलं धर्मचक्रे अष्टदलं सम्भोगचक्रे षोडशलं महासुख-चक्रे द्वात्रिंशद्दलं चक्रसङ्ख्याक्रमेण व्यवस्थापनम्॥ २३॥ चत्वारः क्षणाः विचित्र विपाक विमर्द विलक्षणाश्चेति॥ २४॥ चत्त्वार्यङ्गानि सेवा उपसेवा साधना महासाधनाश्चेति॥ २५॥ चतुरार्यसत्यानि दुख समुदय निरोध मार्गाश्चेति॥ २६॥ चत्त्वारानि तत्त्वानि आत्मतत्त्वं मन्त्रतत्त्वं देवतातत्त्वं ज्ञानतत्त्वं चेति॥ २७॥ चत्वारानन्दाः आनन्दः परमानन्दो विरमानन्दः सहजानन्दश्चेति॥ २८॥ चत्वारो निकायाः स्थावरी सर्वास्तिवादः संविदी महासंघी-चेति॥ २९॥ चन्द्र-सूर्य आलि-कालिषोडश संक्रान्तिश्चतुष्षष्टिदण्डो द्वात्रिंशन्नाडी चत्वारः पहाराः एवं सर्वे चत्वारः॥ ३०॥[१]

---

१. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग १, पटल १।

२. मन्त्रपटलं व्याख्यास्यामः.........

वायव्यां दिशि पुष्करिणीं कृत्वा तमनन्तं स्थापयेत्। तस्यास्तटे मण्डलं वर्तयेत्। कृष्णरजः श्मशानाङ्गारेण सितरजो नरास्थिचूर्णेन पीतरजो हरितलक्तेन रक्तरजः श्मशानेष्टकेन हरितरजस् चौर्यपत्रनरास्थिचूर्णाभ्यां नीलरजो नरास्थिश्मशानाङ्गारचूर्णाभ्यां रजोभिः एभिः मंडलं वर्तयित्वा श्मशानसूत्रेण संसूत्र्य त्रयहस्तं मण्डलं त्रयाङ्गुष्ठादिकं। तन्मध्येऽनन्ताक्रान्तम् हेवज्रं लिखेत्॥ २०॥[1]

३. प्रथमं भावयेन्मृतकं धर्मधात्वात्मकं विदुः।
योगी तस्योपरि स्थित्वा हेरुकत्वं विभावयेत्॥ ४॥
व्योम्नि भट्टारकं दृष्ट्वा वज्रजन्यमहाकृपम्।
पूजयेद् अष्टदेवीभिः सर्वालङ्कारधारिभिः॥ ८॥
चौरी मृगलाञ्छनधर्त्री गौरी मार्त्तण्डभाजनम्।
वेताली वारिहस्ता च भैषज्यधर्त्री घस्मरी॥ ९॥
पुक्कसी वज्रहस्ता च शवरी रसधरी तथा।
चण्डाली डमरुं वाद्य एताभिः पूजयेद् प्रभुः॥
डोम्ब्यालिङ्गितकन्धरो महारागानुरागितः॥ १०॥
चन्द्रालिकालिमार्त्तण्ड बीजं मध्यगतं भवेत्।
स एव सत्त्व इत्याहुः परमानन्द स्वभावको॥ ११॥
विस्फुरन्ति स्वदेहाभाः गगनमंडलच्छादकाः।
संहार्यानयेद्धृदये योगी द्वेषात्मको भवेत्॥ १२॥
नीलारुणाभवर्णेन रक्तबन्धूकनेत्रवान्।
पिङ्गोर्ध्वकेशवर्तश्च पञ्चमुद्रेणालङ्कृतः॥ १३॥
चक्री कुण्डल कण्ठी च हस्ते रुचक मेखला।
पञ्चबुद्धविशुद्ध्या च एता मुद्राः प्रकीर्तिताः॥ १४॥
क्रुद्धदृष्टिर्व्याघ्रचर्मा (स) द्विरष्टवर्षाकृतिः।
वामेवज्रकपालं च खट्वांङ्ग चापि वामतः॥
दक्षिणे कृष्णवज्रं च हुंकारोच्चारणात्मकः॥ १५॥
श्मशाने क्रीडते नाथोऽष्टयोगिनीभिः परिवृतः।
श्वसतीत्यनया युक्ता श्मशानेत्यभिधीयते॥ १६॥

चतुर्भुजश्चतुर्मारनिर्जितविशुद्धितः पूर्वोक्तवर्णरूपो हूंभवः प्रथमवामभुजे नरकपालं देवासुराणां रक्तेन पूरितं प्रथमदक्षिणेभुजे वज्रं शेषद्विभुजाभ्यां प्रज्ञालिङ्गितः वज्रवाराही प्रज्ञा भगवद्रूपिणी॥ १७॥ षड्भुजस्त्रिमुखो वामं रक्तं दक्षिणं चन्द्रारुणाभं प्रथमं नीलं नग्नोः पूर्वोक्तवर्णरूपो भुजानां षट्पारमिताविशुद्धिः प्रथमवामभुजे त्रिशूलं प्रथमदक्षिणभुजे वज्रं वामद्वितीयभुजे घण्टा दक्षिणद्वितीयभुजे कर्त्रिः शेषद्विभुजाभ्यां वज्रशृङ्खलासमापन्नः यद्वत् भगवान् तद्वत् प्रज्ञा सव्यावसव्ये कर्तृकपालं त्रैधातुकात्मकमृतकाक्रान्तः॥ १८॥[2]

१. *हेवज्रतंत्र,* भाग १, पटल २।
२. *वही,* भाग १, पटल ३।

४. भगो स्यास्तीति बुद्धस्य भगवान् इति कथ्यते।
भगानि षड्विधान्याहुरैश्वर्यादिगुणाखिलाः।
अथवा क्लेशादिमाराणां भञ्जनाद् भगवान् इति॥ १५॥
जननी भण्यते प्रज्ञा जनयति यस्माज्जगत्।
भगिनीति तथा प्रज्ञा विभागं दर्शयेद् यथा॥ १६॥
रजकीति दुहिता च नर्तकी च प्रकथ्यते।
रञ्जनात् सर्व्वसत्त्वानां रजकीति तथा स्मृता॥ १७॥
गुणस्य दुहनात् प्रज्ञा दुहिता च निगद्यते।
नर्तकी भण्यते प्रज्ञा चञ्चलत्वान्महाकृपा।
अस्पर्शा भगवती यस्मात् तस्माद् डोम्बी प्रकथ्यते॥ १८॥
जल्पनं जपं आख्यातं आलिकाल्योः प्रजल्पनात्।
मंडलं पादलेखः स्यान् मलनाद् मंडलमुच्यते॥ १९॥
करस्फोटो भवेन्मुद्रा अंगुल्यामोटनं तथा।
तद् ध्येयं चिन्तितं यच्च ध्येयं यस्मात् विचिन्ततम्॥ २०॥
पितरि प्राप्तं यत् सौख्यं तत् सौख्यं भुज्यते स्वयम्।
मरणं येन सुखेन तत् सुखं ध्यानमुच्यते॥ २१॥[१]

५. अतः परं प्रवक्ष्यामि चर्या पारङ्गतां वराम्।
गम्यते येन सिद्धान्तं हेवज्रे सिद्धिहेतुना॥ १॥
भावकेन वधर्त्तव्यं कर्णयोर्दिव्यकुण्डलम्।
शिरसि चक्री धर्तव्या हस्तयो रुचकद्वयम्॥ २॥
कट्यां वा मेखलं चैव पादयोर्नूपुरं तथा।
बाहुमूले च केयूरं ग्रीवायां अस्थिमालिका॥ ३॥
परिधानं व्याघ्रचर्म भक्षणं दशार्धामृतं।
हेरुकयोगस्य पुंसो विहारः पञ्चवर्णेषु॥ ४॥
पञ्चवर्णसमायुक्तं एकवर्णं तु कल्पितम्।
अनेकैनेकवर्णेन यस्माद् भेदो न लक्ष्यते॥ ५॥
एकवृक्षे श्मशाने वा भावना कथ्यते शुभा।
मातृगृहे तथा रम्येऽथवा विजने प्रान्तरे॥ ६॥
किञ्चिद् उष्मे तु संप्राप्ते चर्यां कर्तुं यदिष्यते।
सिद्धिं गन्तुं यदिच्छास्ति चर्यया त्वनयाचरेत्॥ ७॥
चारुवक्त्रां विशालाक्षीं रूपयौवनमण्डिताम्।
नीलोत्पलश्यामाङ्गीं च स्वाभिषित्तां कृपावतीम्॥
वज्रकन्यां इमां गृह्य चर्यां कर्तुं विबुध्यते॥ ८॥

---

१. *हेवज्रतंत्र*, भाग १, पटल ५।

वज्रकुलाभावात् स्वेष्टदेवकुलेन क्रियते।
अथवान्यकुलोद्‌भवा
बोधिबीजनिक्षेपेण संस्कृतां (इमां) गृह्णीयात्॥ ९॥
यदि गीतं गीयत आनन्दात् तर्हि वज्रान्वितं परम्।
यद्यानन्दे समुत्पन्ने नृत्यते मोक्षहेतुना।
तर्हि वज्रपदे नाट्यं कुर्याद् योगी समाहितः॥ १०॥
मन्त्रविशुद्धया स्थिता गीता नर्तना भावना स्मृता।
तस्माद् गीतञ्च नाट्यञ्च कुर्याद्योगी सदा-सदा॥ १३॥
भक्षितव्यं तु भैषज्यं पातब्यं वारि नित्यतां।
जरामृत्युर्न बाधेत रक्षाभूतः सदा भवेत्॥ १४॥
चौर्यकेशकृतां भृकुटीं तत्र हूं-भवो योजयेत्।
पञ्चबुद्धकपालानि धर्त्तव्यं योगचर्यया॥ १५॥
पञ्चाङ्गुलकपालखण्डं (कृत्वा) मुकुट्यांध्रियते सदा।
कचडोरी द्विवेता च प्रज्ञोपायस्वभावतः।
भस्मकेशपवित्रञ्च योगी विभर्ति चर्यया॥ १६॥
जापो डमरुकशब्दः प्रज्ञाखट्वाङ्गो भावना।
जाप्यं भाव्यं भवेद् एतद् वज्रकपालचर्यया॥ १७॥
लोभं मोहं भयं क्रोधं व्रीडाकार्यं च वर्जयेत्।
निद्रां आत्मानं उत्सृज्य चर्यां कुर्यान्न संशयः॥ १८॥
शरीरं दानं दत्वा च पश्चाच्चर्यां समारभेत्।
भागाभागविचारेण तस्माद् दानं न दीयते॥ १९॥
भक्ष्यं भोज्यं तथा पानं यथाप्राप्तं तु भक्षयेत्।
ग्रहणं नात्र कर्त्तव्यं इष्टानिष्टविकल्पतः॥ २०॥
भक्ष्याभक्ष्य विचारन्तु पेयापेयं तथैव च।
गम्यागम्यं तथा मन्त्री विकल्पं नैव कारयेत्॥ २१॥
सिद्धिलब्धोऽपि यः शिष्यः सम्यग्ज्ञानावभासकः।
अभिवन्दयति गुरुं सिद्धोऽविच्यात्याज्यहेतुना॥ २२॥
शिक्षादीक्षाविनिर्मुक्तो लज्जाकार्यं तथैव च।
सर्वभावस्वभावेन (वि) चरेद् योगी महाकृपः॥ २३॥
होमत्यागतपोऽतीतो मंत्रध्यानविवर्जितः।
समयसंवरविनिर्मुक्तश्चर्यां कुरुते सुयोगवान्॥ २४॥[1]

६. श्मशानं प्रेतसंहातं श्मशानं चोदधेस्तटम्।
उद्यानं वापिकातीरं उपश्मशानमुच्यते॥ १८॥[2]

---

१. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग १, पटल ६।

२. *वही,* पटल ७।

७. अध्यात्मकपुटे तावत् स्थिता वै पंचयोगिन्यः।
पञ्चस्कन्धस्वभावेन भावयेद् योगवित् सदा॥ १२॥
इन्द्रे वज्रे यमे गौरी वारुण्यां वारियोगिनी।
कौवेरी वज्रडाकी च मध्ये नैरात्म्ययोगिनी॥ १३॥

बाह्यपुटे पुन

गौरी चौरी वेताली च घस्मरी पुक्कसी तथा।
शवरी चण्डाली चैव अष्टमी डोम्बिनी मता॥ १४॥
अधोवत्यूर्ध्ववत्येन खेचरी भूचरी स्मृता।
भवनिर्वाणस्वभावेन स्थितावेतौ द्विदेवते॥ १५॥

सर्वा देवत्यः

कृष्णवर्णा महारौद्रा पञ्चमुद्राविभूषिताः।
एकवक्त्राश्च रक्ताक्षाः कर्तृकपालधृक्कराः॥ १६॥
चक्री कुण्डल कण्ठी च हस्ते रुचक मेखला।
पंचबुद्धविशुद्ध्या च पञ्चैते शुद्धमुद्रकाः॥ १७॥
सर्वा एतादृशाः ख्याता तथा नैरात्म्ययोगिनी।
कपालैककरव्यग्रा दक्षिणे कर्तृधारिकाः॥ १८॥
खट्वाङ्गं चैव वामेन व्याघ्रचर्मावृता कटिः।
शवारूढ़ा ज्वलद्दीप्ता द्विभुजाः पिङ्गमूर्धजाः॥ १९॥
तथा मानादिषड्दोषान् कर्तितुं कर्तृका स्थिता।
भावाभावविकल्पस्य शिरसा पद्मभाजनम्॥ २०॥
रक्तं च चतुर्माराणां पीयते सिद्धिहेतवे।
खट्वाङ्ग शून्यताकैरः शवोपायेन कल्पितम्॥ २१॥
एतेन भावयेच्चक्रं लघु सिद्धिं अवाप्नुयात्।[1]

८. कौपीनं विश्ववर्णं च मृच्छारैर्भूषणं तथा।
पुष्पं प्रेतालये प्राप्य बन्धयेन्मूर्धजं वरम्॥ ४९॥

भगवान् आह—

वक्षाम्यहं वज्रगर्भ शृणु त्वं एकचेतसा।
सन्ध्याभाषं महाभाषं समयसंकेतविस्तरम्॥ ५५॥
मदनं मद्यं बलं मांसं मलयजं मिलनं मतम्।
गति खेटः शवः श्रायो अस्थ्याभरणं निरंशुकम्॥ ५६॥
अगतिः प्रेङ्खणं प्रोक्तं कृपीटं डमरुकं मतम्।
अभव्यं दुन्दुरं ख्यातं भव्यं कालिञ्जरं मतम्॥ ५७॥
अस्पर्शं डिण्डिमं प्रोक्तं कपालं पद्मभाजनम्।
भक्षं तृप्तिकरं ज्ञेयं व्यञ्जनं मालतीन्धनम्॥ ५८॥

---

१. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग १, पटल ८।

गूथं चतु:समं प्रोक्तं मूत्रं कस्तूरिका स्मृता।
स्वयम्भू सिल्हकं ज्ञेयं शुक्रं कर्पूरकं मतम्॥ ५९॥
महामांसं शालिजं प्रोक्तं द्वीन्द्रिययोगं कुन्दुरम्।
वज्रं बोलकं ख्यातं पद्मकक्कोलकं मतम्॥ ६०॥
कुलं पञ्चविधं ख्यातं वर्णभेदेन भेदितम्।
सन्धाभाषत एवं स्युर्बुद्धाश्च पञ्चकौलिकाः॥ ६१॥
डोम्बी वज्रकुली ख्याता नटी पद्मकुली तथा।
चण्डाली रत्नकुली चैव द्विजा तथागती मता॥ ६२॥
रजकी कर्मकुली चैव एता मुद्राः सुसिद्धिता।
आसां शुक्रं भवेत् वज्रं पूजयित्वा पिबेत् व्रती॥ ६३॥[1]

९. षोडशभुजं अष्टास्यं चतुश्चरण भयानकम्।
कपालमालिनं वीरं नैरात्म्याश्लिष्टकन्धरम्॥
पञ्चमुद्राधरं देवं नैरात्म्या पृच्छति स्वयम्॥ ३॥
अस्मच्चक्रं त्वया कथितं पञ्चदशपरिवारितम्।
त्वदीयं मंडलं कीदृक् प्राग् न ज्ञातं मया प्रभो॥ ४॥
चुम्बित्वा तु नैरात्म्यां क्षिप्त्वा बोलं कपालके।
मर्दयित्वा स्तनौ देवो मंडलं सम्प्रकाशयेत्॥ ५॥
चक्रं पूर्वं यथाकथितं हारार्द्धहारशोभितम्।
चतुष्कोणं चतुर्द्वारं वज्रसूत्रैरलंकृतम्॥ ६॥
तत्र मध्येऽहं विद्यते त्वया सार्धं वरानने।
महारागानुरागेन सहजानन्द स्वरूपतः॥ ७॥
अष्टास्यं चतुश्चरणं भुजषोडशभूषितम्।
चतुर्मारसमाक्रान्तं भयस्यापि भयङ्करम्॥ ८॥
मुण्डमालाकृतहारं सूर्यस्थं ताण्डिवान्वितम्।
विश्ववज्रधरं मूर्ध्निः कृष्णवर्णभयानकम्॥ ९॥
हूंकारं स्फारयेन्मुखाद् भस्मोद्धूलितविग्रहम्।
रतिद्वन्द्वसमापन्नं नैरात्म्या सह संयुतम्॥ १०॥[2]

१०. हस्त्यश्वखरगावुष्ट्रमनुजसरभौतुकस्तथा।
दक्षिणाष्टकपालेषु क्रमैर्ज्ञेया द्विपादयः॥ २४॥
पृथ्वी वरुण वायुश्च तेजश्चन्द्रार्क एव च।
अन्तको धनदश्चैव वाम (क)ाष्ट कपालके॥ २५॥
शृङ्गारवीरवीभत्सरौद्रहास्य भयानकैः।
करुणाद्भुतशान्तैश्च रवनाद्यरसैर्युतम्॥ २६॥

---

१. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग २, पटल ३।
२. *वही,* पटल ५।

मातृचक्रे पुरे रम्ये भावयेद ईदृशं प्रभुम्।
कृष्णवर्णमहाघोरं नैरात्म्येसुखदायकम्॥ २९॥
गौर्या (हि) दक्षिणे कर्त्र्यवसव्ये रोहितस्तथा।
कृपीटं दक्षिणे चौर्या वामे पानौ वराहकम्॥ ३०॥
वेताल्या दक्षिणे कूर्मं वामे पद्मभाजनम्।
घस्मर्या दक्षिणे सर्पः वामेन योगपात्रिका॥ ३१॥
पुक्कस्या दक्षिणे सिंहं वामे परशुस्तथा।
शवर्या दक्षिणे भिक्षुर्वामे खिङ्खिरिका तथा॥ ३२॥
चण्डल्या दक्षिणे चक्रं वामेन लाङ्गलं तथा।
डोम्ब्या दक्षिणे वज्रं वामे सव्यतर्जनी तथा॥ ३३॥
अर्द्धपर्यङ्कनाट्यस्था गौर्याद्या द्विभुजा मताः।
त्रिनेत्रा ऊर्द्धवकेशाश्च पंचमुद्राविभूषिता॥ ३४॥
कृष्णवर्णा भवेद् गौरी चौरी मार्त्तण्डसन्निभा।
वेताली तप्तहेमाभा घस्मरी मरकतोपमा॥ ३५॥
पुक्कसी इन्द्रनीलाभा शवरी चन्द्रमणिप्रभा।
चण्डाली च नभश्यामा डोम्बी कर्चूरा मता॥ ३६॥[१]

११. पुटं एकं चतुर्द्वारं नानारश्मिसमाकुलम्।
चतुष्तोरणसमायुक्तं वज्रसूत्रैर्विभूषितम्॥ ५०॥
पंचरेखासमायुक्तं अष्टौ (च) कलशा (स्ततौ) लिखेत्।
पंचरत्नमयैचूर्णैरथवा तण्डुलादिभिः॥
श्मशानेष्टकेनापि श्मशानांगारकैस्तथा॥ ५१॥
तन्मध्ये तु लिखेत् पद्मं अष्टपत्रं सकेशरम्।
पुष्करे च लिखेन्नरकं शुक्लवर्णत्रिखण्डनम्॥ ५२॥[२]

१२. शृणु देवी महाभागे पुस्तकं कथयाम्यहम्।
भूर्जपत्रे लिखेत् समयी द्वादशांगुल पुस्तकम्॥
महामधुमसीं कृत्वा लेखन्यां मानुषास्थिभिः॥ २॥
श्मशाने गिरिकुञ्जे वा मानुष (स्य) पुरे तथा।
अथवा विजने प्रान्ते इदं भोजनं आरभेत्॥ ७॥
कल्पयेद् आसनं तत्र नवाख्यं शवरूपिणम्।
अथवा व्याघ्रचर्मञ्च श्मशानकर्पटं तथा॥ ८॥
मध्ये हेवज्ररूपात्मा योगिनीनां ततो न्यसेत्।
स्थानं ज्ञात्वा यथापूर्वं दिशासु विदिशासु च॥ ९॥

---

१. *हेवज्रतंत्र,* भाग २, पटल ५।
२. *वही।*

व्याघ्रमर्चोपरि भुञ्जीत समयस्य मालतीन्धनम्।
भक्षणं च भक्षयेत्तत्र राजशालिं प्रयत्नतः॥
भुक्त्वा भुक्त्वा पुनस्तत्र पूज्यन्ते तत्र मातरः॥१०॥[१]

ऊपर के उद्धृत अंशों में क्रमशः हेवज्रस्वरूप, नाड़ी योजना, 'एवं' से देवियों का संबंध, बौद्ध योग में चतुर्वर्णीय व्यवस्था (१), मंडलरचना (२), अष्टदेवियाँ उनका स्वरूप और भावना, नाथ का स्वरूप (३), भगवान् शब्द की व्याख्या, भगिनी, रजकी, दुहिता आदि की आध्यात्मिक व्याख्या (४), बौद्ध कापालिक मंत्री की चर्या—स्वरूप, आचरण, मुद्रा अथवा वज्रकन्या, नृत्यगीतादि, वज्रकपालचर्या, गम्यागम्यादि भक्ष्याभक्ष्यादि के विचार का निषेध, आदि—की व्याख्या (५), श्मशानभेद (६), अध्यात्मक पुट एवं बाह्यपुट में योगिनियों की स्थिति एवं उनका स्वरूप (७), संध्याभाषा में विभिन्न पारिभाषिक शब्दों के अर्थ (८), हेवज्र का स्वरूप, चक्र का स्वरूप और क्रिया (९), गौर्यादि देवियों का स्वरूप और उनकी स्थिति (१०), मंडल-रचना (११), द्वादशाङ्गुलपुस्तक, भोजन आदि के निर्देश (१२), आदि का विवेचन किया गया है। वस्तुतः इनकी आध्यात्मिक व्याख्या तो कृष्णवज्रपाद लिखित हेवज्रपंजिका अथवा योगरत्नमाला में ही प्राप्त हो सकती है। विस्तारभय से उसे यहाँ उद्धृत नहीं किया जा रहा है। पारिभाषिक शब्दों के विचार में कुछ शब्द देखे जा सकते हैं।

●

१. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग २, पटल ७।

६.

योगरत्नमाला के महत्त्वपूर्ण अंश और उन पर टिप्पणियाँ

१. हेवज्रतंत्र के भगवान् हेवज्र हैं, वज्रधर हैं। भगवान् शब्द की टीका में कहा गया है—

भगा ऐश्वर्यादयो गुणा विद्यन्ते यस्य स भगवान्। तथाचोक्तम्—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य ज्ञानस्य यशसः श्रियः।
रूपस्यार्थप्रयत्नस्य सन्नाम भगं इति श्रुतम्॥

इस प्रसंग में हेवज्रतंत्र में संगीति पद्धति का अनुसरण करते हुए 'योषित् भगेषु विजहार' पद का प्रयोग किया गया है। टीकाकार के अनुसार—'वज्रयोषितां लोचनादीनां भगाः।' आगे चलकर 'भग' शब्द के इस विशिष्ट अर्थ में ही भग के विभिन्न पर्यायवाची शब्दों के भी विशिष्ट अर्थ ही ग्रहण किए जा सकते हैं।[१]

२. चंडाली की व्याख्या

चण्डा प्रज्ञा अंकारः। आलिर्वज्रसत्वो हूंकारः। अंकार-हूंकारौ चंडाली तौ द्वौ एकरसीभूय बिन्दुरूपेण वज्रमणि शिखरशुषिरे नाभौ महासुखरागानलेन ज्वलिता—दहति पञ्चतथागतान् पञ्च स्कन्धान् लोचनादीन पृथव्यादीन दग्धे सति हंश्रवते महासुखचक्रातः शशी बोधिचित्तं॥ अक्षरार्थ व्याख्या—

चण्डा धर्मोदया रक्ता, आलिश्चाद्यक्षरः स्मृतः
ज्वलन्तन्तं समाकुच्य वायुनाभ्राम्य यत्नतः।
ज्ञानानि चक्षुरादीनि पञ्चबुद्धास्समासतः।
पञ्चभूतान् यथात्मानम् दग्ध्वा सत्त्वार्थकृच्छशी॥

सम्प्रदाय व्याख्यता

चण्डा प्रज्ञा वामनाड़ी आलिरूपा उपायो दक्षिण नाड़ी।
ते द्वे गुरूपदेशतः संयोगं गते चंडालीत्युच्यते॥[२]

३. **मृतक**—निरात्मक है। नैरात्म्य धर्मधातु है—

मृतको हि निरात्मकः, निरात्म्यश्च धर्मधातुः। धर्मधातुनिष्ठाश्च डाक-डाकिन्यः।[३]

४. **श्मशान**—नैरात्मक देह (नैरात्मके देहे नाथः परमानन्दमयो विहरति। कथं देहः श्मशानं, श्वसतीत्यनया युक्त्या श्मशानेत्यभिधीयते।)[४]

---

१. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग २, *योगरत्नमाला,* पृ. १०३, प्रथम पटल।

२. *वही,* पृ. ११०, प्रथम पटल।

३. *वही,* पृ. ११४, तृतीय पटल।

४. *वही,* पृ. ११५, तृतीय पटल।

५. **जननीत्यादि**—जननी हितैषिणी, भगिनी वत्सला, नटी पटुप्रचारा, रजकी शुक्लकर्मरता, वज्री नैरात्म्या प्रज्ञा, उपायो हेवज्रः।[१]

६. **जननीत्यादि**—महासुखाकारेण विश्वस्य जननाज्जननी। संवृत्ति, परमार्थ—योर्विभागकथनात् भगिनी, रजकीत्यादि, निरुतर सुखेन रञ्जनात् रजकी, निरुतर-बुद्धगुणानां परिपूर्णात् दुहिता, आदिकार्मिकसत्त्वैः स्थिरीकर्तुं अशक्यत्वात्, नर्तकी, इन्द्रियाणां अगोचरत्वेन डोम्बीशब्देनोच्यते।[२]

७. **मंडल**—मण्डं सारं, इत्युक्तम्। महासुखं ज्ञानं लाति गृह्णातीति, मण्डलं किं तत् पादलेखः। पादांगुष्ठयोदृढाकुञ्चनं, मलनात् मण्डलं उच्यते, मल मल्ल धारणे, धातुः महासुखस्य धारणात् मण्डलं उच्यते, महासुखविधारणोपायश्चायम् उपदेशः।[३]

८. **ऊष्मा**—समाधिमन्त्रजः प्रभावः।[४]

९. **होमेत्यादि**—हेवज्रादिमोक्ष एवास्य सुयोगः। तथैव दृढीकरोति, बाह्यहोमादिः सर्वथा परिहर्त्तव्यः। कुतः यतोऽस्य हेवज्रात्मनो यत् किंचिद् भक्षणं होमः प्रज्ञासेवनं चं योगः। सर्वं कायकर्म तपः डमरुकस्वनिखट्वाङ्गधारणे, अपि मन्त्रध्याने वज्रनृत्यगीते, अपि, मन्त्रध्याने तथा यद एवं करोति तद् एवास्य समयः। यद् एव न करोति स एवास्य संवरः।[५]

१०. **मेदिनी**—निर्माणचक्रम् दर्शयति। पश्चातचक्रं-धर्मचक्रं भृकुटीं सम्भोगचक्रं। सीमान्तं महासुखचक्रं।......प्रेतपक्षः कृष्णपक्षः।......ध्वजं सालम्बनं चित्तं। शस्त्रहतं प्रज्ञा शस्त्रेण छित्वा, एकानेकस्वभावविचारणेन निःस्वभावीकरणं शस्त्रेण हननम्।... अद्वयं इति-सर्वधर्मशून्यता सैव प्रभास्वरमयत्वाद् हेतुः कारणं आदिशब्दात् स्वभावः। शून्यतार्थिता।......कं सुखं पालयतीति नैरात्म्या शून्यकरणयोरुभर्योगः समाधिः ततः।[६]

११. **स्वसंवेद्येत्यादि**—नान्येन कथयते प्रत्यात्मवेद्यं वाक्पथ इति, वाचः पंथा प्रतिपत्ति-र्वाक्पथस्यातीतगोचरः तद्विषयातिक्रान्त इत्यर्थः।[७]

१२. **समस्त वेदसिद्धान्तैः**—वेदाः ऋग्यजुः। सामाथर्वलक्षणाः सिद्धान्ताः तीर्थिकप्रणिताः पुराणादयः। श्रावकपिटकसूत्रान्तादयश्च सिद्धिः पुनर्भवस्यान्त एभिरिति कृत्वा कर्मप्रसराः क्रियातन्त्रादयः एभिरुक्तलक्षणा सिद्धिर्न स्यात्।[८]

१३. **विसुद्धि**—विशुद्धयन्त्यनयेति विशुद्धिःयया सर्वभावः निर्दोषा भवन्ति सा विशुद्धि। ....सर्वेषां भावानां व्यापिनी विशुद्धिः।[९]

---

१. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव, भाग २, *योगरत्नमाला,* पृ. ११६-११७, पञ्चम पटल।
२. *वही,* पृ. ११८, पञ्चम पटल।
३. वही।
४. *वही,* पृ. ११९, षष्ठ पटल।
५. *वही,* पृ. १२०, षष्ठ पटल।
६. *वही,* पृ. १२२-१२३, सप्तम पटल।
७. *वही,* पृ. १२९, अष्टम पटल।
८. वही।
९. *वही,* पृ. १३०, नवम पटल।

१४. षोडशभुजानां तत्त्वं षोडशशून्यता, तदयथा अध्यात्मशून्यता बहिर्धाशून्यता, अध्यात्म-बहिर्धाशून्यता, महाशून्यता शून्यता-शून्यता, स्नेलग्रोव, भाग २, योगरत्नमाला परमार्थशून्यता, संस्कृतशून्यता, असंस्कृतशून्यता, अत्यन्तशून्यता, अनवराग्रशून्यता, अनवकारशून्यता, स्वलक्षण-शून्यता, प्रकृतिशून्यता, सर्वधर्मशून्यता, अभावशून्यता, अभावस्वभावशून्यता, एता एवं भुजा:कृता इत्यर्थः।[१]

१५. विपरीतभावना ह्येषा न ज्ञाता बुद्धतीर्थिकैः—रागेनेति लौकिकरागेण, मुच्यते सहज-रागेण। विपरीतं सपक्षस्यापि विपक्षरूपत्वात्, परमार्थस्तु नैकस्य रागमात्रस्यापि तु सर्वेषां लौकिकधर्माणां न ज्ञातेति, एवं विधा महासुखभावना न ज्ञाता न प्रतीता बुद्धतीर्थिकैः श्रावकादिभिः। कथं ते बौद्धा इति, बुद्ध शास्तारं उपगच्छन्ति, कथं तीर्थिकाः भगवच्छासनसारे वज्रयाने प्रद्वेषात्।[२]

१६. अभिसंबोधिभाषणं—सन्ध्याभाषाम्।[३]

१७. डाकिनीनां इति डै विहाय संगमने धातुरत्र विकल्पितः सर्वाकाशचरी सिद्धिः।[४]

१८. बोलकक्कोलयोग—बोलं महाकरुणामयश्चित्तवज्रः। कक्कोलं सर्वधर्माणां प्रकृतिः। यथोपदेशन् तयोर्योगः संयोगः।[५]

१९. मोहवज्री वज्रा, द्वेषवज्री नैरात्मा मात्सर्यवज्री गुप्तगौरी, रागवज्री वारियोगिनी, ईर्ष्यावज्री वज्रडाकिनी।[६]

२०. कोल्लगिरिः पीठविशेषः। मुम्मुणिः क्षेत्रं बोलकक्कोलेति। तदुपलक्षितयोर्योगि-योगिन्योर्दूरस्थयोरपि मेलकं सूचयति। घण इति निरन्तरं, किपिटं डमरुकम्।...... कालिञ्जराः समयिनः दुन्दुराः असमयिनः।......कोल्लगिरौ शिरसि स्थितोऽहङ्कारो बोलः मुम्मुणि नाभौ, अंकारः कक्कोलः, तयोर्योगात्घणं निरन्तरं, कृपीटं अनाहत-ध्वनिः वाजइ इति समुच्छलति।......कस्तूरिका वेदना, सिह्लकं संज्ञानं कर्पूरं विज्ञानं......मालतीन्धनं संस्कारस्कन्धं। मलयजं नाडीनां मेलकम्। डिण्डिमं सर्वानुपलम्भ समाधिः।[७]

२१. दिव्ययोगिनी सैव नैरात्मा सैव मण्डलचक्रं इति सर्वनाडीसमाजरूपत्वात्।[८]

२२. मण्डलं केन रजसा लेखयेद् इत्याह पञ्चरत्नमयैरुत्तमैः तण्डुलादिभिर्मध्यमैः। श्मशानेष्टकादिभिरधमैः। तन्मध्येति। मण्डलमध्ये नरकं नरकपालं।[९]

२३. मातर इति, चक्षुःश्रोत्रघ्राण जिह्वाकायमनासि। नृत्यगीतवाद्यादिभिर्निर्भरं पूजयेद् तद् एवाह। यदि वा मातेत्यादि मात्रादिशब्दैः पञ्चेन्द्रियाणि, अभिधीयन्ते। तानि

१. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव भाग २, *योगरत्नमाला,* पृ. १३०-१३१, नवम पटल।
२. *वही,* पृ. १४१, कल्प २, पटल २।
३. *वही,* पृ. १४२, कल्प २, पटल ३।
४. *वही।*
५. *वही,* पृ. १४४, कल्प २, पटल ३।
६. *वही,* पृ. १४५, कल्प २, पटल ३।
७. *वही,* पृ. १४५-१४६, कल्प २, पटल ३।
८. *वही,* पृ. १४८, कल्प २, पटल ३।
९. *वही,* पृ. १५३-१५४, कल्प २, पटल ५।

शब्दरूपसादिभिः पञ्चकामगुणैः तर्पयेत् इयं एव हि तत्र स्थानं, देवीनां निरुतरा पूजेति। कथं मात्रादयः चक्षुरादय-इति चेत् तथा चोक्तं बुद्धकपाले योगिनीतन्त्रे, अथातः सम्प्रवक्ष्यामि—

अशुद्धचित्तशोधनात्, भगिनी भवेच्चक्षुर्,
भागिनेयी श्रोत्रं एवच जननी भण्यते घ्राणम्।
रसना दुहिता तथा मनो भवेद् भार्या
षड् एता वरा दिव्या महामुद्राप्रदायिका इति॥[१]

२४. मन्त्रोद्धारमिति, देव्याः प्रश्नगाथा भगवान् आहेति संगीतिकारस्य वचनं शृणु देवीत्यादि भगवतो वचनम्। वैरोचनः प्रवणः उष्माणां चतुर्थकम्। ह-कारः। पुक्कसी ऊकारः। शून्यमनुस्वार स्वाहान्तमिति अन्ते स्वाहाकारः, वर्णाधिप ओं-कारः खेचरी अं-कारः, प्रथमस्य द्वितीयं ख-कारः, द्वितीयस्य तृतीयं ज-कारः वारीति इ-कारः वर्णेश्वर ओं-कारः। पञ्चमस्य तृतीयं ब-कारः, डाकिनी उ-कारः, वर्णज्येष्ठ ओं-कारः। प्रथमस्य प्रथमं क-कारः। वज्रडाकिनी ह्रस्व उ-कारः, अन्तस्थानं द्वितीयं रेफः। तस्यैव तृतीयं ल-कारः, चौरी ए-कारः, चतुर्थस्य तृतीयं द-कारः। अन्तस्थानां चतुर्थं व-कारः ऊष्माणां चतुर्थं ह-कारः, पुक्कसी षष्टस्वरः। पञ्चमस्य द्वितीयकं फ-कारः पञ्चमस्य चतुर्थं भ-कारः। अन्तस्थानां प्रथमो य-कारः। अभ्यन्तर गौरी इ (?) तृतीयस्य प्रथमं ट-पञ्चमस्य तृतीयं बः द्वितीयस्य तृतीयं जः। वह्नि रेफः। चतुर्थस्य प्रथमं तः हुताशनो रेफः, वेताली ऐ, अन्तस्थानं तृतीयं ल, प्रथमस्य प्रथमं क, अन्तस्थानां प्रथमं य, वज्रा आ, चौरी ए, पञ्चमस्य प्रथमं प, नैरात्मा अ, प्रथमस्य प्रथमं क, द्वितीयस्य प्रथमं च, तृतीयस्य प्रथमं ट, चतुर्थस्य प्रथमं त, पञ्चमस्य प्रथमं प, अन्तस्थानं प्रथमं य, ऊष्माणां श, अन्तस्थानां द्वितीयं र, वज्रा आ।[२]

२५. मदनं महासुखोद्भवम्। अङ्ग इति तदर्थं नखक्षताः।[३]

हेवज्रतंत्र की योगरत्नमाला नाम की काण्हपादरचित इस टीका से ऊपर जो अंश उद्धृत किए गए हैं, वे यह स्पष्ट करने में पर्याप्त समर्थ हैं कि हेवज्रतंत्र ने जिस दर्शन, साधन एवं चर्या का विधान किया है, उसमें कई स्तर हैं। पूर्ववर्ती परिच्छेदों में इनका विस्तार किया गया है। चंडाली, मृतक, श्मशान, जननी, भगिनी, नटी, रजकी, वज्री, प्रज्ञा, मंडल, ऊष्मा आदि विभिन्न शब्दों की आध्यात्मिक और दिव्य व्याख्याएँ इस प्रकार कापालिक साधना के विषय में फैली विभिन्न भ्रान्तियों का निराकरण करती हैं और इसकी भी पुष्टि करती हैं कि बौद्धतंत्र साधना में अधिकारभेद का विधान हिन्दू तंत्रों के समान ही था। इन सभी दृष्टियों से उपर्युक्त उपयोगी उद्धरणों का मूल्यांकन एवं उपयोग किया जाना चाहिए।

●

---

१. *हेवज्रतंत्र,* स्नेलग्रोव २, *योगरत्नमाला* पृ. १५५-१५६, कल्प २, पटल ७।
२. *वही,* पृ. १५७-१५८, नवम पटल।
३. *वही,* पृ. १५८, एकादश पटल।

७.

आश्चर्यचर्याचय की टीका में प्राप्त कापालिक सन्दर्भ

सामान्यतया कापालिक साधना के तत्त्व सम्पूर्ण तान्त्रिक बौद्ध साधन एवं दर्शन में बिखरे हुए हैं। इस ग्रंथ के लेखन की योजना में मूलतः कृष्णपाद के वे चर्यापद हैं जिनमें कापालिक सन्दर्भ मिलते हैं। तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य में कापालिक तत्त्वों का सन्धान कृष्णपाद के कापालिकत्व के सम्पोषण एवं समर्थन का सन्धान है। अपभ्रंश के चर्यापदों की संस्कृत टीका में ऐसे अनेक अंश हैं जिनसे तान्त्रिक बौद्ध साधना में विद्यमान कापालिक तत्त्वों का परिचय मिलता है।

१. अन्येषां संप्रदायबहिर्मुखयोगिनीयोगिनां मध्ये कुन्दुरेण द्वीन्द्रियसमापत्तियोगाक्षर-सुखेन क्लेशारिमर्दनाद् वीरोऽहं।[१]

२. हउँ कापालिकः चर्याधरश्च। कं तव सुखं पालितुं समर्थः [इति कापालिकः]। अतएव तवान्तरेण मया कृष्णाचार्येण षटतथागत चक्री कुण्डलकण्ठिका निरंशुचर्या विधृत्य बाह्यमन्त्रतन्त्रनिरपेक्षतया पञ्चवर्ण विहरणं कृतं।[२]

३. खट्वाङ्गमिति खं शून्यता प्रभास्वरेण सहजं संस्पृश्य अनाहतं डमरूशब्दं वीरनादेन शून्यतासिंहनादेन नदितः। कृष्णाचार्यो हि कापालिकः देहनगरिकां प्रविश्य प्रचारेण क्लेशभक्षणादिनयेन एकाकारतया विहरति भ्रमतीति॥ द्वितीयपदेन योगिकालङ्कार-माह। आलि इत्यादि। प्रथमं तावत् योगीन्द्रेण वज्रजापपरिशोधितचन्द्रसूर्यादिकेन घंटानूपुरादि योगिकालङ्कारं कृतमिति॥......चतुर्थपदेन कपालिचर्यामाह। मारीत्यादि। श्वासं पूर्वोक्त मनःपवनं तमधिकृत्य चक्षुरीन्द्रियादिविज्ञानवातं नानाप्रकारं बोद्धव्यं। तं निःस्वभावीकृत्य अविद्यां च मायारूपां प्रज्ञोपायाभेदोपचारेण कृष्णाचार्यःजगति जगदार्थाशयेन वज्रकापालिको भूत्वा भ्रमतीति। तथा च दउड़ीपादः—

प्राणी वज्रधरः कपालवनितातुल्यो जगत्स्त्रीजनः
सोऽहं हेरुकमूर्तिरेष भगवान् यो न प्रभिन्नोऽपि च।
श्रीपद्मं मदनं च गोकुदहनं कुर्वन् यथा गौरवाद्
एतत्सर्वमतीन्द्रियैकमनसा योगीश्वरः सिद्ध्यति॥[३]

४. येन चित्तेन ते बालाः संसारे बन्धनं गताः।
योगिनस्तेन चित्तेन सुगतानां गतिं गताः॥[४]

---

१. *चर्यागीतिकोष,* बागची और शास्त्री, च. सं. ४, सं. टी., पृ. १५।

२. *वही,* च. सं. १०, सं. टी., पृ. ३६।

३. *वही,* च. सं. ११, सं. टी., पृ. ३९-४०।

४. *वही,* च. सं. १२, सं. टी., पृ. ४३।

५. भर्भरि आलिका असदारोपेण भी डोम्बिनि अपरिशुद्धावधूतिका किं कृत्वा त्वया कौ शरीरे लीनं यत् प्रभास्वरं तद् अज्ञानरसेन अन्ते बाह्ये कृतं। क्रं संवृतिबोधिचित्तं पालयतीति कृत्वा कापालिकश्चित्तवज्र आधानं कृतमिति।........

कक्कोलप्रियबोलमेलकतया ऽऽनन्दस्फुरत्कुन्दुराः
सद्यः शोधितशालिलालितकराः कालिञ्जराश्चक्रिणः।
भ्रश्यद्दिव्यसरोजपात्रमदनव्यालुप्तदन्तच्छदाः
प्रेतावासनिवासनित्यरसिकाः केचित् क्वचिद् योगिनः॥[१]

६. यस्य स्वभावो नोत्पत्तिर्विनाशो नैव दृश्यते।
तज्ज्ञानमद्वयं नाम सर्वं संकल्पवर्जितम्॥[२]

१. *चर्यागीतिकोष, बागची और शास्त्री,* च. सं. १८, सं. टी., पृ. ६३।

२. *वही,* च. सं. २२, सं. टी., पृ. ७७।

८.

कापालिक लक्षणों से सम्पन्न कुछ तांत्रिक बौद्ध देवी-देवता

तांत्रिक बौद्ध देव-देवी मण्डल की कल्पना अत्यधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक है। हमारा प्रतिपाद्य तांत्रिक बौद्ध साधन और दर्शन में कापालिक तत्त्वों एवं लक्षणों का अनुसंधान है। इसलिए साधनमाला के विविध साधनों से भी सामग्री एवं प्रमाण एकत्रित किए गए हैं। तांत्रिक बौद्ध ग्रंथों में वज्रयान, कालचक्रयान, पारमितानय, मंत्रनय जैसे कापालिक यान अथवा आम्नाय का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उपास्य कल्पना के प्रकरण में हेरुक का जो स्वरूप-निरूपण किया गया है उसमें कापालिक लक्षणों का आधिक्य है। बौद्ध देव-देवी-मण्डल की व्यवस्था से एक सामान्य परिचय से कापालिक लक्षण-सम्पन्न देवी-देवताओं के स्थान-निरूपण में सुविधा होगी। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने विस्तार से तांत्रिक बौद्ध देवी-देवताओं का स्वरूपण किया है। उनमें से कुछ का अपनी आवश्यकतानुसार परिचय दिया जा रहा है।

१. बौद्ध तंत्रों के अनुसार बौद्ध देवमण्डल के सभी देवता शून्य के ही प्रकाश हैं और तत्त्वत: शून्य हैं। इनके प्रकाश की क्रमश: चार अवस्थाएँ हैं—शून्यताबोधि, बीज अथवा बीज संबंध, बिम्ब, प्रतिमा। इस प्रकाश क्रम से बौद्ध धर्म के प्रतिमाविज्ञान के मूल में सुदृढ़ दार्शनिक भित्ति है। वज्रयान के देवताओं का निवास रूप स्वर्गों में सर्वोच्च अकनिष्ठ स्वर्ग में है। इन शून्यात्मक देवताओं के तीन तत्त्व हैं—शून्य, विज्ञान और महासुख। कभी-कभी ये देवता तथागतसम भी वर्णित होते हैं और तब तथागत से उनका तात्पर्य पंचध्यानी बुद्धों से होता है। प्रयोग रूप में ये देवता पंचस्कंधों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) के मूर्त रूप हैं। इन पाँच तत्त्वों में से किसी एक तत्त्व (अथवा स्कन्ध) का प्रधान होने पर देवताविशेष उस स्कंध के अधिष्ठाता ध्यानीबुद्ध विशेष का उद्‌भव माना जाता है। कलात्मक अभिव्यक्ति में वह देवता उस ध्यानीबुद्ध विशेष को अपने शीर्षभाग पर धारण करता है। इस स्थिति में अन्य ध्यानीबुद्ध शिरोभाग के ऊपर छायामण्डल में प्रदर्शित किए जाते हैं। बौद्ध तंत्र में सभी देवताओं के वर्ण निश्चित हैं जिनका गंभीर आध्यात्मिक वैशिष्ट्य है। प्रत्येक ध्यानीबुद्ध का एक निश्चित वर्ण है और प्राय: इस कुल के सभी देवता उसी वर्ण को धारण करते हैं। कभी-कभी इसके अपवाद भी मिलते हैं। धार्मिक क्रियाओं के वैभिन्य से भी कभी-कभी निश्चित वर्ण से भिन्नता दिखाई पड़ती है। तदनुकूल उनकी मुद्रा आदि में भी अन्तर आ जाता है। अनेक देवता यद्यपि बाह्य आकृति में भयंकर हैं तथापि ये आभ्यन्तर रूप में करुणामय हैं। सौगत मार्ग से पृथक् लोगों को आर्य मार्ग पर लाने के लिए भी इस प्रकार की आकृति की आवश्यकता समझी गई है। यमारि, उच्छुष्म जंभल, महाकाल आदि इसी प्रकार के देवता हैं। इस प्रकार

यह सिद्ध किया जा सकता है कि तांत्रिक बौद्ध मूर्तिपूजक नहीं हैं।[१] डॉ. भट्टाचार्य के इस मत की पुष्टि बौद्ध सिद्धों की उन अपभ्रंश रचनाओं से भी की जा सकती है जिनमें बाह्याचार, मूर्तिपूजन, हवन, तीर्थस्नान आदि का कठोर खंडन किया गया है।[२] बौद्ध तंत्र के अनुसार मंत्री अथवा साधक बोधिसत्व स्थानीय होता है। बोधिचित्त की शून्य से अभिन्नता साधित होने पर क्रमशः वही देवता के रूप में प्रकाशित होता है और बोधिचित्त उससे अभिन्न हो जाता है। ऐसा होने पर साधक में भी उसी शक्ति का विकास होता है जो देवता में होती है और वह भी वही कार्य सम्पन्न करता है जो देवता करता है।[३] भावना, साधना, सिद्धिविशेष और आवश्यकतानुसार बौद्ध मूर्तिकारों ने अपनी कल्पना के योग से विविध देवियों और देवताओं के मुख, भुजा, चरण आदि में अनेक परिवर्तन-परिवर्द्धन किए हैं और इस प्रकार एक ही देवता के अनेक रूपों की अवतारणा हुई है।[४]

२. बौद्ध देववाद आठवीं शताब्दी के बाद क्रमशः बहुदेववाद के रूप में विकसित होने लगा। तांत्रिक बौद्ध पूजकों ने इस दोष का अनुभव किया क्योंकि तत्कालीन आस्तिक दर्शन एकेश्वरवादी रूप ग्रहण कर रहे थे। उन लोगों ने इस दोष का शोधन वज्रधर अथवा आदिबुद्ध सिद्धांत के द्वारा किया। वज्रधर भावना का मानवीकृत रूप में आदिबुद्ध के रूप में विकास लगभग १०वीं शताब्दी में हुआ। वज्रसत्व अक्षोभ्य से विकसित वज्रपाणि बोधिसत्व का ही विकास है। कभी-कभी वज्रधर और वज्रसत्व संबंधी धारणाओं का मिश्रण भी हो गया है; किन्तु सर्वत्र वज्रधर आदिबुद्ध के रूप में नहीं स्वीकार किए गए। आदिबुद्ध सिद्धांत के पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने पर ध्यानी बुद्धों में से ही किसी एक को आदिबुद्ध के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। कुछ ने वज्रसत्व को ही आदि बुद्ध माना और कुछ के अनुसार बोधिसत्व, समंतभद्र और वज्रपाणि भी आदि बुद्ध के रूप में स्वीकार किए जाने लगे।[५]

ध्यानीबुद्ध भी एक प्रकार के बुद्ध हैं जिन्हें बोधिसत्वावस्थाओं से होकर बुद्धत्व तक पहुँचने की आवश्यकता नहीं होती। वे बुद्ध से कम भी नहीं हैं और सदैव शान्तिपूर्ण ध्यान में लीन रहते हुए सृष्टि-कार्य से अपने को मुक्त रखते हैं। ध्यानीबुद्ध सिद्धांत का पुरस्करण सर्वप्रथम डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार गुह्यसमाज में तीसरी शताब्दी में हुआ।[६] इस मत को विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया।[७] यह संभव है कि बुद्ध की विविध मूर्तियों में अभिव्यक्त पंचमुद्राओं के आधार पर पंच ध्यानीबुद्धों का विकास हुआ हो। तांत्रिक बौद्ध स्रोतों के अनुसार पंचस्कंधों की नित्यता ही पंच

---

१. इं. बु. ए., बी. भट्टाचार्य, पृ. १०९-११५।
२. इस ग्रंथ का 'साधन' संबंधी परिच्छेद द्रष्टव्य।
३. इं. बु. ए., पृ. ११५।
४. *वही,* पृ. १२७।
५. *वही,* पृ. १२७-१२८।
६. *वही,* पृ. १२८-१२९।
७. द्रष्टव्य, इस ग्रंथ के तृतीय परिच्छेद का 'बौद्ध तंत्र का विकास' प्रकरण।

क्रम संख्या	स्कंध	ध्यानीबुद्ध	कुल	वर्ण	मुद्रा	वाहन	चिह्न/प्रतीक	बोधिसत्त्व	शक्ति
१.	विज्ञान	अक्षोभ्य	द्वेष	नील	भूस्पर्श	हस्ति	वज्र	वज्रपाणि	लोचना
२.	संस्कार	अमोघसिद्धि	समय	हरित	अभय	गरुड	विश्ववज्र	विश्वपाणि	आर्यतारा
३.	संज्ञा	अमिताभ	राग	रक्त	समाधि	मयूर	पद्म	पद्मपाणि	पाण्डरा
४.	वेदना	रत्नसंभव	चिंतामणि	पीत	वरद	अश्व	मणि (रत्न)	रत्नपाणि	मामकी
५.	रूप	वैरोचन	मोह	उज्ज्वल	धर्मचक्र	मकर	चक्र	समंतभद्र	वज्र-धात्वीश्वरी[१]

१. इं. बु. ए., पृ. १३० तथा आगे।

ध्यानीबुद्धों का मूल है। छठें ध्यानीबुद्ध को सामान्यतया पंच ध्यानीबुद्धों के पुरोधा के रूप में मान्यता दी गई। इसीलिए वे वज्र और घंटा प्रतीकों को धारण करते हैं। ये ध्यानीबुद्ध बौद्ध देवी-देवताओं के विविध कुलों के प्रजापति के रूप में स्वीकृत हैं। उनके एक-एक बोधिसत्व और शक्ति हैं जिनके माध्यम से वे अपने कलों को अस्तित्त्व प्रदान करते हैं। उनका परिचय निम्न सारिणी से मिलता है—

४. विज्ञान स्कंध एवं द्वेष कुल के ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य की तथागतों में प्रथम गणना होती है। इस कुल की शक्ति लोचना है। अक्षोभ्य से जिन देवी-देवताओं का उद्गम हुआ है, उनमें प्रमुख हैं—हेरुक, हयग्रीव और यमारि। इनका वर्ण नील है। यह कुल क्रूर देवताओं और कार्यों से सम्बद्ध है। इस कुल के देवताओं और देवियों के सामान्य लक्षण हैं—भयंकर रूप, विवृत मुख, नग्न शरीर, त्रिनेत्र, उद्गत जिह्व, मुंडमाल-धारण, कपालधारण, व्याघ्रचर्म और नग्नभूषणधारण। हेवज्रतंत्र में जिस प्रमुखतम देवता का उपास्य के रूप में वर्णन हुआ है, वे हेरुक हैं जो बौद्ध देवमण्डल में द्वेष कुल के सर्वाधिक प्रिय और सर्वाधिक शक्तिशाली देवता हैं। इनके विविध रूप हैं, जैसे बुद्धकपाल, स्वर, वज्रडाक, सप्ताक्षर और महामाया। द्विभुज हेरुक शव पर अर्द्धपर्यंक मुद्रा में नृत्य करते हैं और दोनों हाथों में वज्र और नररक्तपूरित कपाल धारण करते हैं। उनके वामस्कंध से फहराती पताका से युक्त एवं नरमुण्ड से मण्डित खट्वांग यज्ञोपवीत की तरह लटकता रहता है। इस द्विभुज रूप में हेरुक कर्त्रिधारिणी शक्ति से संपरिष्वक्त रहते हैं। इनका चतुर्भुज रूप भी युगनद्ध मुद्रा में प्रत्यक्षीकृत होता है और वज्र, खड्ग, खट्वांग और रत्न धारण किए रहता है। जब यह रूप युगनद्ध मुद्रा में चित्रसेना द्वारा आलिंगित होता है और खट्वांग, कपाल, कर्त्तरी और डमरुक धारण करता है, तो वह बुद्धकपाल नाम से सम्बोधित होता है। यह युगल रूप तीन पुटों में चौबीस योगिनियों द्वारा आवृत्त रहता है। जब हेरुक वज्रवाराही के साथ रहते हैं तो वज्रडाक नाम से सम्बोधित होते हैं और संवर तथा सप्ताक्षर नाम के दो रूपों को भी ग्रहण करते हैं। द्विभुज संवर आलीढ़ मुद्रा में खड़े होकर कालरात्रि को पदाक्रान्त करते हैं। ये वज्र और घण्टा धारण करते हैं जबकि इनकी शक्ति वज्रवाराही घण्टा और रक्तपूरित कपाल धारण करती है। सप्ताक्षर त्रिमुख और षड्भुज हैं। ये भी शक्ति वज्रवाराही से आलिंगित हैं। ये तीनों वाम भुजाओं में वज्र, घण्टा और नरचर्म धारण करते हैं और दक्षिण भुजाओं में कपाल, खट्वांग और त्रिशूल। इनकी शक्ति वज्रवाराही भी इन्हीं चिह्नों को धारण करती है। वृत्ताकार रूप में छह देवता इन्हें परिवृत करते हैं। जब हेरुक वज्रयोगिनी, जिसे वज्र डाकिनी भी कहते हैं, के साथ रहते हैं, उनका नाम महामाया होता है। चतुर्मुख, चतुर्भुज महामाया अर्द्धपर्यंक मुद्रा में नृत्य करते हैं। ये अपनी भुजाओं में कपाल, बाण, खट्वांग और धनुष धारण करते हैं। इनकी प्रज्ञा बुद्धडाकिनी भी इन्हीं चिह्नों और रूप को धारण करती है। यह युगल रूप चार दिक्कोणों पर चार देवियों से आवृत्त रहता है।[१]

द्वेष कुल के दूसरे प्रमुख देवता यमारि हैं। विभिन्न कर्मों के अनुसार ये भिन्न-भिन्न वर्णों से सम्पन्न होकर भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर उन्मुख रहते हैं। जैसे शान्ति में

१. इं. बु. ए., पृ. १३१-१३२।

उज्ज्वल वर्ण और पूर्व दिशा, पौष्टिक में पीतवर्ण और उत्तर दिशा, वश्य में रक्तवर्ण और पश्चिम दिशा और आकर्षण में नीलवर्णात्मक होकर दक्षिण दिशा की ओर उन्मुख रहते हैं। एकाकी अथवा युगनद्ध दोनों रूपों में इनकी साधना का विधान है। इन्हें वृषभमुख और वृषभारूढ़ होना चाहिए। रक्तवर्ण यमारि प्रत्यालीढ मुद्रा में वाम भुजा में रक्तपूरित कपाल और दक्षिण भुजा में मुंडमंडित श्वेत दण्ड धारण करते हैं। ये नग्नभूषणालंकृत, पिंगोर्द्ध्वकेश और व्याघ्रचर्मधारी हैं। इन्हें आलिंगित किए हुए इनकी शक्ति प्रत्यालीढ मुद्रा में खड़ी रहती है, द्विभुजा, व्याघ्रचर्मावृता और मदमत्त रहती है।[१]

द्वेष कुल की देवियों में एकजटा और नैरात्मा के नाम विशिष्ट हैं। ये दोनों ही देवियाँ नीलवर्णा, भयंकरा, ज्वालावत ऊर्ध्वकेशा, श्वदन्ता, व्याघ्रचर्मावृता, रक्तत्रिनेत्रा और उद्गत दन्ता हैं। द्विभुजा एकजटा दक्षिण भुजा में कर्त्तरी और वाम भुजा में कपाल धारण करती है। चतुर्भुजा होने पर भी एक हाथ में कपाल धारण करती है। महाचीनतारा भी एकजटा का ही एक रूप है। इस रूप में भी वह एक भुजा में कपाल धारण करती है। इसी प्रकार एकजटा अष्टभुजा और चौबीस भुजा वाले रूपों में भी एक भुजा में कपाल धारण करती हैं। नैरात्मा शव के ऊपर अर्द्धपर्यंकनृत्यस्था है। इनकी भी दक्षिण भुजा में कर्त्तरी और वाम भुजा में कपाल रहता है और एक खट्वांग इनके वामस्कंध से लटकता रहता है।[२]

५. दूसरे कुल मोह के अधिष्ठाता देवता वैरोचन हैं। इस कुल की दो प्रमुख देवियाँ मारीची और वज्रवाराही हैं। द्वादशभुजा मारीची अपनी छः वाम भुजाओं में वक्षोन्मुख तर्जनी, अशोक शाखा, अंकुश, कपाल, ब्रह्ममुंड और कपाल धारण किए रहती हैं। दक्षिण भुजाओं में शूचिका, अंकुश, भिंडिपाल, खड्ग, कर्त्तरी और वज्रमंडित दण्ड धारण करती हैं। मारीची विष्णु, शिव और ब्रह्मा को पादाक्रान्त किए हुए हैं। द्वादशभुजा वज्रधात्वीश्वरी मारीची अपनी छह दक्षिण भुजाओं में खड्ग, मूसल, बाण, अंकुश, वज्र और परशु धारण करती है और वाम भुजाओं में पाश, कपाल, अशोकशाखा, ब्रह्ममुण्ड, धनुष और त्रिशूल। इसी प्रकार ओडियान मारीची भी एक दक्षिण भुजा में अंकुश के स्थान पर चक्र और एक वाम भुजा में केवल कपाल के स्थान पर खट्वांग-कपाल धारण करती हैं। वज्रवेताली भी एक दक्षिण भुजा में स्वस्तिकवत वज्र या वज्र धारण करती हैं और एक वाम भुजा में कपाल या खट्वांग-कपाल धारण करती हैं।[३]

मोह कुल की दूसरी महत्त्वपूर्ण देवी वज्रवाराही है। इसके तीन रूप हैं। सभी रूपों में यह भयंकरा, त्रिनेत्रा, प्रकीर्णकेशा, षड्मुद्रा, प्रत्यालीढ़ मुद्रा और मुंडमाला धारण करती है। पूर्णतया नग्ना, नृत्यरता, शवारूढ़ा रहती है। यह मंडल के चार देवियों—डाकिनी, लामा, खंडरोहा और रूपिणी से आवृत रहती है। प्रथम रूप में यह प्रत्यालीढ़ मुद्रा में खड़ी रहती है। दक्षिण भुजा में तर्जनी के साथ वज्र और वाम भुजा में कपाल धारण करती है, जबकि खट्वांग वामस्कंध से लटकता रहता है। दूसरे रूप में यह शव के वक्ष पर अर्द्धपर्यंक मुद्रा में नृत्य करती है। प्रहारोन्मुख मुद्रा में दक्षिण भुजा

१. *इं. बु. ए.*, पृ. १३१-१३२।

२. *वही*, पृ. १३४-१३५।

३. *वही*, पृ. १३६-१३९।

में कर्त्तरी लिए रहती है और वाम भुजा में रक्तपूर्ण कपाल धारण किए रहती है। खट्वांग वाम स्कंध में रहता है। तृतीय रूप चतुर्भुज है जिसे आर्यवज्रतारा कहते हैं। दो दक्षिण भुजाओं में वज्र और अंकुश और दो वाम भुजाओं में तर्जनीयुक्त कपाल और पाश धारण करती है। यह देवी एकमुखा, त्रिनेत्रा, भयंकरा, वक्रभृकुटि, कठोर मांसपिंड (Admantine excrescence) उद्गता जिह्वा, दन्त और उदर वाली है। यह आलीढ मुद्रा में शव पर खड़ी रहती है और वामस्कंध से खट्वांग लटकता रहता है।[१]

राग कुल के ध्यानी बुद्ध अमिताभ हैं। इस कुल की देवियों में कुरुकुल्ला सर्वप्रमुख हैं। चतुर्भुजी ओडियान कुरुकुल्ला के नाम से प्रसिद्ध है। यह रूप भयंकर मुंडमालायुक्त, पंचकपालांकित शीर्ष, उद्गत जिह्वादंता, व्याघ्रचर्मावृता, ज्वालाकृति पिंगोर्द्ध्वकेशा है। चार भुजाओं में से प्रथम युग्म पुष्पधनु पर रक्तपद्मशर पूरी तरह चढ़ाने में व्यस्त है और दूसरा युग्म पुष्पांकुश और रक्तकमल धारण किए हुए है। इस रूप में यह अर्द्धपर्यंक मुद्रा में शवासनस्थ है।[२]

६. चिंतामणि कुल के ध्यानीबुद्ध रत्नसंभव हैं। इस कुल के जंभल और देवी वसुधारा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जंभल एकाकी और युगनद्ध दोनों ही रूपों में प्रदर्शित हैं। जंभल का भयंकर रूप उच्छुष्म जंभल है। इसमें ये प्रत्यालीढ मुद्रा में खड़े रहते हैं जिसमें इनका वामपद हिन्दू देवता कुबेर के शिरोभाग पर प्रतिष्ठित रहता है और कुछ मुड़ा हुआ दक्षिण पद उसके दोनों पैरों को आक्रान्त किए हुए है। इनकी आकृति भयंकर, उदग्र-उदर, नग्न, दन्तधारी, नागभूषणालंकृत है। ये वक्ष पर रक्तरंजित कपाल धारण करते हैं और नेत्रत्रय से उत्सुकतापूर्वक उसे देखते हैं। इनकी वामभुजा नकुल को अपनी जाँघों के पास ग्रहण किए हुए हैं।[३]

तांत्रिक बौद्ध देवताओं के पंचकुलों के कुछ कपाललक्षणान्वित देवी-देवताओं के इस संक्षिप्त परिचय से यह प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है कि तांत्रिक बौद्ध साधना में कापालिक लक्षण बड़े व्यापक रूप में फैले हुए हैं। ललितविस्तर में प्राप्त उल्लेख के प्रकाश में पहले यह विचार किया गया है कि उस काल (लगभग ५वीं शती) में ही, अधिक संभावना है, बौद्ध साधना में कापालिक साधना का प्रवेश हो गया था जिसे तत्कालीन ललितविस्तरवादियों ने घृणा की दृष्टि से देखा था और वैसा आचरण करने वालों को मूर्ख समझा था। बाद में भयंकर शोणिताहारी, क्रोधी स्वभाव के दिखने वाले देवताओं की संख्या बढ़ने पर कापालिक लक्षणान्वित देवता कुछ वैलक्षण्यसम्पन्न नहीं रहे। वैसे प्राचीन बौद्ध साधना में शव और श्मशान ध्यान में सहायक माने जाते रहे हैं। साधनमाला के अंशों के साथ इस विवरण का समन्वय कर उपयोग करने से पूर्व परिच्छेदों की स्थापनाओं को अधिकाधिक समर्थन मिलेगा।

●

१. इं. बु. ए., पृ. १३९-१४०।
२. *वही,* पृ. १४१-१४२।
३. *वही,* पृ. १४३-१४४।

उपसंहार

तांत्रिक बौद्ध साधना और कापालिक तत्त्वों के संधान से एक प्रायः अल्पज्ञात साधना को विस्तार से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। हेवज्रतंत्र और उस पर कृष्णपाद की लिखी संस्कृत टीका का महत्त्व सामान्यतया तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य के लिए तो है ही, साथ ही ये बौद्धों की कापालिक साधना को उजागर करने के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः यह ग्रंथ हेवज्रतंत्र और उसकी टीका का ही कापालिक सरलीकरण है। उसके कापालिक तत्त्वों को विस्तार से प्रकाशित कर यह स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि तांत्रिक बौद्ध कापालिक साधना भी करते थे और उनके देवमण्डल में अनेक देवी और देवता कापालिक लक्षणों से सम्पन्न थे और उनकी पूजा-उपासना भी कापालिक तत्त्वों से ही होती थी। उनके उपास्य, उपासना-साधना, साधनतत्त्व, साधनास्थल, उपास्य-उपासक-उपासिका की वेश-भूषा, चिह्नास्त्र आदि इसे प्रकाशित करते हैं।

सामान्यतया कापालिक साधना का नाम लेते ही पढ़े-लिखे लोगों में एक विलक्षण प्रकार का भयमिश्रित आश्चर्य व्याप्त हो जाता है। घृणा भी कभी-कभी व्यक्त हो जाती है। हमारा विश्वास है कि इस प्रकार की साधना के वास्तविक स्वरूप के संबंध में अंधविश्वास अधिक है। एक व्यवस्थित साधना का मर्यादा-सम्पन्न रूप कापालिकों में प्राप्त है। इस प्रकार की साधना का मूलाधार अधिकारभेद, भावत्रय और सप्ताचार है। अधिकार के आधारभूत नियम का उल्लंघन और तिरस्कार करने के कारण ही तांत्रिक साधना के प्रति निंदनीय धारणाएँ लोगों में व्याप्त हैं। व्यक्ति की शक्ति के नियमन और समुन्नयन का जो विधान इस साधन में उपलब्ध है, वह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए मंगलकर है, किन्तु सुविधाभोगी और भोगी को ही योग समझने वाले अनधिकारी लोगों से अहित और अमंगल ही होता है।

कृष्णपाद बौद्ध थे। कान्हुपा नाथ सम्प्रदाय में भी मान्य है। 'बामारग' आधे सम्प्रदाय के रूप में नाथ सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त है। जालधर और कनहुपा के नाथ-सिद्धत्व के विषय में यहाँ विचार नहीं किया गया है किन्तु यह अवश्य बताया गया है कि प्राचीन शैव कापालिकों का पुष्कल प्रभाव बौद्ध तांत्रिकों पर अवश्य पड़ा था। इन दोनों महिमान्वित सिद्धों की नाथपंथी रचनाएँ अलभ्य हैं। कथाएँ इनका नाथों से संबंध तथा नाथ सम्प्रदाय में इनका अन्तर्भाव प्रमाणित करती हैं।

इस समय उपलब्ध सामग्री के आधार पर इनका बौद्ध कापालिकत्व प्रमाणित करने के पक्ष में अपभ्रंश रचनाएँ तथैव संस्कृत रचनाएँ पर्याप्त हैं। 'बुद्धकपालतंत्र' मूलतः अलभ्य है; किन्तु उसकी टीका प्राप्त है। अप्राप्त के प्राप्त होने पर बौद्धों के

कापालिकत्व के विषय में कुछ और कहने का अवसर आएगा। इस समय तो इतना ही कहा जा सकता है कि आचार्य सरह और कंबल की शिष्य परम्परा में कापालिक साधना का क्रमशः विकास हुआ और उसका परिपाक कृष्णपाद में दिखाई पड़ा। हेवज्रतंत्र, उसकी संस्कृत टीका योगरत्नमाला और कृष्णपाद के अपभ्रंश में लिखित चर्यापद इसके प्रमाण हैं। तांत्रिक बौद्धों के बहुत से शब्द सामान्य अर्थ में उत्तेजक हैं; किन्तु साधनात्मक अर्थोद्घाटन मिलता है। यदि उन्हें एकत्रित किया जाए तो निश्चय ही कापालिकों के संबंध में फैले अनेक भ्रमों का निराकरण हो जाएगा।

●

संदर्भ-साहित्य

१. अतिश एंड टिबेट, श्री अलक मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९६७।
२. अद्वयवज्रसंग्रह, सं. म. म. हरप्रसाद शास्त्री, गायकवाड ओरियंटल सिरीज, बड़ौदा, १९२७।
३. अद्वयसिद्धि, से. कु. जे. शेंड्जे, ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९६४।
४. अभिधर्मकोष, वसुबन्धु प्रणीत, टीकाकार राहुल सांकृत्यायन, काशी, सं. १९८८।
५. आउटलाइंस ऑव महायान बुद्धिज्म, डी.टी. सुजुकि, लंदन, १९०७।
६. ऑन सम ऐस्पेक्ट्स ऑव दि डॉक्ट्रिस ऑव मैत्रेयनाथ एंड असंग, डॉ. जी. सी. तुसी, कलकत्ता, १९३०।
७. ऑब्सक्योर रेलिजस कल्ट्स, डॉ. शशिभूषण दासगुप्त, कलकत्ता, १९५०।
८. इंडियन फिलॉसोफी, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, वॉ. १, १९२७; वॉ. २, १९५१।
९. इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, १९२५, १९२८, १९३१, १९३३-१९३५, १९३९, १९५१।
१०. इनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन एंड एथिक्स, जेम्स हेस्टिंग्स, वॉ. १२, एडिनवर्ग, १९२१ तथा वॉ. ९।
११. ए कंप्लीट कैटलाग ऑव दि टिबेटेन बुद्धिस्ट कैनंस, सं. प्रो. हकुजा उइ, प्रो. मुनेतास सुजुकि, प्रो. यन. शो. कनकुरा, प्रो. तोकन तादा, तोक्यो।
१२. ए हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलॉसोफी, डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, वॉ. १, १९२२, १९६९।
१३. ए हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, विंटरनित्स, वॉ. २, कलकत्ता, १९३३।
१४. ऐन इंट्रोडक्शन टु तंत्रशास्त्र, सर जान उडरफ, मद्रास, १९५२।
१५. ऐन इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म, डॉ. शशिभूषण दासगुप्त, कलकत्ता, १९५०।
१६. ऐन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य, ऑक्सफोर्ड, १९३२।
१७. ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑव बेंगाली लैंग्वेज, डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी, कलकत्ता, प्रथम भाग, १९२६।
१८. काश्मीर शैविज्म, श्री जगदीशचन्द्र चटर्जी, भाग १, श्रीनगर, १९१४।
१९. कौलज्ञाननिर्णय, संपा. डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता, १९३४।
२०. गंगा पुरातत्वांक।
२१. गुह्यसमाजतंत्र, सं. डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य, ओरियेंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३१।

२२. चर्यागीतिकोष, सं. डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची तथा श्री शांतिभिक्षु शास्त्री, शांति निकेतन, १९५६।
२३. चित्तविशुद्धिप्रकरण ऑव आर्यदेव, सं. प्रभुभाई भीखाभाई पटेल, विश्वभारती, १९४९।
२४. जर्नल ऑव एशियाटिक सोसाइटी ऑव बेंगाल, १८९८ ई., वॉ. १, पार्ट २।
२५. जर्नल ऑव दि डिपार्टमेंट ऑव लेटर्स, वॉ. २८, कलकत्ता, १९३५।
२६. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९१५।
२७. झा रिसर्च इंस्टीट्यूट जर्नल, वॉ. २, पार्ट १, १९४४।
२८. टिबेट हाउस म्यूजियम, कैटलॉग इनागुरल एक्जिवीशन, १९६५, नई दिल्ली।
२९. टू वज्रयान वर्क्स, सं. डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य, बड़ौदा, १९२९।
३०. तत्त्वसंग्रह, शांतरक्षित रचित, सं. डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य, बड़ौदा, वॉ. १, २, अंग्रेजी अनुवाद—गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, १९३७।
३१. तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, ना. प्र. सभा, १९५८।
३२. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, म. मं. डॉ. गोपीनाथ कविराज, पटना, १९६३।
३३. तिब्बत में बौद्ध धर्म, राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९४८।
३४. तेंजुर, नार्थंग संस्करण।
३५. दि इंट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट इकॉनोग्राफी, डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९६३।
३६. दि एटिफाइव महासिद्धज, टोनी स्किमिड, स्टॉकहोम, १९५८।
३७. दि कापालिकाज एंड कालामुखण (टू लॉस्ट शैवाइट सेक्ट्स), डेविड एन. लारेंजेन, कैलिफोर्निया, १९७२।
३८. दि ग्रेट लिबरेशन (महानिर्वाणतंत्र), आर्थर एवलेन, चतुर्थ संस्करण, मद्रास, १९६३।
३९. दि थ्योरी एंड प्रैक्टिस ऑव मंडल, डॉ. ग्विसेप तुसी, लंदन, १९७१।
४०. दि धम्मपद, सं. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, ऑक्सफोर्ड, १९५०।
४१. दि फिलास्फिकल स्टडी ऑव मिस्टिसिज्म, बेनेट, ऑक्सफोर्ड, १९३१।
४२. दि सर्पेंट पॉवर, सर जान उडरफ, मद्रास, १९५३।
४३. दि हेवज्रतंत्र, ए क्रिटिकल स्टडी, डी. एल. स्नेलग्रोव, पार्ट १, २, न्यूयॉर्क, १९६४।
४४. दीघनिकाय, पालि, टेक्स्ट सोसाइटी, टी. डब्ल्यू राइज डेविड्स, वॉ. १, २, ३, लंदन, १८९०।
४५. दीघनिकाय, राहुल सांकृत्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३६।
४६. दोहाकोष, सं. डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३५।

४७. दोहाकोष, सिद्ध सरहपाद कृत, सं. राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५७ ई.।
४८. नाथ संप्रदाय, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५०।
४९. नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधनाप्रणाली (बंगला), डॉ. कल्याणी मल्लिक, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, १९५०।
५०. पुरातत्व निबन्धावलि, राहुल सांकृत्यायन, इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, १९३७।
५१. पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट, मणीन्द्रमोहन बसु, कलकत्ता, १९३०।
५२. प्राचीन बांगला साहित्येर इतिहास (बंगला), डॉ. तमोनाशचंद्र दासगुप्त, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५१।
५३. प्रिंसिपुल्स ऑव तंत्र, आर्थर एवेलेन, मद्रास, १९५२।
५४. फिलॉसोफी ऑव हिन्दू साधना, श्री नलिनीकांत ब्रह्म, लंदन, १९३२।
५५. बुद्धिज्म ऑव टिबेट आर लामाइज्म, बेंडेल, कैंब्रिज, १९७१।
५६. बुद्धिज्म, मोनियर विलियम्स, वाराणसी, १९६४।
५७. बृहत्सूचीपत्रम्, बौद्धविषयक सप्तम भाग, तृतीय खण्ड, सं. पं. बुद्धिसागर शर्मणः, काठमांडू, २०२३।
५८. बौद्ध गान ओ दोहा, सं. म. म. हरप्रसाद शास्त्री, (बंगाक्षरों में), बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, द्वितीय मुद्रण, भाद्र, बंगाब्द, १३५८।
५९. बौद्ध दर्शन, पं. बलदेव उपाध्याय, बनारस, १९४६।
६०. बौद्ध दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, प्रयाग, १९४८।
६१. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पं. बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, १९५४।
६२. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, डॉ. गोविन्दचंद्र पांडेय, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९६३।
६३. बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पटना, १९५६।
६४. बौद्ध सिद्धों के चर्यापद, पं. परशुराम चतुर्वेदी, वाराणसी, १९६९।
६५. भारतीय दर्शन, पं. बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, १९६६।
६६. भारतीय संस्कृति और साधना, म. म. डॉ. गोपीनाथ कविराज, पटना, भाग १, १९६३, भाग २, १९६४।
६७. मज्झिमनिकाय, हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ, वाराणसी, बुद्धाब्द, २४७७, १९३३ ई.।
६८. मनुस्मृति, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९५३।
६९. महानिर्वाणतंत्र, हरिहरानंदनाथ भारती विरचितया टीकया सहितम्, कलकत्ता, १८८४।
७०. महायान, भदंत शांतिभिक्षु शास्त्री, कलकत्ता, विश्वभारती, प्रथम संस्करण।

७१. मॉडर्न बुद्धिज्म एंड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा, नगेन्द्रनाथ बसु, इंट्रो. म. म. हरप्रसाद शास्त्री, कलकत्ता, १९११।

७२. मानमेयोदय, नारायण रचित, सं. सी. कुन्हनराजा तथा एस. एस. सूर्यनारायण शास्त्री, आड्यार, १९३३।

७३. मिस्टिक टेल्स ऑव लामा तारानाथ, डॉ. भूपेन्द्रनाथ दत्त, कलकत्ता, १९४४।

७४. मिस्टिसिज्म, एफ. सी. हैपोल्ड, पेंगुइन बुक्स, १९६४।

७५. मिस्टिसिज्म इन इंगलिश लिटरेचर, सी. एफ. ई. स्पर्जन, कैंब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, १९१३।

७६. मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति, चन्द्रकीर्ति, एल. एल. बी. पुसि, पीटर्सबर्ग, १९०३।

७७. मैन्युएल ऑव बुद्धिज्म, एच. कर्न, १८९६।

७८. युगनद्ध (दि तांत्रिक व्यू ऑव लाइफ), डॉ. हर्बर्ट बी. ग्वेंथर, बनारस, १९५२।

७९. योगिसम्प्रदायाविष्कृति, चन्द्रनाथ योगी, अहमदाबाद, १९२४।

८०. वसंततिलकम्, राष्ट्रीय अभिलेखालय, काठमांडू, तृ. ५९८ संख्यक हस्तलेख।

८१. विसुद्धिमग्ग, हिन्दी अनुवाद, भिक्षु धर्मरक्षित, सारनाथ, बुद्धाब्द २५००।

८२. विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ७, चैत्र २०२३ से फाल्गुन २०२४।

८३. शिक्षासमुच्चय, शांतिदेव रचित अंग्रेजी अनुवाद, सेसिल बेंडेल।

८४. शिक्षासमुच्चय कारिका, शांतिदेव रचित, सं. डॉ. लालमणि जोशी, मूलगन्धकुटी विहार, सारनाथ, वाराणसी, १९६५।

८५. शैव सेक्ट्स इन नॉर्दर्न इंडिया, डॉ. वी. एस. पाठक, वाराणसी, १९६०।

८६. श्री चक्रसंभारतंत्र, तांत्रिक टेक्स्ट्स, जेनरल एडीटर-आर्थर एवेलेन, एडीटर-काजी दवासम दुप।

८७. षट्चक्रनिरूपण, रामवल्लभ कृत टीका, तांत्रिक टेक्स्ट्स, वॉ. २, संपा. तारानाथ विद्यारत्न, लंदन, १९४१।

८८. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, मोनियर विलियम्स, लंदन, १९५६।

८९. सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रम्, संपादक एवं अनुवादक—डॉ. राममोहन दास, पटना, १९६६।

९०. साधनमाला, सं. डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य वॉ. १,१९२५, वॉ. २,१९२८, बड़ौदा।

९१. सिद्ध साहित्य, डॉ. धर्मवीर भारती, इलाहाबाद, १९५५।

९२. सिस्टम्स ऑव बुद्धिस्टिक थॉट, यामाकामि सोजन, कलकत्ता, १९१२।

९३. सेकोद्देश टीका, नाडपाद रचित, सं. एम. ई. केरेल्ली, बड़ौदा, १९४१।

९४. स्टडीज इन दि तंत्रज, डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची, पार्ट १, कलकत्ता, १९३९।

९५. स्टडीज इन दि बुद्धिस्टिक कल्चर ऑव इंडिया, डॉ. लालमणि जोशी, बनारस, १९६७।

९६. स्टडीज इन लंकावतारसूत्र, डी. टी. सुजुकि, लंदन, १९३०।

९७. हिन्दी काव्यधारा, सं. राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९४५।
९८. हिन्दुइज्म एंड बुद्धिज्म, सर चार्ल्स इलियट, वॉ. १ तथा २, १९२१।
९९. हिस्टॉरिकल स्टडीज ऑव दि टर्क्स हीनयान एंड महायान, आर. किमुर, कलकत्ता, १९२७।
१००. हिस्ट्री ऑव बेंगाल, सं. डॉ. आर. सी. मजुमदार, भाग १।
१०१. हेवज्रतंत्र, हस्तलेख, राष्ट्रीय अभिलेखालय, काठमांडू, सं. च. ६।

अनुक्रमणिका

अ

अंकार—१६८।

अंतरपा—१३।

अंतरिक्षनारायण—१८।

अंत:साक्षात्कार—१९९।

अंतस्साधना—५९, १४३, १८२, १८४, १८८, १९१, १९३, २०९।

अंधक—४२, ४३।

अकनिष्ठ लोक—८२, १४९; स्वर्ग—२४२।

अकुलवीरतंत्र—६४।

अकुशल कर्म—७८, ८२, १२७, १३४।

अक्षर—११३, १५६, १६९, ९८७।

अक्षोभ्य—५३, ६२, ६९, १०३, १०९, १३८, १५०, १५१-१५३, १६६, १६७, १६८, १६९, १८५, २२३, २२८, २४४-२४५।

अग्नि—१६१, १६८-१६९, २०९।

अघोरघंट—६२।

अघोरी—६३।

अचल—५३।

अचला—४४, ७८।

अजया—२१८, २२३।

अज्ञान रस—२१२।

अतिश दीपंकर श्रीज्ञान—१६, ५४-५५।

अतियोगतंत्रयान—४८, ५४।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष—११३, ११५, १९९।

अथर्ववेद—९, १३५।

अद्वय—५५, ६५, ६९, ८२-८३, ८५-८६, ८७-८८, ९६, ९९-१००, १०२, १०४-११२, १४६, १६२, १६५, १७१, १७४, १७७, १८०, १८४-१८५, १८८-१८९, १९१-१९३, १९७, १९९, २०८, २०९, २१०, २२४, २३७, २४१; योग—१४६, १६५; वज्र—५, ६, ७, २८, ५१, ५२, ७३, ७९-८३, ८५, ९०,. ९९-१०१, ११३, १४१, १४६, १४९, १५९; वज्रसंग्रह—४२, ५१, ५३, ८२, ८३, ८९, १४९; वाद—७४, ७५, ७८, ८१, १००; वादी—७४; सिद्धि—८१।

अद्वैत—६३, ७९, ९२, ११२, ११७, ११९, १२३, १२७, १४९, १७२, १८९, १९३, १९७, २०४, २१०, २१४; रस—८५; वाद—३८, ६४, ७६, १७२, १९७; वादी—४८, ५८, ७४, ७६, ७७, ८५, ९२, १२५; वादी रहस्यवाद—१९९; सिद्धि—५१।

अधिकार—४२, ११७, १४४, १४५, १४९, १५५, २०४; भेद—४१, ४३, ४९, ५४, ५७, ६६, ८९-९१, १११, ११२, १२५, १३०, १३८, १३९, १४४, १७७, २१३, २३९।

अधिमात्र—१४४, १५४।

अनंगवज्र—२२, २५, २६, ८२, १४०।

अनभिसंस्कार—१५९।

अनागामी—४१, ९१, १३०, १३८।

अनात्म—२४९।

अनामिका—२०५।

अनाहत—१८७, १९०, २०८, २०९, २३८, २४०; डमरू—६९।

अनिमित्त—१५९।

अनुत्तर—१२०; ज्ञान—११४, १२१; धर्म—

१९२, २१५; योगतंत्रयान—४८, ५४, ९०, १२३; योगसाधना—४८।
अनुराग—१८०।
अपरशैलीय—४३।
अपराजित—५३।
अपान—५५, १०३, १०६, १६१, १६७, १६९, १७१, २०७, २१६।
अप्रणिहित—१५९।
अप्रतिष्ठान प्रकाश—८०।
अभिचार—१२२।
अभिज्ञा—१५५।
अभिधर्मकोश—४१, १२९।
अभिनवगुप्त—५५।
अभिनिश्रयण सूत्र—४९।
अभिमुखी—७८।
अभिषेक—३७, ५२, ६०, ९०, १२१, १३९, १४४-१४९, १५६, १७३-१७६, १७९-१८१, २२०।
अभिसमयालंकार—१३१।
अभयाकरगुप्त—३५।
अभव्य—१७७, २१३।
अमनसिकार—१०१।
अमनीकरण—१०१।
अमिताभ—४६, ५३, १३१, १३८, १५०, १६२, १६९, २४४, २४७।
अमृत—१५५, १५८, १७१, २१८; रस—१८३।
अमोघरत्न—१६६।
अमोघसिद्धि—५३, १३८, १५०, २४४।
अवतार—५२, ५४, ५९, ८४, १४७; वाद—४२।
अवदान शतक—४२।
अवदानकल्पलता—४२।
अवधूत—३७।
अवधूतिपा—२६, ११३, १२५।
अवधूती—६९, ८४, १०२, १०४, १५८, १५९, १६२, १६८, १६९, १७१, १७८, १८८, १८९, १९०, १९१, १९३, २०३, २०९, २११-२१३, २१५, २१६, २२८, २४१; मंडल—८३।
अवरोहक्रम—१५६।
अवलोकित—४५; ईश्वर—४६, ५३, १३३; ईश्वर गुणकारंडव्यूह—१३३।
अविद्या—८२, ११४, १२८, १२९, १८९, १९१, २०६, २१०, २१२, २४०।
अर्चिष्मती—७८।
अर्थ—६३, १७२।
अर्द्धनारीश्वर—६३, ८३, १७२।
अर्हत्—१२७-१३०, १३८, १४१।
अशैक्ष—१४१।
अश्वघोष—४७, ७५, ७७, ८२।
अष्टयोगिनी—६६।
अष्टमीव्रतविधान—५१।
अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता—४२, ४५।
अष्टांगयोग—१४५।
असंग—७, ४३-४५, ५२, ६४, ७२, ७३, ७५-७७, १३०, १३४, १९८, १९९।
असंबद्ध दृष्टि—३०।
अस्थिमाला—६४, ६५, ६७, ६९, १९०, २३०।
अस्थ्याभरण—१७७।
अस्पर्श—१७७।
अहं—८३; कार—१७३, १८५, १९१, २०४।

आ

आगम—९, ३६, ३७, ११२-११४, १८५, १८६, १९२, २१३, २१५।
आचार—४७, ११६, ११७, १२०, १२२, १२४, १२७, १९०, १९६, १९९, २०८, २०९; प्रधान रहस्यवाद—१९६।
आत्म—६४, १००, १०१, २२८; वाद—७६।

आत्मा—५६, ७५, ७६, १११, १४४, १५९, १९३, १९४, १९६।
आत्मोन्मुख रहस्यवाद—१९६।
आदिसिद्ध—१९८।
आदिकर्म—१७९; प्रदीप—५१।
आदिनाथ—१८, २१, २७, १३९।
आदि प्रज्ञा—८३।
आदि बुद्ध—५४, ५५, ८३, ८८, १५०, १९७, २४३।
आनंद—१५६-१५९, १६६, १९४, १९६, २०३, २०५, २०७, २१०, २१३, २२१, २२८।
आनपानसति—४१, १२८, १३०।
आरोलिक—१६६।
आरोहक्रम—१५६।
आर्य-तारा—२२५, २४४; देव—४७, ८०; पाद—१६२; यमारि—२२७; वज्रतारा—२४७; सत्य—९२, १५७, १६६, २८८।
आर्यांग—१६६।
आलय—९२, १८७; विज्ञान—१३०।
आलि—६९, ८४, १०५, १६८-१६९, १८०, १८९-१९०, २२८, २३०, २३६, २४०।
आश्चर्यचर्याचय—५, ३२, ७१।
आसन—३९, १४५।
आसव—१८९।
आसुर बुद्ध—५५।
आस्तिक—९, १०, ४४, १९५, १९७।

इ

इंद्रभूति—१६, १९, २१, २६, २७, ५२, ५९, ६०, ८७, १२२, १२३, १४१।
इच्छा—९९, १३९।
इड़ा—८४, १६१, १६२, १६९, १९७।
इदं—८३।
इन्द्रिय प्रत्यक्ष—१३१, १९५।
ईश्वर—५९, ६२, ६३, ७७, १३१, १७२, १९३, १९४, १९५, १९७; वादी—५४, ७४।

उ

उच्छुष्म जंभल—२४२, २४७।
उच्छुष्मतंत्र—८३।
उजूवाट—१८४।
उत्तम तंत्र—४८, ५३, १२३, १५४।
उत्पत्तिक्रम—१५३, २२४।
उत्पन्नक्रम—१७५; योग—६७।
उधालपा—२५
उपनिषद्—९, ७२, १४३।
उप-पीठ—१८३; शम—१२८; श्मशान—६८, ९८, २३१; सेवा—१५९, २२८।
उपाय—५२, ६९, ८२-८६, ८८, ८९, ९५, ९६, १०४, १०६, १०८, ११२, १२१, १५५, १६१, १६९, १७१, १७८, १८०, १८५, १९७, २१०, २३६।
उपासना—४६, ५२, ५३, ११०, १२४, १३२, १३३, १३४, १४०, १४९।
उपेक्षा—१५८, १५९, १६४, १७८, २१७।
उपोसथ—९४।
उमामहेश्वरमूर्ति—६३, १७२।
उष्णीषकमल—९१, १५५, १५६, १५७, १६१, १६२, १६७, १७१, १७४, १८५, २०७।
उष्णीषरंध्र—१६७।
उष्णीषविजया—५३।
ऊष्मा—२३७, २३९।
ऋद्धि—३९, ४१, १२९।

ए

ए—८५, १०४, १५८।
एकजटा—१५१, २२५, २४६।
एकेश्वरवादी—२४३।
एवं—८५, ९६, १०५, १०७; कार—१८६-१८८, १८९; मयाश्रुतम्—१७७।

ऐश्वरिक मत—८३; रहस्यवाद—१९६, १९८।

ओ

ओंकार—१८१, २३९।
ओडियान—९८; कुरुकुल्ला—२४७; मारीची—२४६।
ओस्तारिकी—२२३।
औपनिषद ध्यानयोग—१९८; ब्रह्म—१९८।

क

कंठाभरण—२१९।
कंठिका—६४, ६६, १९०, २०७, २२९, २४०।
कंथालिपा—२६-२८।
कंबलांबर—११, १७, २२, २३, २५, ६०।
कक्कोल—१०८, १७७, १८०, २१३, २३३, २३८, २४१।
कचपाद—१७, २१, ६०।
कच्छपा—२५, २७।
कठिनयान—५८।
कथावस्तु—४३।
कनखलापा—२६-२७।
कपाल—६२-६६, ७०, १०८, ११०, १११, १४२, १५१, १५३, १६३, १७५-१७७, १८०, २१२, २१८, २१९, २२१, २२३-२२७, २२९, २३१-२३३, २४५-२४६; कुण्डला—६२; पूजाविधि—३५; माला—६२; वनिता—६१, ६३, १०९, ११०, १७३, १९०, २४०।
कपालिनी—२१०, २१८, २२२, २२४।
कमरिपा—२२।
कमल—९१, १२४, १५६-१५७, १६२, १६७, १८०, १८४, १८६, २०५, २१३; शील—३९, ७६।
करुणा—४६, ५२, ५५, ७४, ७८, ८१-८३, ८५-८६, ८८, ९७, १००, १०४, १०५, १३२, १३४, १३५, १३९, १५८-१५९, १६४, १६८, १७४, १७७, १७८, १८०, १९१, १९७, २१७, २२७, २४२।
कर्णपा—१५।
कर्णरीपा—१३, २५।
कर्त्तरी—६७, २१८-२२०, २२३, २२६, २३२।
कर्पूर—२३३, २३८; मंजरी—६२, ६३।
कर्पूरादिस्तोत्र—१२५।
कर्म—९७, १३९, १६५, २१३; कांड—३७, ५७, ५९, ७९, ८०, ९०, १२३, १४४, १४८, १४९, १५४, १६२, १७४, १७९; मारुत—९८; शतक—४२।
कर्मारिपा—२६।
कल्पनामंडीतिका—४२।
कल्हण—६४।
कवच—३६।
कान्हपाद गीतिका—३०।
कापालिक—३, ४, १०-१२, ३४, ६०-६६, ६९-७३, ९२, ९३, ९५, ९८, १०७, १०९, ११०, ११२, ११५, १३४, १३८, १३९, १४८, १४९, १९१, १६९, १७२, १७३, १७६, १७८, १८१, १८४, १८७, १८८, १९०, १९१, १९३, २०३, २०६, २०८-२१०, २१२, २१३, २१५, २२७, २२८, २३९-२४२, २४८।
काम—३९, १२९, १५८, २१९; कला—१८६।
कामिनी—२१८, २२३।
कामेश्वर—८६।
कामेश्वरी—८६।
काय—८६, ९३, ९५, १०८, ११४, ११६-११७, १५५, १५७, १६५, १६७, १६९, १८९, १९२, २११, २२०, २२२, २२४; वज्र—२२०; सिद्धि—१८६; वाक्चित्त—८१।

काया—९२, १०२, १५७; तीर्थ—१८३; योग—६१।

कारंडव्यूह—५४, १३४।

कारिणी—२१८, २२३।

कार्तिकेय—५३।

काल—५५, ८५, ८८, १६१, १९७, २०९; चक्र—५४, ५५, ८५, ८८, १२१, १६१, १९७; चक्रतंत्र—५५; चक्रयान—४२, ४७, ४८, ५४-५७, ७३, ८५, ८८-८९, ११९-१२०, १२१, १३६, १६१, १६६, १९७, २४२; लिंगिनी—२१९; वज्र—२१७।

कालरात्रि—२४५।

कालाग्नि—१०३, १८६।

कालामुख—६३।

कालिंजर—१७७, २१३, २३२, २३८।

कालि—६९, ८४, १०५, १६१, १६८, १६९, १८०, १८९-१९०, २०९, २२८, २२९; का—२२७।

काली—८८।

कुंडल—६४, ६६, ७०, १९०, २०७, २०९, २२०, २२९, २३०, २८८, २९१।

कुंडलिनी—१२५, १५५, १७१, २१२।

कुंदुर—१७५, १७७, २३३, २४०।

कुकरीपा—२६।

कुटिलांगी—२१२।

कुद्दालिपा—२६।

कुब्जिकातंत्र—११७, ११८।

कुमारलब्ध—४७।

कुरुकुल्ला—१५१, २२५, २४७।

कुल—५१, १४१, १५०-१५४, १६५, १७३, १७५, २३३, २४४-२४७; धर्म—३७; मार्ग—६३।

कुलाचार—३६।

कुलार्णवतंत्र—६४।

कुलिश—९६, १२४, १८०, १८४।

कुलिशाब्जसंयोग—१०६, १९१।

कुलीन—१९१, २१२।

कुलेश—१६४।

कुल्लूक भट्ट—९, ४०-४१।

कुबेर—२४७।

कुशलकर्म—१२८।

कुशलम्—७७।

कुशलमेखला—२१८।

कुशलि—१६।

कूर्मपाद—१८, २१, २४, २५।

कृच्छ्राचार—५७, १८२।

कृपा—१५, १३९, २०६, २०८।

कृपीट—१७७।

कृष्णपाद—३-६, १०-१८, २०, २१, २४-३४, ५०, ६०, ६१, ६५, ६९-७०, ७२-७३, ७६, ८१, ९३-९५, ९७, १०३-१०८, ११०, ११२, ११४, ११६, १२६, १३९, १४३, १४७-१४९, १५१, १६३, १६५, १६८, १७२, १७४, १७८, १८०-१८२, १८५-१९३, १९८-१९९, २०३-२१७, २३५, २४०।

कृष्णमिश्र—६४।

कृष्णवज्र—६६।

केंजुर—३४।

केयूर—६७, २३०।

कैवल्य—६२।

कोल्लगिरि—२३८।

कौल—३७, १२६, ११२, ११८, १४४, १४९; ज्ञाननिर्णय—७, ५०।

कौलाचार—११७, १२६।

कौलिक—१४८, २३३।

कौवेरी—२२३।

क्रिया—१०६, १११, ११६, ११७, १२५, १४४, १४८, १५४, १६२, १८६; तंत्र—४९, ५१, ९०, ९१, १२३, १३४,

१४१, १५३-१५४, १८०, २३७; तंत्रयान—४८; समुच्चय—६।

ख

खंडरोहा—२४६।
खगमुखा—१६२।
खट्वांग—६४, ६६, १५१, १५३, २०८, २१८, २१९, २२३, २२६, २२९, २३१, २३२, २३७, २४०, २४५।
खड्गपा—२६।
खसम—९९, १०१।
खेचरी—१६९, २३२, २३९।
खेट—६८, २३२।

ग

गंगा—१०२, १६९।
गगन—१८४।
गणमंडल—६८।
गयाधर—३४।
गाथा सप्तशती—६४।
गायत्री—३६।
गायन—१७३।
गीत—७०, १५३, १७५, २२३, २३१, २३५, २३७, २३९।
गीता—७७।
गुंडरीपा—२६।
गुरु—१५, ३६, ५९, ६३, ६७, ८३, ८६, ९०, ९६, १०१, १११, ११२-११६, ११७, १२०, १२५, १२६, १३७-१४७, १४८, १४९, १५४, १५६, १५८, १६८, १७३, १७५, १७६, १७९, १८३, १८४, १९०, १९१, १९३, २०६, २०८, २१७, २२३, २३१, २३६; शिष्य-परंपरा—४५; शिष्यवाद—५३, १११, १२४, १३८, १३९, १७७।
गुह्यपा—२५, २७।
गुह्यसमाज—४४, ५३, २४३; तंत्र—६, ४०, ४४, ४६, ५२, ८०-८१, १३७, १३८, १४६, १५४, १६१।
गुह्यसिद्धि—८०।
गृध्रकूट—४६।
गृहस्थाश्रम—११९।
गृहिणी—७०, १०७, १८८, २०७।
गोकुदहन—१७३, २१०, २२१, २४०।
गोपीचन्द्र—१४, १७, २१, २७।
गोरक्ष—७, १०, २१, २३; सिद्धांतसंग्रह—६४।
गोविंदपाद—२१।
गौरी—१७८, २२९, २३४, २३८, २३९।

घ

घंटा—७०, १४७, १५०, १७३, १९०, २१०, २२६, २४०, २४५; पाद—२२, २४।
घस्मरी—१६४, २२९, २३२, २३४।

च

चंडमहारोषणतंत्र—५१, ६०।
चंडाली—६८, ११०, १५५, १५७, १६४, १६५, १६८, १७१, १७८, २१३, २२९, २३२, २३३, २३४, २३६, २३९।
चंडिका—४६, १३४।
चंद्र—८४, १०१, १६२, १६८-१६९, १८०, १८७, २०९, २१५, २२८, २४०।
चक्र—३६, ५४, ५५, ५९, ६२, ६६, ६९, ८५, ८८, ९१, १११, ११३, १२१, १२८, १५५, १५७, १५८, १६३, १६५, १६६, १६७, १६८, १७१, १७३, १७५, १७८, १८०, १८१, १८३, १८५, १९१, १९७, २०५, २०९, २११, २१७, २२१, २२४, २३३-२३५, २३८; संभारतंत्र—५१।
चक्री—६६, १९०, २०७, २१३, २१९, २३०, २३२, २४०।
चतुर्थ—१०४।
चतु:शतकस्तोत्र—४२।

चतुष्कोटिविनिर्मुक्त—७४, १३३।
चतुष्षष्टिदलकमल—६९, २०५।
चमन—१६१।
चर्पटीपा—२६।
चर्या—५३, ७८, १०६, ११६, ११७, १३६, १४१, १४४, १४५, १५४, १७५, १७७, १७९, १८६, १९०, २०६, २१०, २१६, २३०, २३१, २३५; गीतिकोष—५, ७, ३३; गीतिकोषवृत्ति—५; गीति टीका—६; चर्यविनिश्चय—५, ३२; तंत्र—४९, ५१, ९०, ९१, १२३, १३४, १४१, १५४, १८०; तंत्रयान—४८; धर—२४०; पाद—१३, २१३।
चिंतामणि—१४१, १५०, २४४, २४८।
चित्त—४६, ७४, ७५, ७८, ८०, ८२, ८६, ९२-१००, १०२, १०४, १०७, १०८, ११४, ११६-११७, १२८, १३३, १३८, १३९, १४३-१४५, १४९, १५६, १५७, १५९, १६१, १६५, १६९, १७१, १७७, १७८, १८०, १८२-१८६, १८७-१९४, १९६, २०६, २११-२१४, २२०, २२१, २२४, २३७; वज्र—१०३, ११०, १९१, २२०, २३८; विशुद्धिप्रकरण—४७, ८०, ८१; वृत्ति-निरोध—१३२।
चिताभस्म—६४, ६५।
चित्रसेना—१५३, २१७-२२१, २२२, २२३, २२६, २४५।
चिह्नआस्त्र—१५२।
चेतोविमुत्ति—१२९।
चेलुकपा—२६।
चोंपापा—१३।
चौरंगीपा—२६, २७।
चौरी—१६४, १७८, २२९, २३२, २३४, २३९।

छ

छिन्नमस्ता—२८।
छोटे विरुप—१७, २१, २४, २७।

ज

जंभल—५३, १५१, २४७।
जननी—१७८, १८१, २३०, २३७, २३९।
जप—६८, ११६, १४४, १६१, १६८, १७९, २३३।
जाप—१४८।
जालंधर—३, १०-३२, ५०, ५१, ६०, ६९, ७२, ७३, १४५, १८८, १९७।
जिनपुर—१९५।
जीव—६२, ११२, १३८, १७४, १७५।
जीवन्मुक्त—१२६, १४५।
जीवन्मुक्ति—७७, १४८।
जीवात्मा—१९५, १९६।
जुजेमा—२१८।
जेतारि—१६।
जैन—७, ९, ४१।
जोगीपा—२५।

ट

टक्किराज—५३।

ड

डमरू—६९, १५१, १९०, २१८, २२१, २२४, २२५, २२६, २२८, २३२, २३९, २४३, २५०।
डाक—१८५, २३९।
डाकिनी—१६, १८, ६१, १८२, १८५, २३९, २४१, २४२, २५१।
डिंडिम—१७६, २३३, २४१।
डेंगिपा—२५।
डोंबिपा—१६, २५।
डोंबी—६९, ७१, ८४, १४६, १६५, १६७, १७३, १८०, १९०-१९४, २०४-२०९, २१२, २१४-२१८, २२८, २२९, २३१, २३३, २३४, २३७; हेरुक—२४।

त

तंत्र—४, ६-९, ३५, ३९-४१, ४३-४५,

४७, ५०, ५७, ५८, ६५, ७१, ७४, ७६-७८, ८१-८७, ९१, ९४, १०१, ११९, १२२-१२६, १३३-१३७, १४०, १५५, १६१, १५३, १५४, १७६, १८०, १८३, १८५, १९३, १९५, १९९, २०८, २०९, २४१; यान—५२, ६२।
तंत्रालोक—६०।
तंत्रिणी—२२१।
तथता—१९०, १९१।
तथा—१३३; गत—१४६, १५१, १६२, १८६, २०८, २०९, २१९, २२३, २४५; गतकाय—८३; गतगर्भ—८३, १२६; गतगुह्यक—५५, ८७; भाव—१६४।
तत्त्व—१६६; प्रकाश—८०; संग्रह—७६; सिद्धिशास्त्र—७२।
तप—१७९।
तमस्—११७।
तर्कश्रुतज्ञान—२०९।
तर्जनीपाश—२४०।
तांतिपा—१५, १७, १८, २१, २४, २६-२७।
ताओ—७, ५८।
तारा—५१, ५२, ८७, ९१, १३५, १५९, २२८; नाथ—१३, १४, १७, १८, २१-२५, २९, ३०, ४५, ५२, ६०, १२३, १५०।
तारिणी—२१९।
तिलका—९१।
तिल्लोपाद—६, ७, ३४, १०७, ११५।
तिस्स—४३।
तीर्थ—१०४, ११८, १५८, १८२, २४४।
तीर्थिक—१२४, २३८।
तृष्णा—१२६।
तेंजुर—७, १२, १३, १५, १६, २९, ३०, ३५।

थ

थगनपा—२५।

द

दक्षिण—८६, ८८, १६३, १६७-१६९, १७१, १७९, १८७, १९७, २१८।
दक्षिणाचार—४८, ८८-९०, ११७।
दशभूमीश्वर—४१।
दाओड़ीपाद—६२, ६३, ७१, ११०, १७४, १९०, २१०।
दारिकपाद—२४, २५, ५०।
दिव्य—५०, ७१, ११८, ११९, १२३, १५५, १७३, १७४, १८१, १८९, १९०, १९५, १९६, २०३, २०४, २०७, २३९; भाव—१०, ५४, ११८, ११९, १२४, १२७, १४९, १५५, १५७, १८१, १८९, २००, २०३; मुद्रा—१०६।
दिव्याचार—५३, ५४, ७१, ८९, ९०, १७७, २००।
दिव्यावदान—४१, ४४।
दीक्षा—३६, ५३, ५४, ८९, ११६, १२३-१२५, १२९, १३८, १४०, १४४, १४५, १४९, १५६, १७५, १८०, २३२।
दीघनिकाय—४०, १२९।
दीपंकर—३९, ४०; श्रीज्ञान—२१।
दुंदुर—१७६, २३३, २३९।
दुर्गा—२१७।
दुर्जया—२२४।
दुहिता—८४, १८९, २३१, २३६, २३८, २४१।
दूरंगमा—७८।
देवता—४१, ४६, ५१-५४, ५७, ५८, ६८, ७२, ८४, ८५, ८६, ९९, १०७, १०९, १११, ११८, १२१, १२३, १२४, १२६, १२७, १३२, १३७, १३८, १४०, १४१, १४४, १४८-१५१, १५३, १५४, १६४, १६६, १७५, १७७, १८०, १८२, २१२, २२६, २२७, २३४, २३५, २३६, २४७, २४८।

देव-देवी-मंडल—२२५, २४१।
देवमंडल—८२, ८३।
देववाद—२४२।
देवी—४१, ४७, ५१, ५२, ५४, १११, ११८, ११९, १२३, १२४, १३२, १३७, १३८, १४०, १५०, १५१, १५४, १५५, १५९, १६०, १६५, १६७, १७६, १७९, १८१, १८३, २१८, २२०, २२२, २२७, २२८, २३४, २३८, २३९, २४४, २४७, २४८।
देवी-देवता—२४८।
देह-नगरी—२०९; वाद—१२०।
द्वंद्व-तंत्रण—१८०; समापत्ति—१८०।
द्वयता—१८५।
द्वादशनिदान—७४, ७७, ८२, २१५।
द्वादशांगुलपुस्तक—६८, २३५।
द्विजा—२३३।
द्वीन्द्रिय-योग—१७७, २२०, २३३; समापत्ति-योग—१७५, २४०।
द्वेष—१०९, १५१, १६५, १६९, १७९, २२८, २३६-२३८।
द्वैत—१००, १११, ११२, ११८, १२०, १७१, १९२, १९३, २०४, २०८, २११, २१४, २१६।
द्वैताद्वैत—११२, १७१, १७२।

ध

धमन—१७०।
धम्मपद—८८।
धर्म—५७, ७४, ७७, ७९, ८३, ८४, ९०, ९१, ९४, ९९, १२८, १३१, १४०, १६४, १७९, १८८, १९८, २०७, २०८, २१२, २१५, २१८, २१९, २३८, २३९; काम दीपसिद्धि—३०; काय—५८, ७७, ८७, ९२, ९७, १०१, १२७, १२८, १४०, १५८, १६८, १७८; कीर्ति—१८, १९, २२-२५, ४५, ४६, ६०; चक्र—१५८, १६६, १८०, १८१, १८५, २०६, २२९, २३७; चक्रप्रवर्तन—४५, १४६, १५६; देशना—१४१; धातु—७५, ७७, ७८, १३७, १४७, १५९, १६३, १७६, २१६, २१७, २३०, २३६; पा—२५-२८; महासुख—१८२; मेघा—४५, ७८, ८३; संभोगकाय—९७, ९९।
धातु—८७, १२८, १३०, २१२।
धान्यकटक—४४, ४५, ४९, ५५, ९१।
धारणी—३८, ३९, ४२, ४४, ४६, ७९, १३२, १३४, १३५, १३९; पिटक—४६।
धूतंग—१२७, १२९।
ध्यान—३५, ४१, ४३, ६३, ७०, १२९, १३१, १३५, १३६, १४४, १५०, १५३, १६४, १६६, १७३, १७९, १८१, १९८, २०९, २२०, २३०, २३१; योग—३६, १२८।
ध्यानी बुद्ध—४४, ५२-५५, ९०, १४१, १४२, १५०-१५३, १६५-१६८, २०७, २०८, २४२, २४८।
ध्वज—१७९, २३७।

न

नटराज शिव—५३।
नटी—१७९, २३३, २३६, २३९।
नर-कपाल—६२, ६३, ६४, १०७, २३८; चर्म—५३; मुंड—२२५, २४५; रक्त—५७।
नरास्थि—६२, ६४, २२५, २३०।
नर्तकी—८३, २४२, २३७।
नर्ती—१६५।
नवसोम—७१।
नागबोधिपा—२५।
नागार्जुन—२४, २५, २७, ४३, ४६-४९, ५४, ७३, ७५, ७८, ८०, ९३, ९५, १२५, १९१।

नाड़ी—५९, ६१, ६४, ६९, ८५, ९१, ९७, ९८, १०८, १५५, १५७, १६०, १६४, १६७, १६८, १७०-१७२, १७७, १८१, १८२, १८४, १८६, १९०, १९२, १९६, १९७, १९९, २०८, २१०, २१७, २१९, २२२-२२४, २३०, २३५, २३६, २३८।

नाथ—३, ७, १०-१२, १९, २६, ६८, ७८, ७९, १७७, १८८, २२८, २३५; संप्रदाय—१८।

नाद—१०२, १११, १७०।

नादानुसंधान—२९३।

नाम-गायन—१२५; जप—१२५; स्मरण—१२५।

नारो—१६, २५, २६, २७, ६१, ७२।

नास्तिक—९, १०, १९६।

निकाय—१६६, २२९।

निगम—९।

नित्यातंत्र—११८, ११९।

निम्नतंत्र—४८, १२३, १२४, १५५।

निरंजन—९३, १८४।

निरंतर योग—१६२।

निरक्षर—११५।

निराकार—८०, १२४।

निर्गुण—७६, ८३, १२४, २१९।

निर्माणकाय—७८, ८६, ९१, १५८, १६१, १६९।

निर्माणचक्र—१५४, १५८, १७१, १८१, १८६, १९१, १९२, २०४, २०५, २२२, २२९, २३७।

निर्वाण—४५, ४८, ५३, ५४, ५९, ६२, ७५, ७७, ७८-८०, ८२, ८७, ८८, ९०, ९१, ८८, ९०, ९७, १०१, १०२, ११२-११८, १२४, १२६, १२७, १३०, १३२-१३७, १४२, १४८, १६०, १८२-१८४, १८७, १८८, १९०, १९६, २०५, २०८-२१०, २१५, २३१।

निवृत्ति—११३, १२०, १४०।

निशापूजा—११८, ११९।

निष्पन्नक्रम—१८०।

निस्पंद—१५९।

निस्पंदफल—१७९।

नि:स्वभाव—२०९, २१४।

नीलद—५२।

नूपुर—६७, ७०, १८९, २०९, २१०, २३२, २४०।

नृत्य—६९, १७४, २०६, २२६, २३२, २३७, २३९, २४१, २४८।

न्यास—३६।

नेत्रविभंग—१६७।

नैरात्म—२११, २३६।

नैरात्मक देह—१०८।

नैरात्मा—६२, ६७, ६९, ७६, ८५, ९९, ११०, १०८, १५३, १६१, १६४, १६९, १७१, १७५, १७६, १८०, १८२-१८४, १८९, २०३-२०६, २२४, २२७, २३२-२३४, २३७-२३९, २४७।

नैरात्म्य—८४, २०३, २०६; योग—१६२।

प

पंकजपा—२५।

पंचक्रम—५१, ५२, ८३।

पंचतत्व—११८, ११९, १२६, १४८।

पंचपवित्र—५४।

पंचभूत—१५७, १६६।

पंचमकार—३७, ४४, ४८, ५०, ५४, ६६, ८९, ९०, १२२, १२५, १२६, १३९, १४१, १४९, १५५, १६९, १७५, १७७-१७८।

पंचरत्न—३६।

पंचवर्ण—६७, ७१, २०७, २०८, २३१।

पंचामृत—६७, १६५, १७४, १९३, २१८, २२०, २२३, २२४।

पंतजलि—७७।

पद्म—६०, ८५, ८६, १००, १०८, १३९, १६६, १६९, १७३, १७८, २३१, २३४, २३५, २४१; प्राणि—२४६; माला—२१८; वज्र—२५, ३९, ५२, ९२; संभव—२२।
पद्मांतक—५३।
पद्मिनी—६७।
परमतत्व—८८, ९५, १०५, १०१, १०३, १०६-१०८, ११०, १११, १२३, १२४, १३२, १३४, १८२, १९३, १९४, १९६, १९८, १९९।
परमहंस—१४५।
परमात्मा—७७, १९४।
परमार्थ—५६, ७७, ८०, ८८, ९२, १०६, ११४, ११५, १४७, १७१, १७९, १८२, १८६, १८८, १९२, २०६, २३७।
परमेश्वर—१७२, १७३।
परलोकवाद—७८।
परावृत्ति—७, ४४, १३४, १९४।
पवन—१०३, १०६, १११, १८३, १८८, २०७, २१०, २१५, २४०।
पशु—३७, ११७, ११८, ११९, १२६, १७४; भाव—१०, ५५, ११९, १४५।
पश्वाचार—५३, ५४, ९०, १७९।
पांचरात्र—५४।
पांडरा—५२, ९२, १५८, २४४।
पाताल—१८९, १९०।
पापादेशना—१७८, २१८।
पारमार्थिक—७३, १३२, १९१, १७०, २११।
पारमिता—४३, ७३, ७८-८३, १२३, १२७, १३२-१३३, १३४-१३५, २२२, २३०; नय—४२, ८४, ११८, १३५, १३६, २४२; यान—४५।
पाश—१४६।
पिंगला—८६, १६१, १६२, १९७।
पिंड—९१, १०१, १०८, १६२, १६९, १७०, १९९, २०९; ब्रह्मांडवाद—५४, ७३, ८९, ९२, ९७, ९८, ११०, ११२, १२३, १२४, १५५, १६२, १६८, १८२, १८५।
पीठ—१८४, १८७; उपपीठ—८९, १०१।
पुक्कसी—६९, १६४, १७६, १८२, २२९, २३०, २३२, २३५।
पुण्यामोद—१७८।
पुरश्चरण—३६।
पुराण—१०७, ११७, १८४, १८८, १९६, २३७।
पुरुष—८५।
पुरुषकार फल—१८१।
पुष्पभूति—६५।
पूजा—३५, ४२, ४६, ५०, ५२, ५५, ६८, ७९, ११६, ११७, १२२, १२४, १२५, १३४, १३६, १३९, १४०, १४५, १४८, १५०, १५५, १५७, १६५, १७५, १७६, १८०, २१८, २२२, २२३।
पूर्वशैलीय—४३।
पृथग्जन—४१, ९०, ९४, १०८, १३०, १३७, १९२।
प्रं—४५।
प्रकृति—१५९, १९६, २०८, २११, २१७, २३८।
प्रज्ञांतक—५३।
प्रज्ञा—४१, ४४-४६, ५३, ५९, ६७-७०, ७४, ७७, ७८, ८१, ८४, ८६, ८९, ९१, ९४, ९५, ९६, १००, १०४, १०८, १०९, ११२, १२१, १२६, १२७, १२९, १३१, १३२, १३६, १३८, १४०, १४६, १५३, १५५, १५८, १६३, १६५, १६९, १७४, १७५, १७८, १८०, १८३, १८५, १९१, १९७, २०६, २१०, २२३, २२४, २२८, २२९, २३१, २३७, २३९;

पारमिता—४४, ४६, ५२, ११३, १३४, १३६, १३७; पारमिता धारणी—४०; पारमिता मंत्र—४४; पारमिता साधन—४३, ४६; पारमिता स्तव—४४; पारमिता हृदयसूत्र—४४।
प्रज्ञोपाय—५३, ८१, ८३, ९५-१०१, १०४, १०८, १०९, १११, ११२, १२५, १२९, १६०, १७७-१८०, १८४, १९१, १९५, १९६, १९८, २०४, २०६, २०७, २११-२१५, २२७, २२९, २४५, २५७, २६१, २७१; विनिश्चयसिद्धि—६, ५३, ८०, ८१, ८३, ८४, ८९, १३८, १४६।
प्रणव—१११।
प्रणिधि—१७२।
प्रतिपन्न—१०३।
प्रतिभा—२१८।
प्रतिमा—२७३; विज्ञान—२७३।
प्रतीक—४६, ६९, ८५, ८६, ११०, ११३, १३१, १३२, १३८, १७२, १८०, १८१, १९१, १९४, १९५, १९८, २१८, २२२, २२३, २३०, २३१, २३४, २७६।
प्रतीत्यसमुत्पाद—७४, ८२।
प्रत्यक्ष—१३८।
प्रत्यात्मगति—४६, १४०।
प्रत्यात्मार्यज्ञान—२२१।
प्रत्यात्मार्यज्ञानगोचर—१४०।
प्रत्येकबुद्ध—१४३।
प्रबोधचंद्रोदय—६३, १८८।
प्रभाकरी—८८।
प्रमुदिता—८८।
प्रवृत्ति—११५, १२४, १४९।
प्रव्रज्या—९१।
प्राण—५५, ६०, १०७, ११३, ११९, १२०, १३७, १६९, १७५, १७६, १८३, १८७, २०८, २३२, २४१, २४२।
प्राणापान—५५, १०३।
प्राणायाम—३६, ४१, १३७, १४३, १७४-१७७, १८२, १८३, १८६, १९१, २०७, २०९, २११, २१५, २३५।
प्रातिभ—२१८; ज्ञान—११५; साक्षात्कार—१२७।
प्रार्थना—४६, १९२।
प्रियदर्शना—२५२।
प्रीति—१३४।
प्रेंखण—१९४।
प्रेतावास—२३१, २७२।
प्रेमपंचक—८३, ८५, १५८।

ब

बंगाली—१८७।
बंध—१९, १७६, १९५, २०३।
बल—६८, ९७, २६२।
बहुदेववाद—२७४।
बहुदेवोपासना—१२७।
बाउल—५९।
बामारग—१०।
बालपाद—१७।
बाह्याचार—५३, १५७, २०९, २११, २१५, २२१, २२८, २३४, २३८, २७४।
बिंदु—८१, ८४, १०२, १०५, १२१-१२३, १२८, १३७, १४८, १६८-१७३, १७५, १७७, १८२, १८६, १९०, १९१, २०५, २०६, २०९, २१५, २३२, २६६; सिद्धि—१९८।
बिंब—२७३; निष्पत्ति—१७९।
बीज—१४०, १६२, १६५, १७९, १८०, १८१, १८५, १९१, २०६, २६०।
बीजाक्षर—४५, ११३, १७१, १८२, १९७, २०७।
बुद्ध—१४, ३६-४२, ४५, ५३, ५४, ६२, ७४, ७५-७७, ८४, ८८, ९०, ९९, १०१, १०४, १११, ११२, ११५, १३५,

१३९, १४१, १४३-१४७, १४९, १५०, १५८, १८०, २२०, २४१, २५०, २५८, २६९, २७३, २७६।
बुद्धकपाल—१०, ३५, १११, १६४, १६६, १६७, १८९, २४४, २४५, २५१, २५२, २६०, २६९, २७७; तंत्र—३५, ६८; तंत्र टीका—३५; तंत्र तत्त्व-चंद्रिकापंजिका—३५; तंत्रपंजिका—३५; तंत्रराज टीकाभय पद्धति—३५; नामयोगिनीतंत्रराज—३५; मंडल-विधिक्रमप्रद्योतन—३५; साधन—३५, १६६, १८६।
बुद्धकपालिनी—२४८।
बुद्धकुल—१३९, १५८।
बुद्धज्ञानपाद—१८, २१, २४, २७।
बुद्धडाकिनी—२७७।
बुद्धतीर्थिक—९८, ९९, २०८।
बुद्धत्व—५१, ८६, ९८, १३९, १४१, १४२, १४६, १४७, १५०, १६९, १७०, २७५।
बुद्धभक्ति—४२, १३२, १३४।
बुद्धरत्नकरंडक—१८७।
बृहदारण्यक—७६।
बोधि—७७, ८१, ९९, १०१, १२९, १३१, १३२, १६४, १८४, १८८, २३१, २४२; चर्या—१३६; चर्यावतार—३०; चर्यावतारदु:खबोध-निर्णय—३०; चित्त—५२, ५७, ६९, ७३, ७७, ७८, ८०-८२, ८४, ८५, ८८, ९५, ९६, ९८, १०३-१०४, १०६, १०७, ११०, १२३, १३१, १४४, १५३, १५५, १६१, १६८, १७०, १७४, १७९, १८५, १८६, १८८, १९३, १९८, २०३, २०४, २०६, २०७, २१२, २१५, २२०, २३५, २४१, २४३; चित्त विवरण—७५; चित्तोत्पाद—४७, ५७, ७८, ९४, १२३, १२६, १३१, १३२, १३५, १६९, १७०; पाद—१०६; मंडल—३९; सत्त्व—४१, ४३, ४७, ५३, ५५, ७३, ७८, ७९, ८०, १०८, १२६, १३०, १३१, १३२-१३४, १५१, १५३, १५७, १६०, २४३, २४५; सत्त्वभूमि—१३६; सत्त्वयान—१३७, १३८।
बोध्यंग—६८, १३०, १७६।
बोल—१०८, १७४, १७६, १८१, २१३, २३४, २४०, २४३; कक्कोलयोग—१४४, १७५, १८६, १९३, २३८।
बौद्ध—३, ८, १०, ११, १६, १९, २१, ३६, ३७, ३९-४२, ४४, ४७, ४८, ५४, ५८, ५९, ६१, ६३, ६४, ६५, ७१-७४, ७८, ८०, ८१, ८४-८७, ८९, ९०, ९५, १०७, ११०, ११२, ११३, ११६, १२२, १२५, १२८, १३०, १३२, १३८, १४०, १४१, १४६, १४७, १४८, १४९, १५१, १५७, १६६, १७७, १९३, १९६, १९७, १९८, २०५, २२५, २२७, २४२, २४३, २४७; कापालिक—३, १०, ३४, ६०, ६१, ६३, ७१, ७२, ८१, ९३, १०९, ११०, ११५, ११६, १३०, १३३, १३८, १४८, १५३, १७२, १७३, १८३, १८८, १९०, १९३, २३४; तंत्र—३६-३९, ४१, ४३, ७८, ८३, ८४, ८८, १०९-११२, ११९, १५१, १५९, १६६, १९७, २२८; देवमंडल—२०९, २४६; धर्म—४३, ५०, ७७, ९०, १२३, १३४; योग—१३१, १५३, १६१, १६७, १७०, १७१, २०६, २१२, २३६; रहस्यवाद—१९६, १९७, १९८-२००; सिद्ध—३-५, ७, ११, ३०, ५६, ७८-७९, ९१, ९२, १२१, १२४-१२६, १३०, १८१, २४३।
ब्रह्म—२०५; चर्य—४८, ९१, ११९, १२०,

१५२; चारी—१४२; जालसुत्त—३९, ४०; विहार—१४८, १५९।
ब्रह्मा—१६५, २०५, २४७।
ब्रह्मांड—९१, १२१, १६२, १६९, २११।
ब्रह्माद्वैतवाद—७५।
ब्राह्मण-देवमंडल—२०५; धर्म—४२।
ब्राह्मणी—१६४, १६५, १८०।

भ

भक्ति—७८, १३०, १४०, १४२, १८५, १९६।
भग—९६, १०८, १३५, १३६, २०७, २१३, २३०, २३५।
भगवती—८४, ८५, ८७, १३८, १६०, १७६, १९१, १९२, २०६, २३०।
भगवान्—८४, १०८, १३७, १३८, १४१, १६४, १७३, १७९, २१३, २१७, २२२, २३०, २३४, २३५, २४०।
भगासन—६३, ६४।
भगिनी—८५, १७८, १८१, २३०, २३६, २३७, २३८, २३९।
भद्रपा—२६, २७।
भद्रयान—४७, ५८।
भर्तृहरि—१७, २१, २४, २७।
भव—८०, ९९, १००, १०१, १०२, १०४, १०५, १६२, १८४, १८५, १८९-१९०, १९२, १९३, २०९, २१५; चक्र—७५; भूति—६१, ६३; व्रत—६१।
भविष्यत् बुद्ध—५३।
भव्य—१७६, २१३।
भस्म—७०, २०९।
भागिनेयी—१८१, २३८।
भादेपा—२८।
भारतीय रहस्यवाद—१९२।
भार्या—१८०, २४०।
भाव—११७, ११९, १२०, १२१, १२४, १२६, १४२, १५६, १५८, १६६, १६७, १७९, १८४; साधना—४९।
भावना—१६३-१६५, १७३, १७७, १८४, १९२, २१७, २२२, २३५, २४३; मयी—४२, १३२; योग—१७५, १७८, १९७।
भिक्षु—१५, १८, ४२, ९१, १२८-१३०, १३७, १४०।
भीमदर्शना—२२४।
भुक्ति—२७, १११।
भुजंगी—२१२।
भुसुकुपा—२६, ३६, ३७।
भूचरी—१७०, २३४।
भूत—१५३, १६६; कोटि—७७, ९६, १४८, १८०; तथता—७८; शक्ति—१११।
भूमि—४५, ७३, ७७, ८१, १३२-१३४, १६०।
भुवनेश्वर—१४४, १४५।
भैरव—६२, ११२, १७२।
भैरवाचार्य—६४।
भैरवानंद—६२, ६३।
भैरवी—२१८, २१९; चक्र—३७।
भैषज्यधर्त्री—२२९।
भोग—९८, १०५, १०६, १३९, १४३, १४४, १७६, १८८, १९३।

म

मंजु-वज्र—५३; श्री—२३, ५२, ५३, १३७; श्रीमूलकल्प—३८, ३९, ४३, ४५, ५१, ५२, १३८।
मंडल—८, १७, ३९, ४६, ५२-५४, ५७, ६०, ६८, ८९, ११३, १२०-१२४, १३६, १३७-१३९, १४०-१४१, १४६, १५२, १५३, १५८, १७६, १७९-१८०, १८३, १८८, १९३, २१७, २२०, २२२, २२४, २२५, २२९, २३०, २३३, २३५, २३७, २३९, २४६; क्रिया—५७।

मंत्र—१५, ३६, ३८, ३९, ४२, ४३, ४४-४६, ५१, ५३, ५४, ५७, ६३, ६८, ७०, ७९, ८९, ९०, ९८, ११०, ११७, १२०, १२२, १२३, १२४, १२७, १३२, १३४-१४०, १४४, १४५, १५३, १५५, १६१, १७३, १७८, १७९, १८१, १८२, १८८, १९०, १९३, २०७, २२०, २२२, २२३, २२८, २३१, २३७, २४०; नय—४२, ५६, ७९, ९०, ९४, १३५, २४२; मार्ग—५६, ११९; यान—४२, ४५, ४७-४८, ५४, ५६, ५७, ९०, ११३, ११९-१२१, १२३, १३६, १३८, १४१, १५४, २१३; योग—१६१, १६४, १७१, १७८।

मंत्रोद्धार—१८१, २३९।

मंदिर—१४१, १७३।

म—२९२; कार—१२५, १७९।

मज्झिमनिकाय—४१।

मणिभद्रा—२६।

मणिमूल—२०४, २०८, २०९।

मदन—६८, १४२, १७३, १७७, २१०, २१३, २३२, २४०, २४१।

मत्तविलास—६४-६५।

मत्स्य—४७, ५२, ११७, ११८।

मत्स्येन्द्र—७, १०, १८, २१, २३, २४, २६, २७, ५०।

मद्य—४३, ४७, ५२, ६४, ६५, ६८, ७०, ११८, १३८, १५१, १७६, १७७, २११, २३२।

मध्य—१४४, १५४, १९७, २१५; नाड़ी—१६७।

मध्या—१८८।

मध्यम कौलिक—१४४, १५४।

मध्यम-पथ—१७१; मार्ग—७७, १०२, १५६।

मध्यमा प्रतिपद्—१५८।

मध्यमार्ग—१६९, १८४।

मध्यांतविभाग—८०।

मध्यांतानुगमशास्त्र—७२।

मन—९९, १००, १०२, १०५, १११, ११६, ११७, १४२, १४३, १५५, १५८, १८१, १८४, १८५, १८६, १८७, १९२, २०७, २१०, २१४, २१६, २४०।

मनुष्य-बलि—६१।

मनुस्मृति—४०।

मन्मथ—५६।

मर्मकालिकातंत्र—१७१।

मल—१४७; यज—६८, १७७, २३२।

मलयपीठ—९८।

महाआयुधी—२१८।

महाकपाल—२२१।

महाकरुणा—९५, ९७, ९९, १००, १२६, १२७, १३३, १३६, १७४, १७५, १७९, १८०, १८४, १८६, १९१, १९६, २२०, २२८, २३८।

महाकापालिक—१०९।

महाकाल—१३९, २२७, २४३।

महाचीनक्रमतारा—२२५।

महाचीनक्रमार्यतारा—२२५।

महाचीनतारा—२८८।

महाकृपा—२२९, २३०; ज्ञान—१७८; ढुण्ढनमूल—३०।

महादेवी—१३४।

महानिर्वाणतंत्र—३६, ११८।

महापद्मवज्र—२२।

महापरिनिर्वाण—४२।

महाप्रज्ञा—१९६, २१५।

महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र—४५।

महाभाव—११९, १५६।

महाभूत—१५७, २०७, २१७, २२१।

महाभैरव—६२।

महामांस—६२, ६५, १७७, २३३।

महामधु—२३४।
महामाया—१३५, २२५, २२६, २२७, २४५।
महामुद्रा—१७, ६०, ६१, ६७, ६८, ७०, ८१, ८२, ८४, ९२, ९४, १०४, १०७, १२१, १४५, १४७, १४८, १५८, १७५, १८८, १९०, २०५, २३९।
महायशा—२१८, २२४।
महायान—३, ७, ३७, ४२-४३, ४४, ४५, ५३, ७१, ७४, ७६-८२, ८८, ९०, ९१, ९२, ९७, ९८, १००, १०२, १०३, ११०, १११, ११३, ११९, १२६, १२७, १३०-१३८, १३९, १४८, १४९, १६१, १९६-१९८; श्रद्धोत्पाद—७७; सूत्र—८२; सूत्रालंकार—४३।
महायोगतंत्रयान—४८।
महारत्न—१६७।
महाराग—१६४, १६८, १८६, २०५, २१८, २२९, २३३; सुख—१०३।
महावज्र—१५३।
महावस्तु—४२, १३४।
महाव्रती—६३।
महाशक्ति—११९, १३५।
महासांधिक—४३, ४४, १५९।
महासाधन—२२८।
महासुख—५३, ५७, ६९, ८४, ८७, ८९, ९२, ९४, ९६-९८, १०१, १०२, १०५, १०६-१०७, १०९, ११०, ११३, १२१, १२७, १४८, १५५, १६८, १७१, १७३, १७४, १७८-१८५, १८७-१८९, १९१-१९३, १९८, २०७, २०८, २१०, २११-२१३, २१४, २१६, २२१, २३७, २३८, २४२; कमल—९२, १५७, १८९; काय—७९, ८८; चक्र—१५५, १७१, १८१, १९०, १९१, २०४, २०५, २०७, २११-२१३, २२८; रस—१६१; वाद—८१।
महीपा—२६-२८।
महोदधि—२२३।
मांस—४३, ४७, ५२, ६३, ६८, ११७, ११८, १३४, १५१, १७६, १७७, २२१, २३२।
माता—१९०, २१०।
मातृदुहितृसंबंध—४७।
माध्यमिक—४४, ४६, ५८, ७३, ७४, ७६, ७७, ७९, ९३-९५, १०७, १३५, १३८, १७१।
मानव बुद्ध—१५२।
मानस परावृत्ति—४३।
मामकी—५३, ९२, १५८, २२८, २४४।
माया—७५, १३३, १९०, १९१, २१०।
मायोपमाद्वयवाद—७९।
मार—२२९, २३३।
मारण—६८।
मारीची—५१, १५१, २४६।
मालतीमाधव—६१, ६२, १७२, १७७, २३२, २३५, २३८।
मिलिन्दपञ्हो—८७।
मीनपा—२६, २७।
मुंड—२१९, २२६, २४६; माला—६२, १५१, १५३, २१७, २१९, २२३-२२७, २३३, २४५-२४७।
मुक्ताहार—१९०, २१०।
मुक्ति—८७, १११, १३९, १८२, १८४, २०८, २१०।
मुदिता—१५८, १५९, १७८, २१६।
मुद्रा—३८, ३९, ४३, ४७, ५१, ५३, ५४, ६२, ६३, ६४-६७, ७०, ७८, ८४, ८९, ९०, ९२, १०७, १०९, ११८, १२१-१२५, १३७, १३९, १४२, १४६-१४८, १५१, १५२, १५६-१५८, १६१, १७२, १७३, १७५, १७८-१७९, १८१, १८७, १९३, २०७, २१२, २१९, २२९, २३०, २३२-२३५, २४२-२४५, २४६।

मुद्रिका—६३, ६४।
मुनिदत्त—४, ३२, ३४, ७१, १०५, १०७, ११४, १४८, १७३, १८४, १८८, १९०-१९१, २१०।
मूलनाल—१८५।
मूर्ति—४६, १३४, १४१, १४४, १४९, २४३; पूजा—४२।
मूलाधारचक्र—१७१।
मृतक—२३६, २३९।
मृदु—१५४।
मेखला—३४, ६६, ६७, ६९, ७०, ७३, १०३, १०४, १०६, ११३, १८५, १८७, २२९, २३०; टीका—५, १८४, २१९।
मेदिनी—१८०, २३७।
मेरुगिरि—१८६।
मैत्री—५२, १३५, १४५, १५८, १५९, १६४, १७८, २१६, २१८।
मैत्रेय—५३; नाथ—७, ४५, ७२-७३, ७७, ८०, १३०, १३१, १९८, १९९; व्याकरण—४२।
मैत्र्युपनिषद्—७२।
मैथुन—४३, ४४, ४५, ४७, ५२, ६८, ७०, ११८, १२०, १२५, १३८, १५१, १७६, १७७, १८९; परक रहस्यवाद—४५; परावृत्ति—४३।
मोक्ष—८३, १३६, १४०, १४४, १४५, १७८, १८२, १८४, २०८, २१०, २३१।
मोह—१४१, १५०, १५१, १६९, २४४, २४६।

य

यंत्र—३६, ५१, ११७।
यज्ञ-याग—५९।
यज्ञोपवीत—६४।
यथाभूत—१०५, १०६।
यम—१४५; दूती—२२७।
यमांतक—५३।
यमारि—१५१, २४२, २४५, २४६।
यशोदर्शना—२१८, २१९।
या—१५८।
याज्ञवल्क्यस्मृति—६४।
यामल—३७।
यामुनाचार्य—६३, ६४।
युगनद्ध—७०, ८१, ८५, ८६-८८, ९१, १००, १०५, १०७, १०८, १२४, १३९, १५१, १५३, १८७, १८८, १९७, २१३, २४५, २४६, २४७; क्रम—५९, १००।
योग—४१, ४४, ४६, ५६, ५७, ५९, ६२, ७३, ७९, ८०, ८२, ९०, ९७, १०८, ११०, १११, १२०, १२१, १२२, १२३, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३५, १३८, १३९, १४४, १४५, १५४-१५५, १५९, १६१-१६४, १६६, १७३-१७५, १७८-१८१, १८६, १८७, १९३, १९८, २२१, २२४, २३७; तंत्र—४९, ५१, ९०, १२२, १२३, १४१, १५४, १८०, १९८, २१६; तंत्रयान—४८, १२४; निद्रा—१९१, १९२, २११; भोगैक्य—९७; रत्नमाला—३, ११-१३, २४, ३०, ३२, ६०, ६६, ६९, ८१, ९३, ९५, ९६, ९७, १०३, १०७-१०९, १४७, १४८, १५१, १५४, १६३, १६५-१६८, १७२, १७४, १७५, १७७, १७९, १८०, १८१, १८४, १८६, १९१, १९३, १९८, २३५, २३६, २३९; सूत्र—७७, १३१।
योगाचार—४६, ५८, ७३, ७४, ७६, ७७, ८२, ८७, ९१-९५, १२४, १२५, १३०, १३१, १३५, १३८, १९८; भूमिशास्त्र—१३०, १३१।
योगिनी—५९, १०९, १५३, १६३, १६५, १७१, १७५, १७६, २१२, २१३, २१५, २१६, २१८-२२०, २२३, २२७, २२८, २२९, २३२, २३४, २३९, २४०, २४५;

जाल—१९२; तंत्र—१४७, १५४, २१६, २३९; निरुत्तर—१५४; मार्ग—५१।
योगिप्रत्यक्ष—११३, ११५, १३१।
योगिसंप्रदायाविष्कृति—१४, १८, १९।
योगी—५२, ५९, ६९, ७०, ८२, १०६, १३०, १४८, १६४, १७१, १७५, १७८, १८३, १८५-१८६, १८८-१९३, २०६, २०७, २०९, २१३, २१६, २१७, २२९, २३१, २४०।
योनि—८४।
यौनयौगिक—५७, ८७, ९६-९७, ९९, १०३, १०४, १०६, १०८-१०९, १२२, १२३, १९७।

र

रक्त—६८, ८३, १६१, १६८, १६९, १७६; यमारि—२२६।
रघूत्तम—६४।
रजकी—८४, १६५, १७८, २३०, २३३, २३५, २३७, २३९।
रजस्—११७, ११८, १६९।
रति—१७९, १८६।
रत्न—१६५, २३३; केतु—१३८; पाणि—२४४; पूजा—५२; संभव—५३, १३८, १५०, १६२, २४४, २४७।
रत्नाकरगुप्त—५२।
रत्नाकरशांति—५२।
रवि—९९, १०१, १०४, १८५, १९०।
रस—९८; धरी—२२९।
रसना—६९, ८४, १०४, १५८, १६१, १६२, १६८-१६९, १७८, १८५, १९७, २०७, २२८, २३९।
रससाधन—१५५।
रहस्यवाद—५१, ११३, १९३, १९४-१९६, १९८, १९९।
रहस्यवादी—१९४, १९५, १९८, १९९।
राग—५९, ८३, ८६, ९७, १४१, १५०, १६९, १८६, २०६, २०७, २०९, २१०, २११, २३८, २४४, २४७।
राजगिरिक—४३।
राजयोग—८९, १९९।
रामानुज—६३, ६४।
राहुलभद्र—४७, ५०, ५१।
रुद्राक्ष—६४।
रुचक—६४, ६७, २२९, २३०।
रूप—१४९, २४४; धातु—१२८; राग—१२८; स्वर्ग—२४२।
रूपिणी—२१८, २२३, २४६।
रौद्रकर्म—९७।

ल

लंकावतार—४२, ४५।
लक्ष्मींकरा—१७, १९-२५, ५२, ५९-६०, ७३, १२५।
लय—२३२; योग—१६२।
ललना—६९, ८४, १०४, १५८, १६१, १६२, १६८, १६९, १७८, १८५, १९७, २०७, २२८।
ललामा—२१८।
ललितविस्तर—४२, ४५, ६३, ६४, २४७।
लामा—७, २४६।
लीलापा—२६।
लीलावज्र—२५।
लुयीपा—५, ७, १६, २५, ५०, ५९, १२५।
लोक—१६२, १८३; ज्ञान—१०५, १८९।
लोकाभास—१०५, १८९।
लोकोत्तरवाद—४२।
लोचना—५३, ९२, १५८, १६४, १६८, २२८, २३६, २४४, २४५।

व

वं—८५, १०४, १५८।
वज्जिपुत्तक—४२।

वज्र—५८, ५९, ६६, ८१, ८४, ८५, ९५, १०८-१०९, १२०, १२१, १३८, १४५, १४७, १५०, १५७, १६४, १६५, १६९, १७३, १७७, १७९, १८०, २१२, २१३, २१७-२२०, २२६, २२८-२२९, २३३, २४४, २४५; कन्या—६७, ८४, १७५, २३०, २३५; कपाल—६६, १६३, २३१, २३५; कपालयोग—६८, १६३, १७६, १८०; कपालतंत्र टीका—३४; कापालिक—२१०, २४०; काय—५७, ८८, १५७; काया—१६८; कुल—१६८, २३१; कुलकन्या—१७३; गर्भ—१६८, २३२; गीति—३०, १६४, १७३; गुरु—१४३, १४६; घंटा—२५, २७, १४५; चर्या—१७७; जाप—१६१, १६७, १७९, १८९, २०९, २४०; डाक—२४५; डाकिनी—२२६, २३८, २३९, २४५; तारासाधन—८०; देह—६९, १६८; धर—५३, ६१, ६८, ७०, ९५, १०५, १०७, १०८-११०, १४२, १५०, १५८, १७३, १७८, २१०, २१६, २३६, २४०, २४३; धरनाथ—१०९; धात्वीश्वरी—२४४, २४६; पाणि—५३, १३८, २४३, २४४; पाश—२२७; प्रबोध—१६७; मणि—१५६; मार्ग—५३, १४०, १७८; माला—२१८।

वज्रयान—६, ८, १०, ११, ३२, ४२, ४६, ४७, ४८, ५१, ५२, ५४, ५६-५९, ६१, ६९, ७३, ८१-८३, ८५, ८८-९०, ९१, ९२, ९७, १०७, ११०, ११३, ११९-१२७, १३६, १३८, १३९, १४५, १४९, १५०, १५१, १५५, १५९, १६५, १६६, १७३, १७४, १८५, १९६, १९८, २३८, २४२।

वज्रयोग—१४२, १५५, १५७, १५९, १६७।

वज्रयोगिनी—२२०, २२६, २४५।

वज्रवनिता—१९१, २११।

वज्रवाराही—६६, १०८, १५१, १७४, २२६, २२९, २४५, २४६।

वज्रवेताली—२४६।

वज्रसत्त्व—५३, ७०, ८१, ८५, ८६, ८७, ८८, १२४, १५५, १८०, १८७, १८८, २०७, २१०, २२१, २४३।

वज्रहस्ता—२२९।

वज्रा—१६५, १७८, २३८, २३९।

वज्राचार्य—१४०, १४१, १४६, १५०; पूजा—५३।

वज्रानंग—५२।

वज्राब्जसंयोग—१७९, १८४, १८७, १८९, १९२, १९३।

वज्रावली—३, ३२, ८१।

वज्री—१०७, १७८, २३७, २३९।

वराहमिहिर—६४।

वर्ण—१११, १५०, १५२, १६६, १८०, १८१, १८८, २०७, २४२, २४४; व्यवस्था—२०७; रत्नाकर—३।

वर्णाधिप—१८१।

वसंत—९८; तिलक—३०, ८१, ९७, ९८, १०३।

वसुधारा—२४७।

वसुधारिणी—२१८, २१९।

वसुबंधु—८७, १३४।

वाक्—६३, ८६, ९४, ९५, १०८, ११०, ११४, ११६, १४५, १५९, १६५, १६९, १७२, १८९, १९२, २११, २२०, २२१, २२४; योग—१३६; वज्र—२२०।

वाणभट्ट—६४, ६५।

वाद्य—७०।

वाम—८४, १५९, १६७, १६८, १६९, १७९, १८४, १८५, १९७, २३६; मार्ग—१०, ६०।

वामांगुष्ठनिपीडन—१७९।
वामाचार—४९, ५८, ८९-९१, ११७, १२४-१२६, १५४, १७४-१७६, १७७।
वामाचारी—१६, ६३, ११८, १७३, १७६, २०३।
वाराही—१५, १६, ८३, ८५, ९८, ११०; तंत्र—३६
वारियोगिनी—२३८।
वारिहस्ता—२२९।
वारी—१८१, २३९।
वाहन—१५२।
विकल्प परावृत्ति—४३।
विकालरात्री—२२४।
विघ्नांतक—५३।
विचार—१२८।
विजयपा—२५, २७।
विजयिनी—२१८।
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि—८७, १२७।
विज्ञान—४६, ७४, ७५, १३८, १५०, १९०, २१०, २४०, २४२, २४४, २४५; वाद—३८, ४६, ७४, ७७, ७८, ८१, ८७, १००, १३१, १३२; वादी—७४, १००, १०३, १०४, १०७, १३०।
विज्ञानाद्वयवाद—७६।
विज्ञानाद्वैत—७५।
वितर्क—१२८।
विद्या—१४६; धरपिटक—४४; व्रत—१४६।
विनयश्री—७।
विपश्यना—१३१।
विपाक—१८१।
विबुद्ध—१६६।
विभूतिचन्द्र—२१।
विमलप्रभा—५५।
विमला—७८।
विमुक्तिज्ञान—१९८।
विमुक्तिमंजरी—२९।
विमोक्ष—१३१, १५५, १५७, १५९।
विरति—१२७।
विरमानंद—२०४, २०८।
विराग—१८६, २०७, २१०।
विवाह—७०, १५८, १९२, २१४, २१५।
विवृत—९५, १५५, १७१, २१४।
विशुद्धि—१४७, १५५, १५९, १६७, १७२, १८०, २३७।
विश्व-डाकिनी—२२६; पाणि—२४४; माता—५१; वज्र—१६४; २१७, २१९, २३३; देववाद—१९५; देववादी—१९४।
विषयाभास—२०६।
विष्णु—५४, १६६, २४६; पुराण—५८; स्मृति—६४।
विसुद्धिमग्ग—४१, १२८, १२९।
वीणापा—२६, २७।
वीर—३७, ६७, ७१, ७२, ९८, ११७, ११८, ११९, १२५, १७४, १७९, १८६, २०३, २०७, २०९, २२०, २३३; नाद—६९, १९०, २०९, २४०; भाव—१०, ५४, ११७, ११८, १२५, १२६, १५४, १५६, १६९, १७४, १७६, १८१, १८५, १८६, १९३, २०३।
वीराचार—५४, ७२, ९०, १४४, १४९, १६७, २०७, २०९।
वीर्य—१७४; योग—१७४, १८६।
वेताली—१६४, १८१, २२९, २३२, २३४, २३९।
वेद—९, १०६, ११३, ११४, ११७, १८२, १८५, १८८; प्रामाण्य—५९।
वेदना—१५०, २४४।
वेदांत—३८, ८३, ९४।
वेदाचार—११७।
वैदिक—१२५, १३५; अद्वैतवाद—१११।

वैपुल्य—४३; वादी—४३; सूत्र—४०, १३६, १३७।
वैभाषिक—७४, ९४।
वैमल्यफल—१८१।
वैरोचन—५३, १३१, १३८, १५०, १६६, १६९, २३९, २४४।
वैष्णव—८, ३९, ४०, ४२, ५४, ६०, ११७, ११८, १२१, १२२।
वैष्णवाचार—११७।
व्यंजन—८४, २०९।

श

शंकर दिग्विजय—६३।
शंकराचार्य—७५, ७६।
शंखिनी—१६२।
शक्ति—३६, ४४-४७, ४९, ५२, ५५, ६५, ८१, ८२, ८३, ८५, ८६, ८८, ९०, ९१, ९४, १०८, ११०, ११२, ११९, १२०, १२३, १२५, १३४, १३५, १३८, १३९, १४६, १५१, १५२, १५७, १५८, १५९, १६४, १६७, १७१-१७३, १७४, १७६, १७७, १७९, १८१, १८५, १९४, १९७, २०५, २०६, २०८, २१२, २१३, २४४-२४५; वाद—७३, ११०, १३७।
शक्त्यद्वयवाद—७६।
शबरीपा—१६, २८, ३०, ५६, ७७, १९९, २१४, २२८, २७८, २८१, २८४।
शब्दाद्वयवाद—७६।
शमथ—१३०।
शव—६२, ६३, ६७, ६८, १२९, १५१, १६४, १७६, १७७, २१७, २२५-२२७, २३२, २३४, २४७; मांस—६५।
शवासन—६५।
शशि—९९, १०१, १०४, १८३, १८५, १९०, २०९।
शांकर अद्वैत—९३।
शांतरक्षित—२२, २७, ३९, ५०, ७६।
शांतिदेव—३०, ८०।
शांतिपा—२६, ५०, ७३।
शाक्त—८, ३६, ४०, ६१, ८३, ८६, ८९, ९०, ११०, १२२, १३८।
शाक्तागम—१८४।
शाक्यमुनि—५५।
शालिज—१७७।
शिखामणि—६४।
शिव—२४, २७, ६२, ६४, ६५, ७७, ८३, ८४, ८६, ९१, ११२, ११९, १३५, १३९, १४४, १६६, १७२, १७३, १७४, १९७, २४६।
शिवत्व—१४४, १७२, १७३।
शिवशक्ति-मिथुनपिंड—८३; वाद—१११; समायोग—८३।
शिष्य—१११, १४१, १४२, १४५-१४७, १४९, १७३, १७५, १८३।
शील—४१, ५३, ९०, ९४, ११६, १२७, १२९; व्रतपरामर्श—१३०।
शुक्र—५७, ६८, ८१, ९६, १०३, १०४, ११०, १११, ११६, ११७, १५५, १६८, १६९, १७४, १७६, १८५, १९१, २०३, २०४, २०५, २०७, २१२, २१३, २१५, २१८, २३३; सिद्धि—१८६।
शुक्ल एकजटा—२२५।
शुद्धि—१४५, १४७, १५९; वज्रप्रदीप—३०, ६०।
शुभमेखला—२२३।
शुभा—२१८, २२३।
शून्य—५३, ५४, ८०, ९२, ९५, ९७, १००, १३८, १४३, १४९, १५७, १५९, १६२, १८६, १९२, २०९, २१९, २३९, २४०, २४३; ता—५२, ५५, ७४, ७५, ७७, ७८, ८०, ८१, ८२, ८४, ८५, ८८, ९४, ९८, १०२, १०४-१०६, १२७, १३३, १३५, १४३, १४९, १५९, १६४, १७८,

१८०, १९१, १९७, २०९, २११, २१७, २३२, २३७, २४०, २४२; ता गर्भ—१४१; तावादी—४८; वाद—३८, ४६, ७४, ७५, ८०, १०७; वादी—९३।
शून्याद्वयवाद—७६।
शून्याद्वैत—७५।
शूल—२२७।
शैक्ष—१४१।
शैव—८, १०, ३६, ३८, ३९, ४०, ४२, ५१, ५४, ५५, ६१, ६३, ६४, ६५, ७१, ७२, ७३, ८३, ८६, ८९, ९०, ९३, ११७, १२२, १३३, १९७; कापालिक—१०, ६०, ६१, ६२-६४, ७२, ११०, २२८।
शैवाचार—११७।
श्मशान—१७, ४१, ६०, ६२, ६४-६८, ७०, ९८, १०९, १२८, १२९, १५१, १७३, १७५, १७६, १९२, २०९, २१३, २२४-२२७, २२९-२३१, २३४, २३५, २३६, २३९, २४७; प्रिय—१७६।
श्रावक—९७, १३५, १३७, २३७।
श्रीकालचक्रमूलतंत्र—४९, ५५, १६१।
श्रीधर—५२।
श्रीपर्वत—१५, ४३, ६१, ६५।
श्रीमद्भगवद्गीता—७७।
श्रीसंपुट—१५८।
श्रुति—९, १०, ४१।
श्वास—१९०, २१०, २४०।
श्वेतवर्णा—२१८।

ष

षट्कर्म—३६, ४४, ५२, ५३, ६८, ९०, १३९, १७४।
षट्चक्र—६१।
षडंगयोग—५२, १५५, १६७, १७१।
षोडशकला—१०४, १४३।
षोडश वर्ग—७२।
षोडशी—२०४, २०५; कला—१८८।
षोडशोपचार—१५३।

स

संगीति—१०८, १३६, १३७, २३६, २३९।
संघ—८३, १२८, १४०।
संज्ञा—१४९, २४४।
संदोह-उपसंदोह—९८, १०१।
संधाभाषा—७, ४५, ९०, ९९, १०८, १७७, १९९, २०६, २१०, २३२, २३५।
संध्या—३६; भाषा—७।
संपुटिका—५६।
संबोधि—९५।
संभोगकाय—७७, ८८, ९५, १५७, १५८, १६९; चक्र—९१।
संभोगचक्र—१५७, १६६, १८०, १८१, १८५, १८७, २१३, २२८।
संवर—२३७, २४५।
संविदिवाद—१५९।
संवृत—९५, १०३, ११०, १५५, १७१, १८५, २०५, २०७, २१४।
संवृति—८५, ८६, १८९, २०४।
संसार—४८, ५३, ८३, ८५, ९३, ९४, ९७, ९९, ११२, १२७, १३१, १८३, १८५, २०६, २०९, २१३, २४०।
संस्कार—३७, १५०, २४४।
संहार भैरव—६३, १७२।
सकृदागामी—४१, ९१, १२७, १३०, १३८।
सगुण—८४, १९६।
सत्ता—७६, १९५।
सत्य—७४, ७६, ८२, १३३, १५६, १७१, १८९, १९६, २११; चतुष्टय—६८, १७६।
सत्त्व—८५, ११८।
सदाचार—५३।
सदाशिव—७७।
सद्धर्म—१३६; पुंडरीक—४२, ४५, १३४, १३६, १३७।

सप्ताक्षर—१४५।
सप्ताचार—१०, १४६।
समंतभद्र—२४३, २४४।
समय—११६, १४१, १५०, २३१, २३२, २३४, २४४; तारा—५३; मुद्रा—९२, १८७; वज्रपाद—१७८।
समयी—११६, २३८।
समरस—८१, ८६, ८७, १०६, १०७, १०८, १८४, १८६, १८८, १९७।
समाधि—४१, ४२, ४४, १२७, १२८, १२९, १३०, १३२, १३५, १३७, १४४, १६३, १७९, १८०, १९६, २३७; भाषा—१०।
समापत्ति—१३१, १८१।
समाहितयोग—१६२।
सम्यक् संबुद्ध—१३५।
सम्यक् संबोधि—७८।
सरस्वती—४६, ५१, १३४।
सरहपाद—३, ४, ५-७, ११, २२, २५, २७, ३४, ४७, ५०, ५१, ६०, ६१, ६६, ६९, ७१, ७२, ८७, ९२, ९३, ९४, ९५, ९८, १००-१०३, १०७, ११२-११६, १२४, १३९, १४२-१४३, १४७, १४८, १५१, १६३, १६५, १७२, १८२-१८४, १९८, २१६, २२२, २२८।
सरोजवज्र—५।
सर्व—१६६; धर्मप्रकृति—९६; धर्मा-प्रतिष्ठानवाद—७९; भक्षपा—२६।
सर्वात्मवाद—१९५।
सर्वास्तिवाद—१५९।
सस्क्य विहार—३, १३।
सहज—७, ५१, ५६-६०, ७०, ८६, ८९, ९६, ९९, १०१, १०६, १०७, ११४, ११५, १२०-१२२, १२४, १४३, १५८, १७७, १८०, १८३, १८६, १८८, १९२, १९७, १९९, २०५, २०८, २३८, २४०; काय—४५, ५७, ७९, ८८, १०१, १५७, १८५; तनु—५८, १००; प्रेम—५८; यान—११, ४७, ४८, ५४, ५६-५९, ६१, ७३, ८८-९०, ९६, १०६, ११९-१२७, १३६, १४९, १६३, १९७, १९८; योग—१६३; योगिनी चिन्ता—२५, ५२; संवर ज्ञान—५१; सिद्धि—५८; सुंदरी—५८, १६१, १७१; सुख—५८, ९२, २११।
सहजानंद—५८, ५९, ६७, ८४, ८७, १०१, १०२, १०४, १०८, १८६, २१३, २१५, २३३।
सहजापद्धति—६४।
सहजामृत रस—५८, ९२, ११४, १४२।
सहजाम्नाय—५१, १२१; पंजिका—१०५।
सहजावस्था—५८।
सहजिया—५०, ५७, ५९, १२२, १२४।
सहस्रार—९१, १४४, १५७।
सांख्य—८३।
सांवृतिक—७४, १३२, १७१, १८०, १९१, २०५, २१२।
साकारवादी—७९।
सात्विक—१६६; साधन—११८।
साधन—४९, ६२, ८०, ११६, १५९; माला—६, ८, ४०, ४४, ५१, ५३, ६२, ७१, ८०, ८५, १०९, १२२, २२५, २४२; समुच्चय—५१।
साधुमती—४४, ७८।
सार्थोद्ग्रह परावृत्ति—४३।
सास—१९०, २१०।
सिद्ध—३, १०, १७-१९, २१, २२, ३०, ४९, ५०, ५८, ६९, ७३, ७८, ९१, १००, १२०, १२४, १३०, १४१, १८२, १८८, १९९, २३१; पीठ—१५; सूची—३, ५०।
सिद्धांताचार—११७, १२६।
सिद्धार्थक—४३।
सिद्धि—१५, १७, ४१, ४२, ४४, ५१-५३,

६०, ९४, १०३, १०६, १३७, १३८, १४५-१४८, १५५, १८४, १८६, १८८, १९०, २०५, २३०, २३२, २३८, २४३।
सिल्हक—१७७, २३३, २३८।
सुंदरा—२२४।
सुंदरी—२१८, २२४।
सुख—१२८, १८४, १८५, १८६, १९२-१९३, १९६-१९८, २०४-२०५, २०७-२०८, २१०-२१३, २३०, २४०; राज—८७।
सुखावती—१३४।
सुगत—२४०।
सुदुर्जया—७८।
सुभगा—२१८, २१९, २२४।
सुभाषितसंग्रह—६।
सुमालिनी—२१७, २१९, २२३।
सुरक्षिणी—२२३।
सुरत—१८१, १८६, २१५; वीर—१८६।
सुवर्णप्रभाससूत्र—१३४।
सुषुम्ना—८४, १५९, १६२, १९७।
सूत्रालंकार—१२७, १३०, १९९।
सूर्य—८४, ८५, १०२, १०५, १६१, १६८, १८०, १८३, १८५, १८७, १८९, २०९, २१५, २२८, २४०।
सृष्टि—१५०, २४३।
सेक—९०, १४२, १४५, १४६, १४७, १५६, १५७, १५९, १७४, १७८।
सेकोद्देशटीका—५५, ८१, ८८, १५७, १६२।
सेवा—५५, १५९, २२८।
सोम—६२, १६९; सिद्धांत—६२, ७२।
सौत्रांतिक—७४, ७९, ९४, १३६।
सौदामिनी—६१।
स्कंध—७५, ७८, १०५, १४९, १५०, १५५, १६५, १६७, १९१, १९२, २०७, २४२, २४४, २४५, २४६; विज्ञान—१०३।
स्तूप—३९, १३४, १४१, १५२।
स्तोत्र—४६।
स्थविरवाद—१५९।
स्थूल—१६९।
स्पंद—१५६।
स्फूर्ति—१४९।
स्मार्त्त—११८।
स्मृति—८४, ११८।
स्रोतापन्न—४१, ९१, १२७, १२९, १३०, १३८।
स्वभाव—९६; काय—८८।
स्वर—८४, १६०, १६८।
स्वर्ग—१८९।
स्वसंवेदन—१०१, १०६, ११२, ११४, १३३, १९८, १९९।
स्वसंवेद्य—१०७, ११३, ११४, १७८।
स्वाधिष्ठानकुरुकुल्ला—२२५।
स्वाधिष्ठानक्रम—५९।

ह

हंकार—१६८।
हठयोग—५२, १२१, १२२, १२३, १३८, १५४, १६२, १७१, १९०, २१२; प्रदीपिका—२१२।
हयग्रीव—२४५।
हरिभद्र—२७, ५०।
हरिवर्मन—७२।
हर्षचरित—६५।
हर्षवर्धन—६५।
हवन—३७।
हाड़ी सिद्ध—१४, १७।
हारीत—४१।
हिन्दू—४०, ७७, १११, १५३, १९६, १९७, २१२; तंत्र—३७, ३८, ४१, ५६, ८४,

८६, ९०, ११२, १२५, १५७, १५९, १९७, २३९; देवता—२४७।
हीनयान—४२, १९६, १९८।
हुंकार—९७, २१७।
हूँकारचित्त-बिन्दुभावनाक्रम—२९।
हे—१७७।
हेरुक—१७, ६०, ६२, ६८, ७१, ७२, ८३, ८५, ९१, १०९-११०, १५१, १५३, १५८, १६३, १६४, १७३, १७४, १७६, १७८, १८१, १९०, १९७, २०५, २१०, २१७-२१९, २२०, २२३, २२४, २२६, २२९, २३०, २४०, २४५; काय—९८; तंत्र—१०९; योग—६७, १६३।
हेवज्र—६६, ७०, ७२, ९४, ९५, १०४, १०६, १०८, १०९, १४८, १६३, १६८, १७३-१७५, १७७, १८०, १८६, १९७, २३०, २३४; तंत्र—३, ६, ८, ११, २२, २३, २९, ३०, ३२, ५०, ५१, ६०, ६१, ६६-६९, ७१, ८१, ८२, ८४, ८६, ८९, ९२-९५, ९६-९८, ९९, १०३, १०४, १०७-१०९, १३७, १४२, १४३, १४७, १४८, १५१, १५४, १६२-१६८, १७२-१७८, १८२, १८४-१८७, १९०, १९१, १९३, १९५, १९८, २०५, २०६, २२८, २३६, २३९, २४५; पंजिका—१२, १३, २४, ३०, ३२, ६०, ६६, २३५; पिंडार्थदीपिका—१६६; साधन—२९, ३०, ३२, ६१, ६२, ६६, ९४।
होम—५७, ११६, १७९, १८२, १८८, २३१, २३७।
ह्वेन्त्सांग—६४।

क्ष

क्षण—१०७, ११४, १५७-१५८, १६६, १८८, १२८।
क्षीरस्वामी—६४।
क्षेत्र-उपक्षेत्र—९८, १०१।

त्र

त्रि-काय—७५, ८०, ८१, १०२, १३६, १६२; कोण—१७०; धातु—२०३, २४६; पुंड्र—६२; भव—६६, ८३; रत्न—८६, ९१, १३५, २१५; शरण—१७९; शूल—१८१, २४६, २४८।

ज्ञ

ज्ञान—६३, ८५, १०६, १०७, ११०, ११४, ११६, १३२, १४४, १४५, १५६, १६३, १६७, १७०, १७९, १८५-१८७, १९१, १९४-१९६, १९९, २१२, २१७, २२४, २२८; गुप्त—१७, २१; मुद्रा—७०, ८९, १०२, १८८, १९२, २१५, २१६; सिद्धि—६, ५१, ५३, ८०, ८२, ८४, ८७, ८९, १३८।
ज्ञानानंद—१०६।

गोरखनाथ

नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

गोरखनाथ एक ऐसा नाम है जो समग्र भारतीय समाज, धर्म और साहित्य में समान भाव से चिरपरिचित और सम्मान्य है। प्राय: सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यों में इनसे सम्बन्धित रचनाएँ मिल जाएँगी। उनके शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा में भरथरी, गोपीचंद्र, मयनामती आदि से सम्बन्धित प्रभूत लोक-गाथाएँ उपलब्ध हैं। ये सब गोरखनाथ और उनके सम्प्रदाय की लोकप्रियता और महत्ता के प्रमाण हैं।

गोरखनाथ नवीं शती के उदारचेता, कर्मठ, संगठनकर्त्ता, समाजोद्धारक, लोक-रक्षक, योगसाधना के विशिष्ट पुरस्कर्ता महासिद्ध थे। बौद्धों और शैवों में ही नहीं, शाक्तों और कापालिकों में तथा भोटिया साहित्य में भी इनकी महनीयता स्वीकृत है। भारत के सुदूरवर्ती क्षेत्रों तक की यात्रा करके उन्होंने शैवों का संगठन ही नहीं किया अपितु दलित, पीड़ित और उपेक्षित जनसमाज का उद्धार भी किया। साथ ही, मानवता का संदेश देकर तत्कालीन समाज को स्वस्थ, सबल, चारित्रिक आदर्श के मार्ग पर अग्रसर किया जिस पर चलने के लिए सभी वर्गों और धर्मों के अनुयायियों के लिए द्वार उन्मुक्त था। निस्सन्देह तत्कालीन भारतीय समाज के महनीय धार्मिक, साधनात्मक और चिन्तक मनीषी के रूप में शंकराचार्य के बाद गोरखनाथ का नाम लिया जा सकता है।

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने नाथ सम्प्रदाय और परवर्ती बौद्ध सम्प्रदायों का शोधपूर्ण अध्ययन किया है। इस सम्बन्ध में जो भी सामग्री उपलब्ध है, उसका उन्होंने बड़ी सावधानी से निरीक्षण किया है। गोरक्षनाथ के नाम से प्रचलित भाषा-रचनाओं पर तो उन्होंने विशेष परिश्रम किया है। गोरक्षनाथ अपने काल के परम शक्तिशाली महात्मा थे। उनकी रचनाओं के जो रूप उपलब्ध हैं, वे भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं।

लेखक ने सभी शैलियों की रचनाओं का उत्तम विवेचन किया है। रचना-पद्धति और काव्यशैली की दृष्टि से गोरक्षनाथ की रचनाओं में अनेक रूप मिलते हैं।

डॉ० नागेन्द्रनाथ ने अध्यवसायपूर्वक प्रामाणिकता के साथ नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में गोरखनाथ पर यह अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस विषय का यह प्रामाणिक ग्रन्थ है।

ISBN : 81-7124-430-0 पृष्ठ : 260 मूल्य : 250.00 रुपये

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com

ISBN: 978-81-7124-684-7
Rs. 300

www.vvpbooks.com